जैनमित्रके १६ वें वर्षका उपहार।

श्रीवीतरागाय नमः।

आराधना-कथाकोश।

दूसरा भाग।



ब्रह्मचारी नेमिदत्तके संस्कृत आराधना-कथाकोशका
स्वतंत्र हिन्दी अनुवाद।

अनुवादक—

उदयलाल काशलीवाल।

प्रकाशक—

जैनमित्र कार्यालय, हीराबाग।

द्वि० वैसाख वीरनिर्वाण २४४१।

प्रथम संस्करण }
प्रति २००० }

{ मूल्य सादी जि० १।=)
{ कपड़ेकी जि० १॥)

Printed by G. N. Kulkarni, at the Karnatak Press,
No 7, Girgom Back Road
And
Published by Jain-Dharm-Bhushan Brahmachari Sital
Prasad Jain, Hirabag-Bombay.

कथाओंकी सूची।



आराधना-कथाकोश।

दूसरा भाग.

२५—मृगसेन धीवरकी कथा।



केवल ज्ञानरूपी नेत्रके धारक श्रीजिनभगवान्को सभक्ति प्रणाम कर मैं एक अहिंसाव्रतका फल पाये हुए धीवरकी कथा लिखता हूं। वह सबके लिये सुखकी कारण होगी।

वह जिनभगवान्की वाणी संसारमें सदा काल रहे, जो सब सन्देहोंके मिटानेवाली और प्रीतिपूर्वक आराधना की हुई प्राणियोंके लिये सब सुखोंकी देनेवाली है।

वे ज्ञानके समुद्र मुनिराज निरन्तर मेरे हृदयमें विराजें, जो संसाररूपी अथाह समुद्रसे भव्य पुरुषोंको पार करनेके लिये पुलकी तरह हैं।

इस प्रकार पंचपरमेष्ठीका स्मरण और मंगल करके कर्मरूप शत्रुओंके नष्ट करनेको मैं अहिंसाव्रतकी पवित्र कथा लिखता हूं। जिस अहिंसाका नाम ही जीवोंको

जीवन देनेवाला है, तब उसका पालन करना तो निस्सन्देह सुखका कारण है। इसलिये दयालु पुरुषोंको मन, वचन और कायसे संकल्पी हिंसाका परित्याग करना उचित है। बहुतसे लोग अपने मृत पिता आदिकी शान्तिके लिये श्राद्ध वगैरहमें हिंसा करते हैं, बहुतसे देवताओंको सन्तुष्ट करनेके लये उन्हें जीवोंकी बलि देते हैं, और कितने महामारी आदिके मिट जानेके उद्देश्यसे जीवोंकी हिंसा करते हैं; परन्तु यह हिंसा सुखके लिये न होकर दुःखके लिये ही होती है। हिंसा द्वारा जो सुखकी कल्पना करते हैं, उनका वह अज्ञान है–पापकर्म कभी सुखका कारण हो ही नहीं सकता। सुख है अहिंसाव्रतके पालन करनेमें। आप सुनें, मैं अहिंसाव्रतके माहात्म्यकी एक कथा आपको सुनाता हूं, जो संसारका भ्रमण नष्ट कर सुखकी देनेवाली है।

सुरम्य और अपनी उत्तम सम्पत्तिसे स्वर्गको नीचा दिखानेवाले अवन्तिदेशके अन्तर्गत शिरीष नामका एक छोटासा पर बहुत सुन्दर गाँव था। उसमें एक मृगसेन नामका धीवर (भोई) रहा करता था। वह एक दिन अपने कन्धोंपर एक बड़ा भारी जाल लटकाये हुए जीवोंको मारनेके लिये सिप्रा नदीकी ओर जा रहा था। रास्तेमें उसे एक यशोधर नामके मुनिराजके दर्शन हुए। उस समय अनेक राजा महाराजा–आदि उनके पवित्र चरणोंकी पर्युपासना कर रहे थे, वे जैनसिद्धान्तके मूल रहस्य स्याद्वादके बहुत अच्छे विद्वान् थे, जीवमात्रका उद्धार करनेके लिये वे सदा कमर कसे तैयार रहते थे–जीवमात्रका उपकार करना ही एक

मात्र उनका व्रत था, धर्मोपदेशरूपी अमृतसे सारे संसारको उन्होंने सन्तुष्ट कर दिया था, अपने वचनरूपी प्रखर किरणोंके तेजसे उन्होंने मिथ्यात्वरूपी गाढ़ान्धकारको नष्ट कर दिया था, उनके पास वस्त्र वगैरह कुछ नहीं थे, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी इन तीन मौलिक रत्नोंसे वे अवश्य अलंकृत थे। मुनिराजको देखते ही उसके कोई ऐसा पुण्यका उदय आया, जिससे उसके हृदयमें कोमलताने अपना अधिकार किया। वह कंधेपरसे जालको एक ओर रखकर मुनिराजके पास गया और बड़ी भक्तिके साथ उनके चरणोंको प्रणामकर उसने उनसे प्रार्थना की—हे स्वामी, हे कामरूपी हाथीके नष्ट करनेवाले केसरी, कोई ऐसा व्रत मुझे भी प्रदान कीजिये, जिससे मेरा जीवन सफल हो। यह कहकर और विनय-विनीत मस्तकसे वह मुनिराजके पास बैठ गया। मुनिराजने उसकी ओर देखकर विचारा—यह महाहिंसक और आज एका एक ही इसके परिणाम कितने कोमल हो गये। सच है—

युक्तं स्यात्प्राणिनां भावि शुभाशुभनिभं मनः।

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्—आगे जैसा अच्छा या बुरा होना होता है, जीवोंका मन भी उसी अनुसार पवित्र या अपवित्र बन जाता है। अर्थात् जिसका भविष्यत् अच्छा होता है, उसका मन पवित्र हो जाता है और जिसका बुरा होनहार होता है उसका मन भी बुरा हो जाता है। इसके बाद मुनिराजने अवधिज्ञान द्वारा मृगसेनकी आगेकी जिन्दगीपर जब विचार

किया, तव उन्हें जान पड़ा कि उसकी आयु अव वहुत थोड़ी रह गई है। यह देख उन्होंने करुणाबुद्धिसे उसे समझाया कि भव्य, मैं तुझे एक वात कहता हूं, तू उसे जवतक जीये तबतक पालन करना। वह यह कि, तेरी जालमें पहली वार जो जीव आवे उसे तू छोड़ देना और इस तरह जवतक तेरे हाथसे मरे हुए जीवका मांस तुझे प्राप्त न हो, तवतक तू पापसे निर्मुक्त ही रहेगा। इसके सिवा मैं तुझे एक मंत्र सिखाता हूं, जो जीवमात्रका हित करनेवाला है, उसका तू सुखमें दुःखमें, सरोग या निरोग अवस्थामें सदा ही ध्यान करते रहना। इस प्रकार मुनिराजके स्वर्ग-मोक्षके देनेवाले वचनोंको सुनकर मृगसेन वहुत प्रसन्न हुआ और उनके कहे अनुसार उसने व्रत भी स्वीकार किया। जो भक्तिके साथ अपने गुरुओंके वचनोंको मानते हैं–उनपर विश्वास लाते हैं, उन्हें सव सुख मिलता है और फिर वे परम्परा मोक्ष भी लाभ करते हैं।

व्रत लेकर मृगसेन नदीपर गया। उसने नदीमें जाल डाला। भाग्यसे एक वड़ा भारी मत्स्य उसके जालमें पड़ गया। उसे देखकर उसने विचारा–हाय! मैं निरन्तर ही तो महापाप करता हूं और आज गुरु महाराजने मुझे व्रत दिया है और भाग्यसे आज ही ऐसा वड़ा मच्छ जालमें आ फँसा। पर जो कुछ हो, मैं तो इसे कभी नहीं मारूंगा। यह सोचकर व्रती मृगसेनने अपने कपड़ेकी एक चिन्दी फाड़कर उस मत्स्यके कानमें इसलिये वाँधदी कि यदि वही मच्छ दूसरी वार जालमें आ जाय तो मालूम हो जाय। इसके वाद वह उसे वहुत दूर जाकर नदीमें छोड़ आया।

सच है–निर्विघ्न आमृत्यु पर्यन्त पालन किया हुआ व्रत सब प्रकारकी उत्तम सम्पत्तिका देनेवाला होता है।

वह फिर दूसरी ओर जाकर मछलियाँ पकड़ने लगा। पर भाग्यसे अबकी बार भी वही मच्छ उसकी जालमें आया। उसने उसे फिर छोड़ दिया। इसी तरह उसने जितनी बार जाल डाला उसमें वही वही मत्स्य आया, पर उससे वह खेदित न होकर अपने व्रतकी रक्षाके लिये खूब दृढ़ हो गया। उसे वहाँ इतना समय हो गया कि सूर्य भी अस्त हो चला, पर उसके जालमें उस मत्स्यको छोड़कर और कोई मत्स्य नहीं आया। अन्तमें मृगसेन निरुपाय होकर घरकी ओर लौट पड़ा। उसे अपने व्रतपर खूब श्रद्धा हो गई। वह रास्तेमें गुरु महाराज सिखाये मंत्रका स्मरण करता हुआ चला आया। जब वह अपने घरके दरवाजेपर पहुँचा और उसकी स्त्रीने उसे सूने हाथ देखा, तब वह कड़क कर उससे बोल उठी–रे मूर्ख! घरपर सूने हाथ तो चला आया, पर बतला तो सही कि खायगा क्या पत्थर? यह कहती हुई वह घरमें चली गई और भीतरसे उसने किवाड़ बन्द कर लिये। सच है-छोटे कुलशीलकी स्त्रियोंका अपने पतिपर प्रेम लाभ होते रहनेपर ही अधिक होता है। अपनी स्त्रीका इस प्रकार दुर्व्यवहार देखकर बेचारा मृगसेन किंकर्त्तव्यमूढ़ हो गया। उसकी कुछ नहीं चली। उसे घरके बाहर ही रह जाना पड़ा। वहीं एक पुराना बड़ा भारी लकड़ा पड़ा हुआ था। मृगसेन निरुपाय होकर पंचनमस्कारमंत्रका ध्यान करता हुआ उसी पर सो रहा।

रातके समय वह तो भरनींदमें सोया हुआ था कि उस लक्कड़ेमेंसे एक बड़े भारी भयंकर और जहरीले सर्पने निकल कर उसे काट खाया। वह उसी समय मर गया।

प्रातःकाल हुआ। उसकी स्त्रीने अपने पतिकी जब दुर्दशा देखी तो उसके दुःखका कुछ ठिकाना नहीं रहा। वह रोने लगी, छाती कूटने लगी और अपने नीच कर्मका वारवार पश्चात्ताप करने लगी। उसका दुःख शान्त न होकर बढ़ता ही गया। उसने यह प्रतिज्ञा करके, कि जो व्रत मेरे स्वामीने ग्रहण किया था वही मैं भी ग्रहण करती हूं, और निदान किया–"ये ही मेरे अन्य जन्ममें भी स्वामी हों।" इसके बाद वह साहस करके अपने स्वामीके साथ अग्निप्रवेश कर गई–अपघातसे उसने अपनी जान गवाँदी।

विशाला नामकी नगरीमें विश्वंभर राजा राज करते हैं। उनकी प्रियाका नाम विश्वगुणा है। वह राजाकी अत्यन्त प्यारी है। वहीं एक सेठ रहता है। उसका नाम गुणपाल है। उसकी स्त्रीका नाम धनश्री है। धनश्रीकी एक कन्या है। उसका नाम सुवन्धु है। वह सुन्दरी और गुणवती है। पुण्यके उदयसे मृगसेन धीवरका जीव धनश्रीके गर्भमें आया।

अपने नर्मभर्म नामक मंत्रीके अत्यन्त आग्रह और प्रार्थनासे राजाने गुणपालसे आग्रह किया कि वह मंत्रीपुत्र नर्मधर्मके साथ अपनी पुत्री सुवन्धुका ब्याह करदे। यह देखकर गुणपालको बड़ा दुःख हुआ। उसके साम्हने एक अत्यन्त कठिन समस्या उपस्थित हुई। उसने विचारा, कि पापी

राजा, मेरी प्यारी सुन्दरी सुवन्धुका, जो कि मेरे कुलरु वगीचेपर प्रकाश डालनेवाली है, नीच कर्म करनेवाले नर्मधर्मके साथ व्याह कर देनेको कहता है। उसने इस समय मुझे बड़े संकटमें डाल दिया। यदि सुवन्धुका नर्मधर्मके साथ व्याह कर देता हूं, तो मेरे कुलका क्षय होता है और साथ ही अपयश होता है और यदि नहीं करता हूं, तो सर्वनाश होता है—राजा न जाने क्या करेगा? प्राण भी बचे या नहीं बचे? आखिर उसने निश्चय किया कि जो कुछ हो, पर मैं ऐसे नीचोंके हाथ तो कभी अपनी प्यारी पुत्रीका जीवन नहीं सौंपूंगा—उसकी जिन्दगी बरबाद नहीं करूंगा। इसके बाद वह अपने श्रीदत्त मित्रके पास गया और उससे सब हाल कह कर तथा उसकी सम्मतिसे अपनी गर्भिणी स्त्रीको उसीके घरपर छोड़कर आप रातके समय अपना कुछ धन और पुत्रीको साथ लिये वहांसे गुपचुप निकल खड़ा हुआ। वह धीरे धीरे कौशाम्वी आ पहुँचा। सच है— दुर्जनोंके सम्वन्धसे देश भी छोड़ देना पड़ता है।

श्रीदत्तके घरके पास ही एक श्रावक रहता था। एक दिन उसके यहाँ पवित्र चारित्रके धारक शिवगुप्त और मुनिगुप्त नामके दो मुनिराज आहारके लिये आये। उन्हें श्रावक महाशयने अपने कल्याणकी इच्छासे विधिपूर्वक आहार दिया, जो कि सर्वोत्तम सम्पत्तिकी प्राप्तिका कारण है। मुनिराजको आहार देकर उसने बहुत पुण्य उत्पन्न किया, जो कि दुःख दरिद्रता—आदिका नाश करनेवाला है। मुनिराज आहारके बाद जब वनमें जाने लगे तब उनमेंसे मुनिगुप्तकी

नजर धनश्रीपर पड़ी, जो कि श्रीदत्तके आँगनमें खड़ी हुई थी। उस समय उसकी दशा अच्छी नहीं थी। बेचारी पति और पुत्रीके वियोगसे दुःखी थी, पराये घरपर रह कर अनेक दुःखोंको सहती थी, आभूषण वगैरह सब उसने उतार डालकर शरीरको शोभाहीन बना डाला था, कुकविकी रचनाके समान उसका सारा शरीर रूक्ष और श्रीहीन हो रहा था और इन सब दुःखोंके होनेपर भी वह गर्भिणी थी, इससे और अधिक दुर्व्यस्थामें वह फँसी थी। उसे इस हालतमें देखकर मुनिगुप्तने शिवगुप्त मुनिराजसे कहा–प्रभो, देखिये तो इस बेचारीकी कैसी दुर्दशा हो रही है–कैसे भयंकर कष्टका इसे साम्हना करना पड़ा है? जान पड़ता है इसके गर्भमें किसी अभागे जीवने जन्म लिया है, इसीसे इसकी यह दीन हीन दशा हो रही है। सुनकर जैनसिद्धान्तके विद्वान् और अवधिज्ञानी श्रीशिवगुप्त-मुनि बोले–मुनिगुप्त, तुम यह न समझो कि इसके गर्भमें कोई अभागा आया है; किन्तु इतना अवश्य है कि इस समय इसकी अवस्था ठीक नहीं है और यह दुःखी है; परंतु थोड़े ही दिनोंके बाद इसके दिन फिरेंगे और पुण्यका उदय आवेगा। इसके यहाँ जिसका जन्म होगा, वह बड़ा महात्मा, जिनधर्मका पूर्ण भक्त और राजसम्मानका पात्र होगा। होगा तो वह वैश्यवंशमें पर उसका ब्याह इन्हीं विश्वंभर राजाकी पुत्रीके साथ होगा–राजवंश भी उसकी सेवा करेगा।

मुनिराजकी भविष्य वाणी पापी श्रीदत्तने भी सुनी। वह था तो धनश्रीके पति गुणपालका मित्र, पर अपने एक जातीय बन्धुका उत्कर्ष होना उसे सह्य नहीं हुआ–उसका पापी हृदय

मत्सरताके द्वेषसे अधीर हो उठा। उसने वालकको जन्मते-ही मार डालनेका निश्चय किया। अवसे वह वाहर कहीं न जाकर वगुलेकी तरह सीधा साधा वनकर घरहीमें रहने लगा। सच है—

कारणेन विना वैरी दुर्जनः सुजनो भवेत्।

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्—दुर्जन-शत्रु विना कारणके भी सुजन—मित्र वन जाया करते हैं। सो पहले तो श्रीदत्त वेचारी धनश्रीको कष्ट दिया करता था और अव उसके साथ वड़ी सज्जनताका वर्ताव करने लगा। धनश्री सेठानीने समय पाकर पुत्र प्रसव किया। वास्तवमें वालक वड़ा भाग्यशाली हुआ। वह उत्पन्न होते ही ऐसा तेजस्वी जान पड़ता था, मानो पुण्यसमूह हो। धनश्री पुत्रकी प्रसव वेदनासे मूर्छित हो गई। उसे अचेत देखकर पापी श्रीदत्तने अपने मनमें सोचा—वालक प्रज्वलित अग्निकी तरह तेजस्वी है, अपनेको आश्रय देनेवालेका ही क्षय करनेवाला होगा, इसलिये इसका जीता रहना ठीक नहीं। यह विचार कर उसने अपने घरकी वड़ी वूढ़ी स्त्रियों द्वारा यह प्रगट करवा कर, कि वालक मरा हुआ पैदा हुआ था, वालकको एक भंगीके हाथ सौंप दिया और उससे कह दिया कि इसे लेजाकर ही मार डालना। उचित तो यह था कि—

शत्रुजोपि न हन्तव्यो वालकः किं पुनर्वृथा।
हा कष्टं किं न कुर्वन्ति दुर्जनाः फणिनो यथा।

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्—शत्रुका भी यदि वचा हो, तो उसे नहीं मारना चाहिये, तव दूसरोंके वचोंके सम्वन्धमें तो क्या कहें? परन्तु खेद

है कि सर्पके समान दुष्ट पुरुष कोई भी बुरा काम करते नहीं हिचकते। चाण्डाल बच्चेको एकान्तमें मारनेको ले गया, पर जब उसने उजेलेमें उसे देखा तो उसकी सुन्दरताको देखकर उसे भी दया आ गई–करुणासे उसका हृदय भर आया। सो वह उसे न मारकर वहीं एक अच्छे स्थानपर रखकर अपने घर चला गया।

श्रीदत्तकी एक बहिन थी। उसका ब्याह इन्द्रदत्त सेठके साथ हुआ था। भाग्यसे उसके सन्तान नहीं हुई थी। बालक-के पूर्व पुण्यके उदयसे इन्द्रदत्त माल बेचता हुआ इसी ओर आ निकला। जब वह गुवाल लोगोंके मोहल्लेमें आया तो उसने गुवालोंको परस्पर बातें करते हुए सुना कि " एक बहुत सुन्दर बालकको न जाने कोई अमुक स्थानकी सिला-पर लेटा गया है, वह बहुत तेजस्वी है, उसके चारों ओर अपनी गायोंके बच्चे खेल रहे हैं और वह उनके बीचमें बड़े सुखसे खेल रहा है।" उनकी बातें सुनकर ही इन्द्रदत्त बालकके पास आया। वह एक दूसरे बाल सूर्यको देखकर बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसके कोई सन्तान तो थी ही नहीं, इसलिये बच्चेको उठाकर वह अपने घर ले आया और अपनी प्रियासे बोला–प्यारी राधा? तुम्हें इसकी खबर भी नहीं कि तुम्हारे गूढ़गर्भसे अपने कुलका प्रकाशक पुत्र हुआ है? और देखो वह यह है! इसे ले ओ और पालो। आज अपना जीवन कृतार्थ हुआ। यह कहकर उसने बालकको अपनी प्रियाकी गोदमें रख दिया। बालककी खुशीके उपलक्षमें इन्द्रदत्तने खूब उत्सव किया। खूब दान दिया। सच है—

प्राणिनां पूर्वपुण्यानां मापदास्सम्पदायते ।

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्- पुण्यवानोंके लिये विपत्ति भी सम्पत्तिके रूपमें परिणत हो जाती है। पापी श्रीदत्तको यह हाल मालूम हो गया। सो वह इन्द्रदत्तके घर आया और मायाचारसे उसने अपने बहनोईसे कहा-देखोजी, हमारा भानजा बड़ा तेजस्वी है, बड़ा भाग्यवान् है, इसलिये उसे हम अपने घरपर ही रक्खेंगे। आप हमारी वहिनको भेज दीजिये। वेचारा इन्द्रदत्त उसके पापी हृदयकी बात नहीं जान पाया। इसलिये उसने अपने सीधे स्वभावसे अपनी प्रियाको पुत्र सहित उसके साथ कर दिया। बहुत ठीक लिखा है—

अहो दुष्टाशयः प्राणी चित्तेऽन्यद्वचनेऽन्यथा ।
कायेनान्यत्करोत्येव परेषां वचनं महत् ।

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्-जिन लोगोंका हृदय दुष्ट होता है, उनके चित्तमें कुछ और रहता है, वचनोंसे वे कुछ और ही कहते हैं और शरीरसे कुछ और ही करते हैं। दूसरोंको ठगना-उन्हें धोखा देना ही एक मात्र ऐसे पुरुषोंका उद्देश्य रहता है। पापी श्रीदत्त भी एक ऐसा ही दुष्ट मनुष्य था। इसीलिये तो वह निरपराध बालकके खूनका प्यासा हो उठा। उसने पहलेकी तरह फिर भी उसे मार डालनेकी इच्छासे एक चाण्डालको बहुत कुछ लोभ देकर उसके हाथ सौंप दिया। चाण्डालने भी बालकको ले तो लिया पर जब उसने उसकी स्वर्गीय सुन्दरता देखी तो उसके हृदयमें भी दयादेवी

आ विराजी। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि कुछ हो, मैं कभी इस बच्चेको न मारूंगा और इसे बचाऊंगा। वह अपना विचार श्रीदत्तसे नहीं कहकर बच्चेको लिवा ले गया। कारण श्रीदत्तकी पापवासना उसे कभी जिन्दा रहने न देगी, यह उसे उसकी बातचीतसे मालूम हो गया था। चाण्डाल बच्चेको एक नदीके किनारेपर लिवाले गया। वहीं एक सुन्दर गुहा थी, जिसके चारों ओर वृक्ष थे। वह बालकको उस गुहामें रखकर अपने घरपर लौट आया।

संध्याका समय था। गुवाललोग अपनी अपनी गायोंको घरपर लौटाये ला रहे थे। उनमेंसे कुछ गायें इस गुहाकी ओर आ गईं थीं, जहाँ गुणपालका पुत्र अपने पूर्वपुण्यके उदयसे रक्षा पा रहा था। धायके समान उन गायोंने आकर उस बच्चेको घेर लिया। मानो बच्चा प्रेमसे अपनी माकी ही गोदमें बैठा हो। बच्चेको देखकर गायोंके थनोंमेंसे दूध झरने लग गया। गुवाल लोग प्रसन्नमुख बच्चेको गायोंसे घिरा हुआ और निर्भय खेलता हुआ देखकर बहुत आश्चर्य करने लगे। उन्होंने जाकर अपनी जातिके मुखिया गोविन्दसे यह सब हाल कह सुनाया। गोविन्दके कोई संतान नहीं थी, इसलिये वह दौड़ा गया और बालकको उठा लाकर उसने अपनी सुनन्दा नामकी प्रियाको सौंप दिया। उसका नाम उसने धनकीर्ति रक्खा। वहींपर बड़े यत्न और प्रेमसे उसका पालन व संरक्षण होने लगा। धनकीर्ति भी दिनोंदिन बढ़ने लगा। वह ग्वालमहिलाओंके नेत्ररूपी कुमुदपुष्पोंको प्रफुल्लित करनेवाला चन्द्रमा था-उसे देखकर उनके नेत्रोंको बड़ी शान्ति मिलती थी। वह सब

सामुद्रिक लक्षणोंसे युक्त थां। उसे देखकर सवको वड़ा प्रेम होता था। वह अपनी रूप मधुरिमासे कामदेव जान पड़ता था, कान्तिसे चन्द्रमा, और तेजसे एक दूसरा सूर्य। जैसे जैसे उसकी सुन्दरता वढ़ती जाती थी, वैसे वैसे ही उसमें अनेक उत्तम उत्तम गुण भी स्थान पाये चले जाते थे।

एक दिन पापी श्रीदत्त घीकी खरीद करता हुआ इधर आ गया। उसने धनकीर्तिको देखकर पहिचान लिया। अपना सन्देह मिटानेको और भी दूसरे लोगोंसे उसने उसका हाल दर्याफ्त किया। उसे निश्चय हो गया कि यह गुणपालहीका पुत्र है। तव उसने फिर उसके मारनेका षड्यंत्र रचा। उसने गोविन्दसे कहा—भाई, मेरा एक वहुत जरूरी काम है, यदि तुम अपने पुत्र द्वारा उसे करा दो तो वड़ी कृपा हो। मैं अपने घरपर भेजनेके लिये एक पत्र लिखे देता हूं, उसे यह पहुँचा आवे। वेचारे गोविन्दने कह दिया कि मुझे आपके कामसे कोई इन्कार नहीं है। आप लिख दीजिये, यह उसे दे आयगा। सच वात है—

अहो दुष्टस्य दुष्टत्वं लक्ष्यते केन वेगतः।

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्—दुष्टोंकी दुष्टताका पता जल्दीसे कोई नहीं पा सकता। पापी श्रीदत्तने पत्रमें लिखा—

"पुत्र महावल,

जो तुम्हारे पास पत्र लेकर आ रहा है, वह अपने कुलका नाश करनेके लिये भयंकरतासे जलता हुआ मानो प्रलय कालका अग्नि है—समर्थ होते ही यह अपना सर्वनाश कर देगा। इस लिये तुम्हें उचित है कि इसे गुप्तरीतिसे तलवार द्वारा या मूसले

से मार डालकर अपना कांटा साफ कर दो। काम बड़ी सावधानी से हो, जिसे कोई जान न पावें।”

पत्रको अच्छी तरह बन्द करके उसने कुमार धर्मकीत्तिको सौंप दिया। धर्मकीत्तिने उसे अपने गलेमें पड़े हुए हारसे बाँध लिया और सेठकी आज्ञा लेकर उसी समय वह वहाँसे निडर होकर चल दिया। वह धीरे धीरे उज्जयिनीके उपवनमें आ पहुँचा। रास्तेमें चलते चलते वह थक गया था। इसलिये थकावट मिटानेके लिये वह वहीं एक वृक्षकी ठंडी छायामें सो गया। उसे वहाँ नींद आ गई।

इतनेहीमें वहाँ एक अनंगसेना नामकी वेश्या फूल तोड़नेके लिये आई। वह बहुत सुन्दरी थी। अनेक तरहके मौलिक भूषण और वस्त्र वह पहरे थी। उससे उसकी सुन्दरता भी बेहद बढ़ गई थी। वह अनेक विद्या–कलाओंकी जाननेवाली और बड़ी विनोदिनी थी। उसने धनकीत्तिको एक वृक्षके नीचे सोता देखा। पूर्वजन्ममें अपना उपकार करनेके कारणसे उसपर उसका बहुत प्रेम हुआ। उसके वश होकर ही उसे न जाने क्या बुद्धि उत्पन्न हुई जो उसने उसके गलेमें बँधे हुए श्रीदत्तके कागजको खोल लिया। पर जब उसने उसे बाँचा तो उसके आश्चर्यका कुछ ठिकाना न रहा। एक निर्दोष कुमारके लिये श्रीदत्तका ऐसा घोर पैशाचिक अत्याचारका हाल पढ़कर उसका हृदय काँप उठा। वह उसकी रक्षाके लिये घबरा उठी। वह भी थी बड़ी बुद्धिमती सो उसे झट एक युक्ति सूझ गई। उसने उस लिखावटको बड़ी सावधानीसे मिटाकर उसकी जगह अपनी आखोंमें

अँजे हुए काजलको पत्तोंके रससे गीलीकी हुई सलाईसे निकाल निकाल कर उसके द्वारा लिख दिया कि—

"प्रिये, यदि तुम मुझे सच्चा अपना स्वामी समझती हो, और पुत्र महाबल, तुम यदि वास्तवमें मुझे अपना पिता समझते हो, तो इस पत्र लानेवालेके साथ श्रीमतीका व्याह तुरत कर देना। अपनेको बड़े भाग्यसे ऐसे वरकी प्राप्ति हुई है। मैंने इसकी साखें वगैरह सब अच्छी तरह देखली हैं। कहीं कोई बाधा नहीं आती है। इस काममें तुम मेरी भी कुछ अपेक्षा नहीं करना। कारण संभव है, मुझे आनेमें कुछ विलम्ब हो जाय। फिर ऐसा योग मिलता कठिन है। वरके मान सम्मानमें कोई कमी तुम लोग मत करना।"

इस प्रकार पत्र लिखकर अनंगसेनाने पहलेकी तरह उसे धनकीर्त्तिके गलेमें बाँध दिया अथवा यों कह लीजिये के उसने धनकीर्त्तिको मानो जीवन प्रदान किया। इसके बाद वह अपने घरपर लौट गई।

अनंगसेनाके चले जाने बाद धनकीर्त्तिकी भी नींद खुली। वह उठा और श्रीदत्तके घरपर पहुँचा। उसने पत्र निकालकर श्रीदत्तकी स्त्रीके हाथमें सौंपा। पत्रको उसके पुत्र महाबलने भी पढ़ा। पत्र पढ़कर उन्हें बहुत खुशी हुई। धनकीर्त्तिका उन्होंने बहुत आदर सन्मान किया। बाद शुभ मुहूर्त्तमें अपनी पुत्री श्रीमतीका उसके साथ व्याह कर दिया। सच कहा है—

संभवेत्कृतपुण्यानां महापायेपि सत्सुखम्।

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्—पुण्यवानोंके लिये महासंकटके समय भी–जीवनके नष्ट होनेके कारणोंके मिलनेपर भी सुख प्राप्त होता है। यह हाल जब श्रीदत्तको मालूम पड़ा, तब वह घबराकर उसी समय दौड़ा हुआ आया। उसने रास्तेमें ही धनकीर्तिके मार डालनेकी युक्ति सोचकर अपनी नगरीके बाहर पार्वतीके मन्दिरमें एक मनुष्यको इसलिये नियुक्त कर दिया कि मैं किसी बहानेसे धनकीर्त्तिको रातके समय यहीं भेजता हूं, सो उसे तुम मार डालना। इसके बाद वह अपने घरपर आया और एकान्तमें अपने जमाईको बुलाकर उसने कहा–देखोजी, मेरी कुलपरम्परामें एक रीति चली आती है, वह तुम्हें भी करनी होगी। वह यह है कि–नव विवाहित वर रात्रिके आरंभमें उड़दके आटेके बनाये हुए तोता, काक, मुर्गा–आदि जानवरोंको लाल वस्त्रसे ढककर और कंकण पहरे हाथमें रखकर बड़े आदरके साथ शहर बाहर पार्वतीके मंदिरमें ले जाय और शान्तिके लिये उनकी बलि दे।

सुनकर धनकीर्त्ति बोला–जैसी आपकी आज्ञा, मुझे उससे कुछ इन्कार नहीं है। इसके बाद वह बलि लेकर घरसे निकला। शहर बाहर पहुँचते उसे उसका साला महाबल मिला। महाबलने उससे पूछा क्योंजी, ऐसे अन्धकारमें अकेले कहाँ जा रहे हो? उत्तरमें धर्मकीर्त्तिने कहा–आपके पिताजीकी आज्ञासे मैं पार्वतीजीके मन्दिरमें बलि देनेके लिये जा रहा हूं। तब महाबलने कहा–अच्छा तो बलि मुझे दीजिये, मैं जाता हूं। आपके जानेकी वहाँ कोई आवश्यकता नहीं। आप घरपर जाइये। धनकीर्त्तिने कहा–देखिये, इससे

आपके पिताजी बुरा मानेंगे। इसलिए आप मुझे ही जाने दीजिए। महाबलने कहा—नहीं, मुझे बलि देनेकी सब विधि वगैरह मालूम है, इसलिए मैं ही जाता हूं। यह कहकर उसने धनकीर्त्तिको तो घर लौटा दिया और आप दुर्गाके मन्दिर जाकर कालके घरका पाहुना बना। सच है—

पुण्यवानोंके लिए कालरूपी अग्नि जल हो जाती है, समुद्र स्थल हो जाता है, शत्रु मित्र बन जाता है, विष अमृतके रूपमें परिणत हो जाता है, विपत्ति सम्पत्ति हो जाती है, और विघ्न डरके मारे नष्ट हो जाते हैं। इसलिए बुद्धिमानोंको सदा पुण्यकर्म करते रहना चाहिए। पुण्य उत्पन्न करनेके कारण ये हैं—भक्तिसे भगवान्की पूजा करना, पात्रोंको दान देना, व्रत पालना, उपवासादिके द्वारा इन्द्रियोंको जीतना, ब्रह्मचर्य रखना, दुखियोंकी सहायता करना, विद्या पढ़ाना, पाठशाला खोलना, अर्थात् अपनेसे जहांतक बन पड़े तनसे, मनसे और धनसे दूसरोंकी भलाई करना।

अपने पुत्रके मारे जानेकी जब श्रीदत्तको खबर हुई, तब वह बहुत दुखी हुआ। पर फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। उसका हृदय अब प्रतिहिंसासे और अधिक जल उठा। उसने अपनी स्त्रीको एकान्तमें बुलाकर कहा—प्रिये, बतलाओ तो हमारे कुलरूपीवृक्षको जड़मूलसे उखाड़ फेंकनेवाले इस दुष्टकी हत्या कैसे हो? कैसे यह मारा जा सके? मैंने इसके मारनेको जितने उपाय किये, भाग्यसे वे सब व्यर्थ गये और उलटा उनसे मुझे ही अत्यन्त हानि उठाना पड़ी।

सो मेरी बुद्धि तो बड़े असमंजसमें फँस गई है। देखो, कैसे अंचभेकी वात है जो इसके मारनेके लिए जितने उपाय किये, उन सबसे रक्षा पाकर और अपना ही वैरी बना हुआ यह अपने घरमें वैठा है।

श्रीदत्तकी स्त्रीने कहा-वात यह है कि अब आप बूढ़े हो गये। आपकी बुद्धि अब काम नहीं देती। अब जरा आप चुप होकर बैठे रहें। मैं आपकी इच्छा बहुत जल्दी पूरी करूंगी। यह कह कर उस पापिनीने दूसरे दिन विष मिले हुए कुछ लड्डू बनाये और अपनी पुत्रीसे कहा- बेटा श्रीमती, देख मैं तो अब स्नान करनेको जाती हूं और तूं इतना ध्यान रखना कि ये जो उजले लड्डू हैं, उन्हें तो अपने स्वामीको परोसना और जो मैले हैं, उन्हें अपने पिताको परोसना। यह कहकर श्रीमतीकी मा नहानेको चली गई। श्रीमती अपने पिता और पतिको भोजन करानेको बैठी। बेचारी श्रीमती भोलीभाली लड़की थी और न उसे अपनी माताका कूट-कपट ही मालूम था; इसलिए उसने अच्छे लड्डू अपने पिताके लिए ही परोसना उचित समझा, जिससे कि उसके पिताको अपने साम्हने श्रीमतीका बरताव बुरा न जान पड़े और यही एक कुलीन कन्याके लिए उचित भी था। क्योंकि अपने माता-पिता या बड़ोंके साम्हने ऐसा बेहयापनका काम अच्छी स्त्रियाँ नहीं करतीं। इसीलिए जो लड्डू उसके पतिके लिए उसकी माने बनाये थे, उन्हें उसने पिताकी थालीमें परोस दिया। सच है- "विचित्रा कर्मणां गतिः" अर्थात् कर्मोंकी गति विचित्र ही हुआ करती है।

विप मिले हुए लड्डुओंके खाते ही श्रीदत्तने अपने किये कर्मका उपयुक्त प्रायश्चित्त पा लिया—वह उसी समय मर गया। बहुत ठीक कहा है—

पापकर्म करनेवालोंका कल्याण नहीं होता! उधर जब नहाकर श्रीमतीकी मा लौटी और उसने अपने स्वामीको मरा पड़ा पाया तब उसके दुःखका कुछ पार नहीं रहा। उसने खूब रोया पीटा, पर अब होता क्या था? जो दूसरोंके लिए कूआ खोदते हैं, उसमें पहले वे स्वयं गिरते हैं, यह संसारका नियम है। श्रीमतीकी मा और उसका पति श्रीदत्त इसके उदाहरण हैं। इसलिए जो अपना बुरा नहीं चाहते उन्हें दूसरोंका बुरा करनेका कभी स्वप्नमें भी विचार नहीं करना चाहिए। अन्तमें श्रीमतीकी माताने अपनी पुत्रीसे कहा—पुत्री, तेरे पिताने और मैंने निर्दय होकर अपने हाथों ही अपने कुलका सर्वनाश किया। हमने दूसरेका अनिष्ट करनेके लिए जितना प्रयत्न किया वह सब व्यर्थ गया और अपने नीच कर्मोंका फल भी हमें हाथों हाथ मिल गया। अब जो तेरे पिताजीकी गति हुई, वही मेरे लिए भी इष्ट है। अन्तमें मैं तुझे आशीर्वाद देती हूं कि, तू और तेरे प्राणनाथ इस घरमें सुख-शान्तिसे रहें। जैसे इन्द्र अपनी प्रियाके साथ रहता है। यह कहकर उसने भी जहरके लड्डुओंको खा लिया। देखते देखते उसका आत्मा भी शरीरको छोड़कर चल बसा। ठीक है—दुर्बुद्धियोंकी ऐसी ही गति हुआ करती है। जो लोग दुष्ट हृदय बनकर दूसरोंके लिए बुरा सोचते हैं—उनका बुरा करते हैं,

वे स्वयं अपना बुरा कर अन्तमें कुगतियोंमें जाकर अनन्त दुःख उठाते हैं। इस प्रकार धनकीर्ति पुण्यके प्रभावसे अनेक बड़ी बड़ी आपत्तियोंसे रक्षा पाकर सुखपूर्वक रहने लगा।

जब महाराज विश्वंभरको धनकीर्तिका पुण्य और उसकी प्रतिष्ठा तथा गुणशालीनताका परिचय मिला तो वे उससे बहुत खुश हुए। यहांतक कि उन्होंने अपनी राजकुमारीका व्याह भी उसीके साथ कर देनेका निश्चय कर लिया और शुभ दिनमें बहुत कुछ उत्सव-आनंदके साथ व्याह कर भी दिया। धनकीर्त्तिको दहेजमें उन्होंने बहुत कुछ धन-सम्पत्ति दी, उसका खूब सम्मान किया और अपने राजसेठके पद पर भी उसे नियत कर दिया। इस पर किसीको आश्चर्य नहीं करना चाहिए। क्योंकि संसारमें ऐसी कोई वस्तु अप्राप्त नहीं जो जिनधर्मके प्रभावसे नहीं होती!

गुणपालको जब अपने पुत्रका हाल ज्ञात हुआ तब उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। वह उसी समय कौशाम्बीसे उज्जयिनीके लिए चला और बहुत जल्दी अपने पुत्रसे आ मिला। सबका फिर पुण्य-मिलाप हुआ। धनकीर्ति अब पुण्योदयसे प्राप्त हुए भोगोंको भोगता हुआ अपना समय सुखसे बिताने लगा। इससे कोई यह न समझें कि वह अब दिन रात विषयभोगोंमें ही फँसा रहता है, नहीं; उसका अपने आत्मकल्याणकी ओर भी पूरा ध्यान है। वह बड़ी सावधानीके साथ सुख देनेवाले जिनधर्मकी सेवा करता है, भगवान्‌की प्रति दिन पूजा करता है, पात्रोंको दान देता है, दुखी-अना-

र्थोकी सहायता करता है और सदा स्वाध्यायाध्ययन करता है। मतलब यह कि धर्म-सेवा और परोपकार करना ही उसके जीवनका एकमात्र लक्ष्य होगया है। पुण्यके उदयसे जो प्राप्त होना चाहिए वह सब धनकीर्त्तिको इस समय प्राप्त है। इस प्रकार धनकीर्त्तिने बहुत दिनों तक खूब सुख भोगा और सबको प्रसन्न रखनेकी वह सदा चेष्टा करता रहा।

एक दिन धनकीर्त्तिका पिता गुणपाल सेठ अपनी स्त्री, पुत्र, मित्र, बन्धु, बान्धवको साथ लिए यशोध्वज मुनिराजकी वन्दना करनेको गया। भाग्यसे अनंगसेना भी इस समय पहुँच गई। संसारका उपकार करनेवाले उन मुनिराजकी सभीने बड़ी भक्तिके साथ वन्दना की। इसके बाद गुणपालने मुनिराजसे पूछा—प्रभो, कृपाकर बतलाइए कि मेरे इस धनकीर्त्ति पुत्रने ऐसा कौन महापुण्य पूर्व जन्ममें किया है, जिससे इसने इस बालपनमें ही भयंकरसे भयंकर कष्टोंपर विजय प्राप्त कर बहुत कीर्त्ति कमाई, खूब धन कमाया, और अच्छे अच्छे पवित्र काम किये, सुख भोगा, और यह बडा ज्ञानी हुआ, दानी हुआ तथा दयालु हुआ। भगवन्, इन सब बातोंको मैं सुनना चाहता हूं।

करुणाके समुद्र और चार ज्ञानके धारी यशोध्वज मुनिराजने, मृगसेन धीवरके अहिंसाव्रत ग्रहण करने, जालमें एक ही एक मच्छके बार बार आने, घरपर सूने हाथ लौट आने, स्त्रीके नाराज होकर घरमें न आने देने, आदिकी सब कथा गुणपालसे कहकर कहा– वह मृगसेन तो अहिंसाव्रतके प्रभावसे यह धनकीर्त्ति हुआ, जो कि सर्वश्रेष्ठ सम्पत्तिका

मालिक और महाभव्य है; और मृगसेनकी जो घण्टा नामकी स्त्री थी, वह निदान करके इस जन्ममें भी धनकीर्त्तिकी श्रीमती नामकी गुणवती स्त्री हुई है और जो मच्छ पाँच वार पकड़कर छोड़ दिया गया था, वह यह अनंगसेना हुई है, जिसने कि धनकीर्त्तिको जीवदान देकर अत्यन्त उपकार किया है। सेठ महाशय, यह सब एक अहिंसाव्रतके धारण करनेका फल है। और परम अहिंसामयी जिनधर्मके प्रसादसे सज्जनोंको क्या प्राप्त नहीं होता! मुनिराजके द्वारा इस सुखदायी कथाको सुनकर सब ही बहुत प्रसन्न हुए। जिनधर्म पर उनकी गाढ श्रद्धा होगई। अपने पूर्व भवका हाल सुनकर धनकीर्त्ति, श्रीमती और अनंगसेनाको जातिस्मरण होगया। उससे उन्हें संसारकी क्षणस्थायी दशापर बड़ा वैराग्य हुआ। धर्माधर्मका फल भी उन्हें जान पड़ा। उनमें धनकीर्त्तिने तो, जिसका कि सुयश सारे संसारमें विस्तृत है, यशोध्वज मुनिराजके पास ही एक दूसरे मोहपाशकी तरह जान पड़नेवाले अपने केशकलापको हाथोंसे उखाड़कर जिनदीक्षा ग्रहण करली, जो कि संसारके जीवोंका उद्धार करनेवाली है। साधु होजानेके वाद धनकीर्त्तिने खूब निर्दोष तपस्या की, अनेक जीवोंको कल्याणके मार्गपर लगाया, जिनधर्मकी प्रभावना की, पवित्र रत्नत्रय प्राप्त किया और अन्तमें समाधिसहित मरकर सर्वार्थसिद्धिका श्रेष्ठ सुख लाभ किया। धनकीर्त्ति आगे केवली होकर मुक्ति प्राप्त करेगा। और और ऋषियोंने भी अहिंसाव्रतका फल लिखते समय धनकीर्त्तिकी प्रशंसामें लिखा है—"धनकीर्त्तिने पूर्व

भवमें एक मच्छको पाँच वार छोड़ा था, उसके फलसे वह स्वर्गीयश्रीका स्वामी हुआ।" इसलिए आत्महितकी इच्छा करनेवालोंको यह व्रत मन, वचन, कायकी पवित्रतापूर्वक निरन्तर पालते रहना चाहिए।

धनकीर्त्तिको दीक्षित हुआ देखकर श्रीमती और अनंगसेनाने भी हृदयसे विषयवासनाको दूरकर अपने योग्य जिनदीक्षा ग्रहण करली, जो कि सब दुःखोंकी नाश करनेवाली है। इसके बाद अपनी शक्तिके अनुसार तपस्या कर उन दोनोंने भी मृत्युके अन्तमें स्वर्ग प्राप्त किया। सच है–जिनशासनकी आराधना कर किस किसने सुख प्राप्त न किया! अर्थात् जिसने जिनधर्म ग्रहण किया उसे नियमसे सुख मिला है।

इस प्रकार मुझ अल्पबुद्धिने धर्म-प्रेमके वश हो यह अहिंसाव्रतकी पवित्र कथा जैनशास्त्रके अनुसार लिखी है। यह सब सुखोंकी देनेवाली माता है और विघ्नोंकी नाश करनेवाली है। इसे आप लोग हृदयमें धारण करें। वह इसलिए कि इसके द्वारा आपको शान्ति प्राप्त होगी।

मूलसंघके प्रधान प्रवर्तक श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी परम्परामें मल्लिभूषण गुरु हुए। वे ज्ञानके समुद्र थे। उनके शिष्य श्रीसिंहनन्दी मुनि हुए। वे बड़े आध्यात्मिक विद्वान् थे। उन्हें अच्छे अच्छे परमार्थवित्–अध्यात्मशास्त्रके जानकार विद्वान् नमस्कार करते थे। वे सिंहनन्दी मुनि आपके लिए संसार-समुद्रसे पार करनेवाले होकर संसारमें चिरकाल तक बढ़ें–उनका यशःशरीर बहुत समय तक प्रकाशित रहे।

२६–वसुराजाकी कथा।



संसारके बन्धु और देवों द्वारा पूज्य श्रीजिनेन्द्रको नमस्कार कर झूठ बोलनेसे नष्ट होनेवाले वसुराजाका चरित्र मैं लिखता हूं।

स्वस्तिकावती नामकी एक सुन्दर नगरी थी। उसके राजाका नाम विश्वावसु था। विश्वावसुकी रानी श्रीमती थी। उसके एक वसु नामका पुत्र था।

वहीं एक क्षीरकदम्ब उपाध्याय रहता था। वह बड़ा सुचरित्र और सरल-स्वभावी था। जिन भगवान्का वह भक्त था और होम, शान्ति-विधान आदि जैन क्रियाओं द्वारा गृहस्थोंके लिए शान्ति-सुखार्थ अनुष्ठान करना उसका काम था। उसकी स्त्रीका नाम स्वस्तिमती था। उसके पर्वत नामका एक पुत्र था। भाग्यसे वह पापी और दुर्व्यसनी हुआ। कर्मोंकी कैसी विचित्र स्थिति है जो पिता तो कितना धर्मात्मा और सरल और उसका पुत्र दुराचारी! इसी समय एक विदेशी ब्राह्मण नारद, जो कि निरभिमानी और सच्चा जिनभक्त था, क्षीरकदम्बके पास पढ़नेके लिए आया। राजकुमार वसु, पर्वत और नारद ये तीनों एक साथ पढ़ने लगे। वसु और नारदकी बुद्धि अच्छी थी, सो वे तो थोड़े ही समयमें अच्छे विद्वान् हो गये। रहा पर्वत सो एक तो उसकी बुद्धि ही खराब, उस पर पापके उदयसे उसे कुछ नहीं आता-जाता भी था।

अपने पुत्रकी यह हालत देखकर उसकी माताने एक दिन अपने पतिसे गुस्सा होकर कहा– जान पड़ता है, आप बाहरके लड़कोंको तो अच्छी तरह पढ़ाते हैं और खास अपने पुत्र पर आपका ध्यान नहीं है–उसे आप अच्छी तरह नहीं पढ़ाते। इसीलिए उसे इतने दिन तक पढ़ते रहने पर भी कुछ नहीं आया। क्षीरकदम्बने कहा–इसमें मेरा कुछ दोष नहीं है। मैं तो सबके साथ एकहीसा श्रम करता हूं। तुम्हारा पुत्र ही मूर्ख है, पापी है, वह कुछ समझता ही नहीं। बोलो, अब इसके लिए मैं क्या करूं? स्वस्तिमतीको इस बात पर विश्वास हो, इसलिए उसने तीनों शिष्योंको बुलाकर कहा– पुत्रो, देखो तुम्हें यह एक एक पाई दी जाती है, इसे लेकर तुम बाजार जाओ; और अपने बुद्धिबलसे इसके द्वारा चने लेकर खा आओ और पाई पीछी वापिस भी लौटा लाओ। तीनों गये। उनमें पर्वत एक जगहसे चने मोल लेकर और वहीं खा–पीकर सूने हाथ घर लौट आया। अब रहे वसु और नारद, सो इन्होंने पहले तो चने मोल लिये और फिर उन्हें इधर उधर घूमकर बेचा, जब उनकी पाई वसूल हो गई तब बाकी बचे चनोंको खाकर वे लौट आये। आकर उन्होंने गुरुजीकी अमानत उन्हें वापिस सौंपदी। इसके बाद क्षीरकदम्बने एक दिन तीनोंको आटेके बने हुए तीन बकरे देकर उनसे कहा– देखो, इन्हें ले जाकर और जहाँ कोई न देख पाये ऐसे एकान्त स्थानमें इनके कानोंको छेद लाओ। गुरुकी आज्ञानुसार तीनों [illegible] ये।

पर्वतने तो एक जंगलमें जाकर वकरेका कान छेद डाला। वसु और नारद वहुत जगह गये, सर्वत्र उन्होंने एकान्त स्थान ढूंढ डाला, पर उन्हें कहीं उनके मनलायक स्थान नहीं मिला। अथवा यों कहिए कि उनके विचारानुसार एकान्त स्थान कोई था ही नहीं। वे जहाँ पहुँचते और मनमें विचार करते वहीं उन्हें चन्द्र, सूर्य, तारा, देव, व्यन्तर, पशु, पक्षी और अवधिज्ञानी मुनि आदि जान पड़ते। वे उस समय यह विचार कर, कि ऐसा कोई स्थान ही नहीं है जहाँ कोई न देखता हो, वापिस घर लौट आये। उन्होंने उन वकरोंके कानोंको नहीं छेदा। आकर उन्होंने गुरुजीको नमस्कार किया और अपना सव हाल उनसे कह सुनाया। सच है—वुद्धि कर्मके अनुसार ही हुआ करती है। उनकी वुद्धिकी इस प्रकार चतुरता देखकर उपाध्यायजीने अपनी प्रियासे कहा—क्यों देखी सबकी वुद्धि और चतुरता? अव कहो, दोष मेरा या पर्वतके भाग्यका?

एक दिनकी वात है कि वसुसे कोई ऐसा अपराध वन गया, जिससे उपाध्यायने उसे वहुत मारा। उस समय स्वस्तिमतीने बीचमें पड़कर वसुको वचा लिया। वसुने अपनी वचानेवाली गुरुमातासे कहा—माता, तुमने मुझे वचाया इससे मैं वड़ा उपकृत हुआ। कहो तुम्हें क्या चाहिए? वही लाकर मैं तुम्हें प्रदान करूं। स्वस्तिमतीने उत्तरमें राजकुमारसे कहा—पुत्र, इस समय तो मुझे कुछ आवश्यकता नहीं है, पर जव होगी तव माँगूंगी। तू मेरे इस वरको अभी अपने ही पास रख।

एक दिन क्षीरकदम्वके मनमें प्रकृतिकी शोभा देखनेके लिए उत्कंठा हुई। वह अपने साथ तीनों शिष्योंको भी

इसलिए लिवा ले गया कि उन्हें वहीं पाठ भी पढ़ा दूंगा। वह एक सुन्दर बगीचेमें पहुँचा। वहाँ कोई अच्छा पवित्र स्थान देखकर वह अपने शिष्योंको वृहदारण्यका पाठ पढ़ाने लगा। वहीं और दो ऋद्धिधारी महामुनि स्वाध्याय कर रहे थे। उनमेंसे छोटे मुनिने क्षीरकदम्बको पाठ पढ़ाते देखकर बड़े मुनिराजसे कहा- प्रभो, देखिए कैसे पवित्र स्थानमें उपाध्याय अपने शिष्योंको पढ़ा रहा है! गुरुने कहा-अच्छा है, पर देखो, इनमेंसे दो तो पुण्यात्मा हैं और वे स्वर्गमें जायँगे और दो पापके उदयसे नर्कोंके दुःख सहेंगे। सच है—

कर्मोंके उदयसे जीवोंको सुख या दुःख भोगना ही पड़ता है। मुनिके वचन क्षीरकदम्बने सुन लिये। वह अपने विद्यार्थियोंको घर भेजकर मुनिराजके पास गया। उन्हें नमस्कार कर उसने पूछा- हे भगवन्, हे जैनसिद्धान्तके उत्तम विद्वान्, कृपाकर मुझे कहिए कि हममेंसे कौन दो तो स्वर्ग जाकर सुखी होंगे और कौन दो नर्क जायेंगें ? कामके शत्रु मुनिराजने क्षीरकदम्बसे कहा-भव्य, स्वर्ग जानेवालोंमें एक तो तू जिनभक्त और दूसरा धर्मात्मा नारद है और वसु तथा पर्वत पापके उदयसे नर्क जायँगे। क्षीरकदम्ब मुनिराजको नमस्कार कर अपने घर आया। उसे इस बातका बड़ा दुःख हुआ कि उसका पुत्र नरकमें जायगा। क्योंकि मुनियोंका कहा अनन्तकालमें भी झूठा नहीं होता।

एक दिन कोई ऐसा कारण देख पड़ा, जिससे वसुके पिता विश्वावसु अपना वसुको सौंपकर

आप साधु होगये। राज्य अब वसु करने लगा। एक दिन वसु वन-विहारके लिए उपवनमें गया हुआ था। वहाँ उसने आकाशसे लुढ़क कर गिरते हुए एक पक्षीको देखा। देखकर उसे आश्चर्य हुआ। उसने सोचा पक्षीके लुढ़कते हुए गिरनेका कोई कारण यहाँ अवश्य होना चाहिए। उसकी शोध लगानेको जिधरसे पक्षी गिरा था उधर ही लक्ष्य बाँधकर उसने बाण छोड़ा। उसका लक्ष्य व्यर्थ न गया। यद्यपि उसे यह नहीं जान पड़ा कि क्या गिरा, पर इतना उसे विश्वास हो गया कि उसके बाणके साथ ही कोई भारी वस्तु गिरी जरूर है। जिधरसे किसी वस्तुके गिरनेकी आवाज उसे सुन पड़ी थी वह उधर ही गया पर तब भी उसे कुछ नहीं देख पड़ा। यह देख उसने उस भागको हाथोंसे टटोलना शुरू किया। हस्तस्पर्शसे उसे एक बहुत निर्मल खंभा, जो कि स्फटिक-मणिका बना था, जान पड़ा। वसुराजा उसे गुप्तरीतिसे अपने महल पर ले आया। वसुने उस खंभेके चार पाये बनवाये और उन्हें अपने न्याय-सिंहासनके लगवा दिये। उन पायोंके लगनेसे सिंहासन ऐसा जान पड़ने लगा मानों वह आकाशमें ठहरा हुआ हो। धूर्त वसु अब उसी पर बैठकर राज्यशासन करने लगा। उसने सब जगह यह प्रगट कर दिया कि "राजा वसु बड़ा ही सत्यवादी है, उसकी सत्यताके प्रभावसे उसका न्याय-सिंहासन आकाशमें ठहरा हुआ है।" इस प्रकार कपटकी आड़में वह अब सर्वसाधारणके बहुत ही आदरका पात्र हो गया। सच है—

मायावी पुरुष संसारमें क्या ठगाई नहीं करते! इधर सम्यग्दृष्टि, जिनभक्त क्षीरकदम्ब संसारसे विरक्त होकर तपस्वी होगया और अपनी शक्तिके अनुसार तपस्या कर अन्तमें समाधिमरण द्वारा उसने स्वर्ग लाभ किया। पिताका उपाध्याय पद अब पर्वतको मिला। पर्वतको जितनी बुद्धि थी, जितना ज्ञान था, उसके अनुकूल वह पिताके विद्यार्थियोंको पढ़ाने लगा। उसी वृत्तिके द्वारा उसका निर्वाह होता था। क्षीरकदम्बके साधु हुए बाद ही नारद भी वहाँसे कहीं अन्यत्र चल दिया। वर्षों तक नारद विदेशोंमें घूमा किया। घूमते फिरते वह फिर भी एकवार स्वस्तिपुरीकी ओर आ निकला। वह अपने सहाध्यायी और गुरुपुत्र पर्वतसे मिलनेको गया। पर्वत उस समय अपने शिष्योंको पढ़ा रहा था। साधारण कुशल प्रश्नके बाद नारद वहीं बैठ गया और पर्वतका अध्यापन कार्य देखने लगा। प्रकरण कर्मकाण्डका था। वहाँ एक श्रुति थी—" अजैर्यष्टव्यमिति।" दुराग्रही पापी पर्वतने उसका अर्थ किया कि " अजैश्छागैः यष्टव्यमिति" अर्थात्-बकरोंकी बलि देकर होम करना चाहिए। उसमें बाधा देखकर नारदने कहा—नहीं; इस श्रुतिका यह अर्थ नहीं है। गुरुजीने तो हमें इसका अर्थ बतलाया था कि " अजैस्त्रिवार्षिकैर्धान्यैः यष्टव्यम्" अर्थात्-तीन वर्षके पुराने धानसे, जिसमें उत्पन्न होनेकी शक्ति न हो, होम करना चाहिए। पापी, तू यह क्या अनर्थ करता है जो उल्टा ही अर्थ कर दिया? उस पर पापी पर्वतने दुराग्रहके वश हो यही कहा कि नहीं, तुम्हारा कहना सर्वथा मिथ्या

है। असलमें ‘अज’ शब्दका अर्थ बकरा ही होता है और उसीसे होम करना चाहिए। ठीक कहा है—

जिसे दुर्गतिमें जाना होता है, वही पुरुष जानकर भी ऐसा झूठ बोलता है।

तब दोनोंमें सच्चा कौन है, इसके निर्णयके लिए उन्होंने राजा वसुको मध्यस्थ चुना। उन्होंने परस्परमें प्रतिज्ञा की कि जिसका कहना झूठ हो उसकी जबान काटदी जाय। पर्वतकी माको जब इस विवादका और परस्परकी प्रतिज्ञाका हाल मालूम हुआ तब उसने पर्वतको बुलाकर बहुत डाटा और गुस्सेमें आकर कहा—पापी, तूने यह क्या अनर्थ किया? क्यों उस श्रुतिका उलटा अर्थ किया? तुझे नहीं मालूम कि तेरा पिता जैनधर्मका पूर्ण श्रद्धानी था और वह ‘अजैर्यष्टव्यम्’ इसका अर्थ तीन वर्षके पुराने धानसे होम करनेका करता था। और स्वयं भी वह पुराने धानहीसे सदा होमादिक किया करता था। स्वस्तिमतीने उसे और भी बहुत फटकारा, पर उसका फल कुछ नहीं निकला। पर्वत अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ बना रहा। पुत्रका इस प्रकार दुराग्रह देखकर वह अधीर हो उठी। एक ओर पुत्रके अन्याय-पक्षका समर्थन होकर सत्यकी हत्या होती है और दूसरी ओर पुत्र-प्रेम उसे अपने कर्तव्यसे विचलित करता है। अब वह क्या करे? पुत्र-प्रेममें फँसकर सत्यकी हत्या करे या उसकी रक्षाकर अपना कर्त्तव्य पालन करे? वह बड़े संकटमें पड़ी। आखिर दोनों शक्तियोंका युद्ध होकर पुत्र-प्रेमने विजय प्राप्त कर उसे अपने कर्त्तव्य पथसे गिरा

दिया—सत्यकी हत्या करनेको उसे सन्नद्ध किया। वह उसी समय वसुके पास पहुँची और उससे बोली—पुत्र, तुम्हें याद होगा कि मेरा एक वर तुमसे पाना बाकी है। आज उसकी मुझे जरूरत पड़ी है। इसलिए अपनी प्रतिज्ञाका निर्वाह कर मुझे कृतार्थ करो। बात यह है—पर्वत और नारदका किसी विषय पर झगड़ा होगया है। उसके निर्णयके लिए उन्होंने तुम्हें मध्यस्थ चुना है। इसलिए मैं तुम्हें कहनेको आई हूं कि तुम पर्वतके पक्षका समर्थन करना। सच है—

जो स्वयं पापी होते हैं, वे दूसरोंको भी पापी बना डालते हैं। जैसे सर्प स्वयं जहरीला होता है और जिसे काटता है उसे भी विषयुक्त कर देता है। पापियोंका यह स्वभाव ही होता है।

राजसभा लगी हुई थी। बड़े बड़े कर्मचारी यथा स्थान बैठे हुए थे। राजा वसु भी एक बहुत सुन्दर रत्न-जड़े सिंहासन पर बैठा हुआ था। इतनेमें पर्वत और नारद अपना न्याय करानेके लिए राजसभामें आये। दोनोंने अपना अपना कथन सुनाकर अन्तमें किसका कहना सत्य है और गुरुजीने अपनेको "अजैर्यष्टव्यम्" इसका क्या अर्थ समझाया था, इसका खुलासा करनेका भार वसु पर छोड़ दिया। वसु उक्त वाक्यका ठीक अर्थ जानता था और यदि वह चाहता तो सत्यकी रक्षा कर सकता था, पर उसे अपनी गुराणीजीके माँगे हुए वरने सत्यमार्गसे ढकेल कर आग्रही और पक्षपाती बना दिया। मिथ्या आग्रहके वश हो उसने अपनी मानमर्यादा और प्रतिष्ठाकी कुछ

परवा न कर नारदके विरुद्ध फैसला दिया। उसने कहा कि जो पर्वत कहता ही वही सत्य है और गुरुजीने हमें ऐसा ही समझाया था कि "अजैर्यष्टव्यम्" इसका अर्थ बकरोंको मार कर उनसे होम करना चाहिए। प्रकृतिको उसका यह महा अन्याय सहन नहीं हुआ। उसका परिणाम यह हुआ कि राजा वसु जिस स्फटिकके सिंहासन पर बैठकर प्रति दिन राजकार्य करता था और लोगोंको यह कहा करता था कि मेरे सत्यके प्रभावसे मेरा सिंहासन आकाशमें ठहरा हुआ है, वही सिंहासन वसुकी असत्यतासे टूट पड़ा और पृथ्वीमें घुस गया। उसके साथ ही वसु भी पृथ्वीमें जा घुँसा। यह देख नारदने उसे समझाया–महाराज, अब भी सत्य सत्य कह दीजिए, गुरुजीने जैसा अर्थ कहा था वह प्रगट कर दीजिए। अभी कुछ नहीं गया। सत्यव्रत आपकी इस संकटसे अवश्य रक्षा करेगा। कुगतिमें व्यर्थ अपने आत्माको न ले जाइए। अपनी इस दुर्दशा पर भी वसुको दया नहीं आई। वह और जोशमें आकर बोला–नहीं, जो पर्वत कहता है वही सत्य है। इतना उसका कहना था कि उसके पापके उदयने उसे पृथिवीतलमें पहुँचा दिया। वसु कालके सुपुर्द हुआ। मरकर वह सातवें नरकमें गया। सच है जिनका हृदय दुष्ट और पापी होता है उनकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। और अन्तमें उन्हें कुगतिमें जाना पड़ता है। इस लिए जो अच्छे पुरुष हैं और पापसे बचना चाहते हैं उन्हें प्राणोंपर कष्ट आने पर भी कभी झूट न बोलना चाहिए। पर्वतकी यह दुष्टता देखकर प्रजाके लोगोंने उसे गधे पर बैठा कर शहरसे निकाल बाहर किया और नारदका बहुत आदर-सत्कार किया।

नारद अब वहीं रहने लगा। वह बड़ा बुद्धिमान् और धर्मात्मा था। सब शास्त्रोंमें उसकी गति थी। वह वहाँ रहकर लोगोंको धर्मका उपदेश दिया करता, भगवान्‌की पूजा करता, पात्रोंको दान देता। उसकी यह धर्मपरायणता देखकर वसुके बाद राज्य-सिंहासन पर बैठनेवाला राजा उस पर बहुत खुश हुआ। उस खुशीमें उसने नारदको गिरितट नामक नगरीका राज्य भेंटमें दे दिया। नारदने बहुत समय तक उस राज्यका सुख भोगा। अन्तमें संसारसे उदासीन होकर उसने जिनदीक्षा ग्रहण करली। मुनि होकर उसने अनेक जीवोंको कल्याणके मार्गमें लगाया और तपस्या द्वारा पवित्र रत्नत्रयकी आराधना कर आयुके अन्तमें वह सर्वार्थसिद्धि गया, जो कि सर्वोत्तम सुखका स्थान है। सच है, जैनधर्मकी कृपासे भव्य पुरुषोंको क्या प्राप्त नहीं होता?

निरभिमानी नारद अपने धर्म पर बड़ा दृढ़ था। उसने समय समय पर और और धर्मवालोंके साथ शास्त्रार्थमें विजय प्राप्त कर जैनधर्मकी खूब प्रभावना की। वह जिनशासनरूप महान् समुद्रके वढ़ानेवाला चन्द्रमा था। ब्राह्मणवंशका एक चमकता हुआ रत्न था। अपनी सत्यताके प्रभावसे उसने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त करली थी। अन्तमें वह तपस्या कर सर्वार्थसिद्धि गया। वह महात्मा नारद सबका कल्याण करे।

२७–श्रीभूति-पुरोहितकी कथा ।



जिन्हें स्वर्गके देवता बड़ी भक्तिके साथ पूजते हैं, उन सुखके देनेवाले जिनभगवान्‌को नमस्कार कर मैं श्रीभूति पुरोहितका उपाख्यान कहता हूं, जो चोरी करके दुर्गतिमें गया है ।

सिंहपुर नामका एक सुन्दर नगर था । उसका राजा सिंहसेन था । सिंहसेनकी रानीका नाम रामदत्ता था। राजा बुद्धिमान् और धर्मपरायण था । रानी भी बड़ी चतुर थी। सब कामोंको वह उत्तमताके साथ करती थी । राजपुरोहित श्रीभूति था । उसने मायाचारीसे अपने सम्बन्धमें यह बात प्रसिद्ध कर रक्खी थी कि मैं बड़ा सत्य बोलनेवाला हूं । बेचारे भोले लोग उस कपटीके विश्वासमें आकर अनेक बार ठगे जाते थे । पर उसके कपटका पता किसीको नहीं पड़ पाता था। ऐसे ही एक दिन एक विदेशी उसकी चुंगलमें आ फँसा। इसका नाम समुद्रदत्त था। यह पद्मखण्डपुरका रहनेवाला था। इसके पिता सुमित्र और माता सुमित्रा थी। समुद्रदत्तकी इच्छा एक दिन व्यापारार्थ विदेश जानेकी हुई। इसके पास पाँच बहुत कीमती रत्न थे। पद्मखण्डपुरमें कोई ऐसा विश्वस्त पुरुष इसके ध्यानमें नहीं आया, जिसके पास यह अपने रत्नोंको रखकर निश्चिन्त हो सकता था । इसने श्रीभूतिकी प्रसिद्धि सुन रक्खी थी। इस लिए उसके पास रत्न रखनेका

विचार कर यह सिंहपुर आया। यहाँ श्रीभूतिसे मिलकर इसने अपना विचार उसे कह सुनाया। श्रीभूतिने इसके रत्नोंका रखना स्वीकार कर लिया। समुद्रदत्तको इससे बड़ी खुशी हुई और साथ ही वह उन रत्नोंको श्रीभूतिको सौंपकर आप रत्नद्वीपके लिए रवाना होगया। वहाँ कई दिनों तक ठहर कर इसने बहुत धन कमाया। जब यह वापिस लौटकर जहाज द्वारा अपने देशकी ओर आ रहा था तब पापकर्मके उदयसे इसका जहाज टकरा कर फट गया। बहुतसे आदमी डूब मरे। बहुत ठीक लिखा है, कि विना पुण्यके कभी कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। समुद्रदत्त इस समय भाग्यसे मरते मरते बच गया। इसके हाथ जहाजका एक छोटासा टुकड़ा लग गया। यह उस पर बैठकर बड़ी कठिनताके साथ किसी तरह राम राम करता किनारे आ लगा। यहाँसे यह सीधा श्रीभूति पुरोहितके पास पहुँचा। श्रीभूति इसे दूरसे देखकर ही पहिचान गया। वह धूर्त तो था ही, सो उसने अपने आसपासके बैठे हुए लोगोंसे कहा—देखिये, वह कोई दरिद्र भिखमंगा आ रहा है। अब यहाँ आकर व्यर्थ सिर खाने लगेगा। जिनके पास थोड़ा-बहुत पैसा होता है या जिनकी मान-मर्यादा लोगोंमें अधिक होती है उन्हें इन भिखारियोंके मारे चैन नहीं। एक न एक हर समय सिर-पर खड़ा ही रहता है। हम लोगोंने जो सुना था कि कल एक जहाज फटकर डूब गया है, मालूम होता है यह उसी परका कोई यात्री है और इसका सब धन नष्ट हो जानेसे यह पागल होगया जान पड़ता है। इसकी दुर्दशासे ज्ञात

होता है कि यह इस समय वड़ा दुखी है और इसीसे संभव है कि यह मुझसे कोई वड़ी भारी याचना करे। श्रीभूति तो इस तरह लोगोंको कह ही रहा था कि समुद्रदत्त उसके सामने जा खड़ा हुआ। वह श्रीभूतिको नमस्कार कर अपनी हालत सुनाना आरंभ करता है कि इतनेमें श्रीभूति बोल उठा कि मुझे इतना समय नहीं कि मैं तुम्हारी सारी दुःख-कथा सुनूं। हाँ तुम्हारी इस हालतसे जान पड़ता है कि तुम-पर कोई वड़ी भारी आफत आई है। अस्तु, मुझे तुम्हारे दुःखमें समवेदना है। अच्छा जाइए, मैं नौकरोंसे कहे देता हूं कि वे तुम्हें कुछ दिनोंके लिए खानेका सामान दिलवादें। यह कहकर ही उसने नौकरोंकी ओर मुहँ फेरा और आठ दिन तकका खानेका सामान समुद्रदत्तको दिलवा देनेके लिए उनसे कह दिया। वेचारा समुद्रदत्त तो श्रीभूतिकी वातें सुनकर हत-बुद्धि होगया। उसे काटो तो खून नहीं। उसने घवराते घवराते कहा–महाराज, आप यह क्या करते हैं? मेरे जो आपके पास पाँच रत्न रक्खे हैं, मुझे तो वे ही दीजिए। मैं आपका सामान-वामान नहीं लेता। श्रीभूतिने रत्नका नाम सुनते ही अपने चेहरेपरका भाव वदला और त्यौरी चढ़ाकर जोरके साथ कहा–रत्न! अरे दरिद्र! तेरे रत्न और मेरे पास! यह तू क्या वक रहा है? कह तो सही वास्तवमें तेरी मंशा क्या है? क्या मुझे तू वदनाम करना चाहता है? तू कौन, और कहाँका रहनेवाला? मैं तुझे जा-नता तक नहीं, फिर तेरे रत्न मेरे पास आये कहाँसे? जा जा, पागल तो नहीं होगया है? ठीक ध्यानसे विचार कर। किसी

औरके यहाँ रखकर उसके भ्रमसे मेरे पास आगया जान पड़ता है। इसके बाद ही उसने लोगोंकी ओर नजर फेरकर कहा—देखिये साहब, मैंने कहा था न ? कि यह मेरेसे कोई बड़ी भारी याचना न करे तो अच्छा। ठीक वही हुआ। बतलाइए, इस दरिद्रके पास रत्न आ कहाँसे सकते हैं ? धन नष्ट हो जानेसे जान पड़ता है यह बहक गया है। यह कहकर श्रीभूतिने नौकरों द्वारा समुद्रदत्तको घर बाहर निकलवा दिया। नीतिकारने ठीक लिखा है—जो लोग पापी होते हैं और जिन्हें दूसरोंके धनकी चाह होती है, वे दुष्ट पुरुष ऐसा कौन बुरा काम है जिसे लोभके वश हो न करते हों ? श्रीभूति ऐसे ही पापियोंमेंसे एक था, तब वह कैसे ऐसे निंद्य कर्मसे बचा रह सकता था ? पापी श्रीभूतिसे ठगा जाकर बेचारा समुद्रदत्त सचमुच ही पागल होगया। वह श्रीभूतिके मकानसे निकलते ही यह चिल्लाता हुआ, कि पापी श्रीभूति मेरे रत्न नहीं देता है, सारे शहरमें घूमने लगा। पर उसे एक भिखारीके वेषमें देखकर किसीने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया। उलटा उसे ही सब पागल बताने लगे। समुद्रदत्त दिनभर तो इस तरह चिल्लाता हुआ सारे शहरमें घूमता फिरता और जब रात होती तब राजमहलके पीछे एक वृक्ष पर चढ़ जाता और सारी रात उसी तरह चिल्लाया करता। ऐसा करते करते उसे कोई छह महिना बीत गये। समुद्रदत्तका इस तरह रोज रोज चिल्लाना सुनकर एक दिन महारानी रामदत्ताने सोचा कि बात वास्तवमें क्या है, इसका पता जरूर लगाना चाहिए। तब एक दिन

दासीको बुलाकर चुपकेसे जनेऊ देकर भेज दिया। दासीके वापिस आने तक रानी और भी पुरोहितजीको खेलमें लगाये रही। इतनेमें दासी भी आ गई। उसे प्रसन्न देखकर रानीने अपना मनोरथ पूर्ण हुआ समझा। उसने उसी समय खेल बन्द किया और पुरोहितजीकी अंगूठी और जनेऊ उन्हें वापिस देकर वह बोली–आप सचमुच खेलनेमें बड़े चतुर हैं। आपकी चतुरता देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुई। आज मैंने सिर्फ इस चतुरताको देखनेके लिए ही आपको यह कष्ट दिया था। आप इसके लिए मुझे क्षमा करें। अब आप खुशीके साथ जा सकते हैं।

बेचारे पुरोहितजी रानीके महलसे विदा हुए। उन्हें इसका कुछ भी पता नहीं पड़ा कि रानीने मेरी आँखोंमें दिन दहाड़े धूल झोंककर मुझे कैसा उल्लू बनाया है। बात असलमें यह थी कि रानीने पहले पुरोहितजीकी जीती हुई अंगूठी देकर दासीको उनकी स्त्रीके पास समुद्रदत्तके रत्न लेनेको भेजा, पर जब पुरोहितजीकी स्त्रीने अंगूठी देखकर भी उसे रत्न नहीं दिये तब यज्ञोपवीत जीता और उसे दासीके हाथ देकर फिर भेजा। अबकी बार रानीका मनोरथ सिद्ध हुआ। पुरोहितजीकी स्त्रीने दासीकी बातोंसे डरकर झटपट रत्नोंको निकाल दासीके हवाले कर दिया। दासीने लाकर रत्नोंको रानीको दे दिये। रानी प्रसन्न हुई। पुरोहितजी तो खेलते रहे और उधर उनका भाग्य फूट गया, इसकी उन्हें रत्तीभर भी खबर नहीं पड़ी।

रानीने रत्नोंको लेजाकर महाराजके सामने रख दिये और साथ ही पुरोहितजीके महलसे रवाना होनेकी खबर दी।

महाराजने उसी समय उनके गिरफ्तार करनेकी सिपाहियोंको आज्ञा की। बेचारे पुरोहितजी अभी महलके बाहर भी नहीं हुए थे कि सिपाहियोंने जाकर उनके हाथोंमें हथकड़ी डाल दी और उन्हे दरवारमें लाकर उपस्थित कर दिया।

पुरोहितजी यह देखकर भौंचकसे रह गये। उनकी समझमें नहीं आया कि यह एकाएक क्या होगया और कौन मैंने ऐसा भारी अपराध किया जिससे मुझे एक शब्द तक न बोलने देकर मेरी यह दशा की गई। वे हत-बुद्धि होगये। उन्हें इस बातका और अधिक दुःख हुआ कि मैं एक राजपुरोहित, ऐसा वैसा गैर आदमी नहीं और मेरी यह दशा? और वह विना किसी अपराधके? क्रोध, लज्जा, और आत्मग्लानिसे उनकी एक विलक्षण ही दशा होगई।

रानीने जैसे ही रत्नोंको महाराजके सामने रक्खा, महाराजने उसी समय उन्हें अपने और बहुतसे रत्नोंमें मिलाकर समुद्रदत्तको बुलाया और उससे कहा—अच्छा, देखो तो इन रत्नोंमें तुम्हारे रत्न हैं क्या? और हों तो उन्हें निकाललो। महाराजकी आज्ञा पाकर समुद्रदत्तने उन सब रत्नोंमेंसे अपने रत्नोंको पहिचान कर निकाल लिया। सच है, सज्जन पुरुष अपनी ही वस्तुको लेते हैं। दूसरोंकी वस्तु उन्हें विष समान जान पड़ती हैं। समुद्रदत्तने अपने रत्न पहिचान लिए, यह देख महाराज उस पर इतने प्रसन्न हुए कि उसे उन्होंने अपना राजसेठ बना लिया।

महाराज त्वरित ही दरबारमें आये। जैसी ही उनकी दृष्टि पुरोहितजी पर पड़ी, उन्होंने बड़ी ग्लानिकी दृष्टिसे उनकी

ओर देखकर गुस्सेके साथ कहा—पापी, ठगी, मैं नहीं जानता था कि तू हृदयका इतना काला होगा और ऊपरसे ऐसा ढोंगीका वेष लेकर मेरी गरीब और भोली प्रजाको इस तरह धोखेमें फँसायगा? न मालूम तेरी इस कपटवृत्तिने मेरे कितने बन्धुओंको घर घरका भिखारी बनाया होगा? ऐ पापके पुतले, लोभके जहरीले सर्प, तुझे देखकर हृदय चाहता तो यह है, कि तुझे इसकी कोई ऐसा भयंकर सजा दी जाए, जिससे तुझे भी इसका ठीक प्रायश्चित्त मिल जाय और सर्व साधारणको दुराचारियोंके साथ मेरे कठिन शासनका ज्ञान हो जाय; उससे फिर कोई ऐसा अपराध करनेका साहस न करे। परन्तु तू ब्राह्मण है, इस लिए तेरे कुलके लिहाजसे तेरी सजाके विचारका भार मैं अपने मंत्री-मंडल पर छोड़ता हूं। यह कहकर ही राजाने अपने धर्माधिकारियोंकी ओर देखकर कहा—"इस पापीने एक विदेशी यात्रीके, जिसका कि नाम समुद्रदत्त है और वह यहीं बैठा हुआ भी है, कीमती पांच रत्नोंको हड़प कर लिया है, जिनको कि यात्रीने समुद्रयात्रा करनेके पहले श्रीभूतिको एक विश्वस्त और राजप्रतिष्ठित समझकर धरोहरके रूपमें रक्खे थे। दैवकी विचित्र गतिसे यात्रासे लौटते समय यात्रीका जहाज एकाएक फट गया और साथ ही उसका सब माल-असवाव भी डूब गया। यात्री किसी तरह बच गया। उसने जाकर पुरोहित श्रीभूतिसे अपनी धरोहर वापिस लौटा देनेके लिए प्रार्थना की। पुरोहितके मनमें पापका भूत सवार हुआ। बेचारे गरीब यात्रीको उसने धक्के देकर घर बाहर निकलवा दिया। यात्री अपनी इस

हालतसे पागलसा होकर सारे शहरमें यह पुकार मचाता हुआ महिनों फिरा किया कि श्रीभूतिने मेरे रत्न चुरा लिये, पर उस पर किसीका ध्यान न जाकर उलटा सबने उसे ही पागल करार दिया। उसकी यह दशा देखकर महारानीको बड़ी दया आई। यात्री बुलाया जाकर उससे सब बातें दर्याफ्त की गईं। बादमें महारानीने उपाय द्वारा वे रत्न अपने हस्तगत कर लिये। वे रत्न समुद्रदत्तके हैं या नहीं इसकी परीक्षा करनेके आशयसे उन पाँचों रत्नोंको मैंने बहुतसे और रत्नोंमें मिला दिये। पर आश्चर्य है कि यात्रीने अपने रत्नोंको पहिचान कर निकाल लिये। श्रीभूतिके जिम्मे धरोहर हड़प कर जानेका गुरुतर अपराध है। इसके सिवा धोखेबाजी, ठगाई आदि और भी बहुतसे अपराध हैं। इसकी इसे क्या सजा दी जाय, इसका आप विचार करें।"

धर्माधिकारियोंने आपसमें सलाह कर कहा—महाराज, श्रीभूति पुरोहितका अपराध बड़ा भारी है। इसके लिए हम तीन प्रकारकी सजायें नियत करते हैं। उनमेंसे फिर जिसे यह पसन्द करे, स्वीकार करे। या तो इसका सर्वस्व हरण कर लिया जाकर इसे देश बाहर कर दिया जाय, या पहलवानोंकी बत्तीस मुक्कियाँ इस पर पड़ें, या तीन थालीमें भरे हुए गोबरको यह खा जाय। श्रीभूतिसे सजा पसन्द करनेको कहा गया। पहले उसने गोबर खाना चाहा, पर खाया नहीं गया, तब मुक्कियाँ खानेको कहा। मुक्कियाँ पडना शुरू हुई। कोई दश पन्द्रह मुक्कियाँ पड़ी होंगी कि पुरोहितजीकी अकल ठिकाने आगई। आप एकदम चक्कर खाकर जमीन पर ऐसे गिरे कि पीछे उठे ही

नहीं। महा आर्त्तध्यानसे उनकी मृत्यु हुई। वे दुर्गतिमें गये। धनमें अत्यन्त लम्पटताका उन्हें उपयुक्त प्रायश्चित्त मिला। इस लिए जो भव्य पुरुष हैं, उन्हें उचित है कि वे चोरीको अत्यन्त दुःखका कारण समझकर उसका परित्याग करें और अपनी बुद्धिको पवित्र जैनधर्मकी ओर लगावें, जो ऐसे महापापोंसे बचानेवाला है।

वे जिनभगवान्, जो सब सन्देहोंके नाश करनेवाले और स्वर्गके देवों और विद्याधरों द्वारा पूज्य हैं, वह जिन-वाणी, जो सब सुखोंकी खान है और मेरे गुरु श्रीप्रभा-चन्द्र, ये सब मुझे मंगल प्रदान करें–मुझे कल्याणका मार्ग बतलावें।

२८–नीलीकी कथा।



नभगवान्के चरणोंको, जो कि कल्याणके करनेवाले हैं, नमस्कार कर श्रीमती नीली सुन्दरीकी मैं कथा कहता हूं। नीलीने चौथे अणुव्रत-ब्रह्मचर्यकी रक्षा कर प्रसिद्धि प्राप्त की है।

पवित्र भारतवर्षमें लाटदेश एक सुन्दर और प्रसिद्ध देश था। जिनधर्मका वहाँ खूब प्रचार था। वहाँकी प्रजा अपने धर्मकर्म पर बड़ी दृढ़ थी। इससे इस देशकी शोभाको उस समय

कोई देश नहीं पा सकता था। जिस समयकी यह कथा है, तब उसकी प्रधान राजधानी भृगुकच्छ नगर था। यह नगर बहुत सुन्दर और सब प्रकारकी योग्य और कीमती वस्तुओंसे पूर्ण था। इसका राजा तब ,वसुपाल था और वह जिससे अपनी प्रजा सुखी हो, धनी हो, सदाचारी हो, दयालु हो, इसके लिए कोई बात उठा न रखकर सदा प्रयत्नशील रहता था।

यहीं एक सेठ रहता था। उसका नाम था जिनदत्त। जिनदत्तकी शहरके सेठ साहूकारोंमें बड़ी इज्जत थी। वह धर्मशील और जिनभगवान्का भक्त था। दान, पूजा, स्वाध्याय आदि पुण्यकर्मोंको वह सदा नियमानुसार किया करता था। उसकी धर्मप्रियाका नाम जिनदत्ता था। जैसा जिनदत्त धर्मात्मा और सदाचारी था, उसकी गुणवती साध्वी स्त्री भी उसीके अनुरूप थी और इसीसे इनके दिन बड़े ही सुखके साथ बीतते थे। अपने गार्हस्थ्य सुखको स्वर्ग सुखसे भी कहीं बढ़कर इन्होंने बना लिया था। जिनदत्ता बड़ी उदार प्रकृतिकी स्त्री थी। वह जिसे दुखी देखती उसकी सब तरह सहायता करती, और उनके साथ प्रेम करती। उसके सन्तानमें केवल एक पुत्री थी। उसका नाम नीली था। अपने मातापिताके अनुरूप ही उसमें गुण, और सदाचारकी सृष्टि हुई थी। जैसे सन्तोंका स्वभाव पवित्र होता है, नीली भी उसी प्रकार बड़े पवित्र स्वभावकी थी।

इसी नगरमें एक और वैश्य रहता था। इसका नाम समुद्रदत्त था। यह जैनी नहीं था। इसकी बुद्धि बुरे उपदेशों-

को सुन-सुनकर बड़ी मट्टी होगई थी। अपने हितकी ओर कभी इसकी दृष्टि नहीं जाती थी। इसकी स्त्रीका नाम सागरदत्ता था। इसके एक पुत्र था। उसका नाम था सागरदत्त। सागरदत्त एक दिन अचानक जिनमन्दिरमें पहुंच गया। इस समय नीली भगवान्‌की पूजा कर रही थी। वह एक तो स्वभावसे ही बड़ी सुन्दरी थी। इस पर उसने अच्छे अच्छे रत्न, जड़े गहने और बहुमूल्य वस्त्र पहर रक्खे थे। इससे उसकी सुन्दरता और भी बढ़ गई थी। वह देखनेवालोंको ऐसी जान पड़ती थी, मानों कोई स्वर्गकी देव-बाला भगवान्‌की खड़ी खड़ी पूजा कर रही है। सागरदत्त उसकी भुवनमोहिनी सुन्दरताको देखकर मुग्ध होगया। कामने उसके मनको बेचैन कर दिया। उसने पास ही खड़े हुए अपने मित्रसे कहा—यह है कौन? मुझे तो नहीं जान पड़ता कि यह मध्यलोककी बालिका हो। या तो यह कोई स्वर्ग-बाला है, या नागकुमारी अथवा विद्याधर कन्या; क्योंकि मनुष्योंमें इतना सुन्दर रूप होना असंभव है।

सागरदत्तके मित्र प्रियदत्तने नीलीका परिचय देते हुए कहा कि यह तुम्हारा भ्रम है, जो तुम ऐसा कहते हो कि ऐसी सुन्दरता मनुष्योंमें नहीं हो सकती। तुम जिसे स्वर्ग-बाला समझ रहे हो वह न स्वर्ग-बाला है, न नागकुमारी और न किसी विद्याधर वगैरहकी ही पुत्री है; किन्तु मनुष्यनी है और अपने इसी शहरमें रहनेवाले जिनदत्त सेठके कुलकी एकमात्र प्रकाश करनेवाली उसकी नीली नामकी कन्या है।

अपने मित्र द्वारा नीलीका हाल जानकर सागरदत्त आश्चर्यके मारे दंग रह गया। साथ ही कामने उसके हृदय पर अपना पूरा अधिकार किया। वह घर पर आया सही, पर अपने मनको वह नीलीके पास ही छोड़ आया। अब वह दिन रात नीलीकी चिन्तामें घुल-घुलकर दुबला होने लगा। खाना-पीना उसके लिए कोई आवश्यक काम नहीं रहा। सच है, जिस कामके वश होकर श्रीकृष्ण लक्ष्मी द्वारा, महादेव गंगा द्वारा और ब्रह्मा उर्वशी द्वारा अपना प्रभुत्व-ईश्वरपना खो चुके तब बेचारे साधारण लोगोंकी तो कथा ही क्या कही जाय?

सागरदत्तकी हालत उसके पिताको जान पड़ी। उसने एक दिन सागरदत्तसे कहा-देखो, जिनदत्त जैनी है, वह कभी अपनी कन्याको अजैनीके साथ नहीं ब्याहेगा। इस लिए तुम्हें यह उचित नहीं कि तुम अप्राप्य वस्तुके लिए इस प्रकार तड़फ तड़फ कर अपनी जानको जोखिममें डालो। तुम्हें यह अनुचित विचार छोड़ देना चाहिए। यह कहकर समुद्रदत्तने पुत्रके उत्तर पानेकी आशासे उसकी ओर देखा। पर जब सागरदत्त उसकी बातका कुछ भी जवाब न देकर नीची नजर किये ही बैठा रहा तब समुद्रदत्तको निराश हो जाना पड़ा। उसने समझ लिया कि इसके दो ही उपाय हैं। या तो पुत्रके जीवनकी आशासे हाथ धो बैठना या किसी तरह सेठकी लड़कीके साथ इसको ब्याह देना। पुत्रके जीनेकी आशाको छोड़ बैठनेकी अपेक्षा उसने किसी तरह नीलीके साथ उसका ब्याह कर देना ही अच्छा समझा। सच है, सन्तानका मोह मनुष्यसे सब कुछ करा

सकता है। इस सम्बन्धके लिए समुद्रदत्तके ध्यानमें एक युक्ति आई। वह यह कि इस दशामें उसने अपना और पुत्रका जैनी बनजाना बहुत ही अच्छा समझा और वे बन भी गये। अबसे वे मन्दिर जाने लगे, भगवानकी पूजा करने लगे, स्वाध्याय, व्रत, उपवास भी करने लगे। मतलब यह कि थोड़े ही दिनोंमें पिता-पुत्रने अपने जैनी हो जानेका लोगोंको विश्वास करा दिया और धीरे धीरे जिनदत्तसे भी इन्होंने अधिक परिचय बढ़ा लिया। बेचारा जिनदत्त सरल स्वभावका था और इसी लिए वह सबहीको अपनासा ही सरल-स्वभावी समझता था। यही कारण हुआ कि समुद्रदत्तका चक्र उस पर चल गया। उसने सागरदत्तको अच्छा पढ़ा लिखा, खूबसूरत और अपनी पुत्रीके योग्य वर समझकर नीलीको उसके साथ ब्याह दिया। सागरदत्तका मनोरथ सिद्ध हुआ। उसे नया जीवन मिला। इसके बाद थोड़े दिनों तक तो पिता-पुत्रने और अपनेको ढोंगी वेषमें रक्खा, पर फिर कोई प्रसंग लाकर वे पीछे बुद्धधर्मके माननेवाले होगये। सच है, मायाचारियों–पापियोंकी बुद्धि अच्छे धर्म पर स्थिर ही नहीं रहती। यह बात प्रसिद्ध है कि कुत्तेके पेटमें घी नहीं ठहरता।

जब इन पिता-पुत्रने जैनधर्म छोड़ा तब इन दुष्टोंने यहाँ तक अन्याय किया कि बेचारी नीलीका उसके पिताके घरपर जाना-आना भी बन्द कर दिया। सच है, पापी लोग क्या नहीं करते! जब जिनदत्तको इनके मायाचारका यह हाल जान पड़ा तब उसे बहुत पश्चात्ताप हुआ–बेहद दुःख

हुआ। वह सोचने लगा—क्यों मैंने अपनी प्यारी पुत्रीको अपने हाथोंसे कूएमें ढकेल दिया? क्यों मैंने उसे कालके हाथ सौंप दिया? सच है, दुर्जनोंकी संगतिसे दुःखके सिवा कुछ हाथ नहीं पड़ता। नीचे जलती हुई अग्नि भी ऊपरकी छतको काली कर देती है।

जिनदत्तने जैसा कुछ किया उसका पश्चात्ताप उसे हुआ। पर इससे क्या नीली दुखी हो? उसका यह धर्म था क्या? नहीं! उसे अपने भाग्यके अनुसार जो पति मिला, उसे ही वह अपना देवता समझती थी और उसकी सेवामें कभी रत्तीभर भी कमी नहीं होने देती थी। उसका प्रेम पवित्र और आदर्श था। यही कारण था कि वह अपने प्राणनाथकी अत्यन्त प्रेम-पात्र थी। विशेष इतना था:कि नीलीने बुद्धधर्मके माननेवालोंके यहाँ आकर भी जिनधर्मको न छोड़ा था। वह बराबर भगवान्‌की पूजा, शास्त्र-स्वाध्याय, व्रत, उपवास—आदि पुण्यकर्म करती थी, धर्मात्माओंसे निष्कपट प्रेम करती थी और पात्रोंको दान देती थी। मतलब यह कि अपने धर्मकर्ममें उसे खूब श्रद्धा थी और भक्तिपूर्वक वह उसे पालती थी। पर खेद है कि समुद्रदत्तकी आँखोंमें नीलीका यह कार्य भी खटका करता था। उसकी इच्छा थी कि नीली भी हमारा ही धर्म पालने लगे। और इसके लिए उसने यह सोचकर, कि बुद्ध साधुओंकी संगतिसे या दर्शनसे या उनके उपदेशसे यह अवश्य बुद्धधर्मको मानने लगेगी। एक दिन नीलीसे कहा—पुत्री, तू पात्रोंको तो सदा दान दिया ही करती है, तब एक दिन अपने धर्मके ही बुद्धसाधुओंको भी तो दान दे।

नीलीने श्वसुरकी बात मानली। पर उसे जिनधर्मके साथ उनकी यह ईर्षा ठीक नहीं लगी और इसी लिए उसने कोई ऐसा उपाय भी अपने मनमें सोच लिया, जिससे फिर कभी उससे ऐसा मिथ्या आग्रह किया जाकर उसके धर्म-पालनमें किसी प्रकारकी बाधा न दी जाय। फिर कुछ दिनों बाद उसने मौका देखकर कुछ बुद्ध साधुओंको भोजनके लिए बुलाया। वे आये। उनका आदरसत्कार भी हुआ। वे एक अच्छे सुन्दर कमरेमें बैठाये गये। इधर नीलीने उनके जूतोंको एक दासी द्वारा मँगवा लिया और उनका खूब बारीक बूरा बनवाकर उसके द्वारा एक किस्मकी बहुत ही बढ़िया मिठाई तैयार करवाई। इसके बाद जब वे साधु भोजन करनेको बैठे तब और और व्यंजन-मिठाइयोंके साथ वह मिठाई भी उन्हें परोसी गई। सबने उसे बहुत पसन्द किया। भोजन समाप्त हुए बाद जब जानेकी तैयारी हुई, तब वे देखते हैं तो जोड़े नहीं हैं। उन्होंने पूछा—जोड़े कहाँ गये? भीतरसे नीलीने आकर कहा—महाराज, सुनती हूं, साधु लोग बड़े ज्ञानी होते हैं, तब क्या आप अपने ही जूतोंका हाल नहीं जानते हैं? और यदि आपको इतना ज्ञान नहीं तो मैं बतला देती हूं कि जूते आपके पेटमें हैं। विश्वासके लिए आप उल्टी कर देखें। नीलीकी बात सुनकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने उल्टी करके देखा तो उन्हें जूतोंके छोटे छोटे बहुतसे टुकड़े देख पड़े। इससे उन्हें बहुत लज्जित होकर अपने स्थान पर आना पड़ा।

नीलीकी इस कार्रवाईसे—अपने गुरुओंके अपमानसे समुद्रदत्त, नीलीकी सासु, ननद आदिको बहुत ही गुस्सा

आया। पर भूल उनकी जो नीली द्वारा उसके धर्मविरुद्ध कार्य उन्होंने करवाना चाहा। इस लिए वे अपना मन मसोसकर रह गये–नीलीसे वे कुछ नहीं कह सके। पर नीलीकी ननदको इससे सन्तोष नहीं हुआ। उसने कोई ऐसा ही छल-कपटकर नीलीके माथे व्यभिचारका दोष मढ़ दिया। सच है, सत्पुरुषों पर किसी प्रकारका ऐब लगा देनेमें पापियोंको तनिक भी भय नहीं रहता। वेचारी नीली अपने पर झूठ-मूठ महान् कलंक लगा सुनकर वड़ी दुखी हुई। उसे कलंकित होकर जीते रहनेसे मर जाना ही उत्तम जान पड़ा। वह उसी समय जिनमन्दिरमें गई और भगवान्के सामने खड़ी होकर उसने प्रतिज्ञा की, कि मैं इस कलंकसे मुक्त हो कर ही भोजन करूंगी, इसके अतिरिक्त मुझे इस जीवनमें अन्नपानीका त्याग है। इस प्रकार वह संन्यास लेकर भगवान्के सामने खड़ी हुई उनका ध्यान करने लगी। इस समय उसकी ध्यान मुद्रा देखनेके योग्य थी। वह ऐसी जान पड़ती थी मानों सुमेरु पर्वतकी स्थिर और सुन्दर जैसी चूलिका हो। सच है, उत्तम पुरुषोंको सुख या दुःखमें जिनेन्द्र भगवान् ही शरण होते हैं, जो अनेक प्रकारकी आपत्तियोंके नष्ट करनेवाले और इन्द्रादि देवों द्वारा पूज्य हैं।

नीलीकी इस प्रकार दृढ़ प्रतिज्ञा और उसके निर्दोष शीलके प्रभावसे पुरदेवताका आसन हिल गया। वह रातके समय नीलीके पास आई और वोली–सतियोंकी शिरोमणि, तुझे इस प्रकार निराहार रहकर प्राणोंको कष्टमें डालना उचित नहीं। सुन, मैं आज शहरके वड़े वड़े प्रतिष्ठित पुरुषोंको

तथा राजाको एक स्वप्न देकर शहरके सब दरवाजे वन्द कर दूंगी। वे तब खुलेंगे जब कि उन्हें कोई शहरकी महासती अपने पाँवोंसे छूएगी। सो जब तुझे राजकर्मचारी यहाँसे उठाकर लेजायँ तब तू उनका स्पर्श करना। तेरे पाँवके लगते ही दरवाजे खुल जायँगे और तू कलंक मुक्त होगी। यह कहकर पुरदेवता चली गई और सब दरवाजोंको वन्दकर उसने राजा वगैरहको स्वप्न दिया।

सवेरा हुआ। कोई घूमनेके लिए, कोई स्नानके लिए और कोई किसी और कामके लिए शहर वाहर जाने लगे। जाकर देखते हैं तो शहर वाहर होनेके सब दरवाजे वन्द हैं। सबको वड़ा आश्चर्य हुआ। वहुत कुछ कोशिशें कीगई, पर एक भी दरवाजा नहीं खुला। सारे शहरमें शोर मच गया। वातकी वातमें राजाके पास खवर पहुँची। इस खवरके पहुँचते ही राजाको रातमें आये हुए स्वप्नकी याद हो उठी। उसी समय एक वड़ी भारी सभा वुलाई गई। राजाने सवको अपने स्वप्नका हाल कह सुनाया। शहरके कुछ प्रतिष्ठित पुरुषोंने भी अपनेको ऐसा ही स्वप्न आया वतलाया। आखिर सबकी सम्मतिसे स्वप्नके अनुसार दरवाजोंका खोलना निश्चित किया गया। शहरकी स्त्रियाँ दरवाजोंका स्पर्श करनेको भेजी गईं। सबने उन्हें पाँवोंसे छूआ, पर दरवाजोंको कोई नहीं खोल सकी। तब किसीने, जो कि नीलीके संन्यासका हाल जानता था, नीलीको उठा लेजाकर उसके पावोंका स्पर्श करवाया। दरवाजे खुल गये। जैसे वैद्य सलाईके द्वारा आखोंको खोल देता है उसी तरह

नीलीने अपने चरणस्पर्शसे दरवाजोंको खोल दिया। नीलीके शीलकी बहुत प्रशंसा हुई। नीली कलंक-मुक्त हुई। उसके अखण्ड शीलप्रभावको देखकर लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। राजा तथा शहरके और और प्रतिष्ठित पुरुषोंने बहुमूल्य वस्त्राभूषणों द्वारा नीलीका खूब सत्कार किया और इन शब्दोंमें उसकी प्रशंसा की—"हे जिनभगवान्के चरण-कमलोंकी भौंरी, तुम खूब फूलो फलो। माता, तुम्हारे शीलका माहात्म्य कौन कह सकता है।" सती नीली अपने धर्मपर दृढ़ रही, उससे उसकी बड़े बड़े प्रतिष्ठित पुरुषोंने प्रशंसा की। इस लिए सर्व साधारणको भी सती नीलीका पथ ग्रहण करना चाहिए।

जिनके वचन सारे संसारका उपकार करनेवाले हैं, जो स्वर्गके देवों और बड़े बड़े राजा महाराजाओंसे पूज्य हैं और जिनका उपदेश किया हुआ पवित्र शील-ब्रह्मचर्य स्वर्ग तथा परम्परा मोक्षका देनेवाला है, वे जिनभगवान् संसारमें सदा काल रहें और उनके द्वारा कर्म-परवश जीवोंको कर्म पर विजय प्राप्त करनेका पवित्र उपदेश सदा मिलता रहे।

२९—कडारपिंगकी कथा।



र्हन्त, जिनवाणी और गुरुओंको नमस्कार कर, कडारपिंगकी, जो कि स्वदारसन्तोष-व्रत-ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट हुआ है, कथा लिखी जाती है।

कांपिल्य नामका एक प्रसिद्ध शहर था। उसके राजाका नाम नरसिंह था। नरसिंह बुद्धिमान् और धर्मात्मा थे। अपने राज्यका पालन वे नीतिके साथ करते थे। इस लिए प्रजा उन्हें बहुत चाहती थी।

राजमंत्रीका नाम सुमति था। इसके धनश्री स्त्री और कडारपिंग नामका एक पुत्र था। कडारपिंगका चाल-चलन अच्छा नहीं था। वह बड़ा कामी था। इसी नगरमें एक कुबेरदत्त सेठ रहता था। यह बड़ा धर्मात्मा और पूजा, प्रभावनाका करनेवाला था। इसकी स्त्री प्रियंगुसुन्दरी सरल स्वभावकी, पुण्यवती और बहुत सुन्दरी थी।

एक दिन कडारपिंगने प्रियंगुसुन्दरीको कहीं जाते देख लिया। उसकी रूप-मधुरिमाको देखकर इसका मन बेचैन हो उठा। यह जिधर देखता उधर ही इसे प्रियंगुसुन्दरी दिखने लगी। प्रियंगुसुन्दरीके सिवा इसे और कोई वस्तु अच्छी न लगने लगी। कामने इसे आपेसे भुला दिया। बड़ी कठिनतासे उस दिन यह घर पर पहुँच पाया। इसे इस तरह बेचैन और भ्रम-बुद्धि देखकर इसकी माको बड़ी चिन्ता हुई। उसने इससे पूछा—कडार, क्यों आज एकाएक तेरी यह दशा होगई? अभी तो तू घरसे अच्छी तरह गया था और थोड़ी ही देरमें तेरी यह हालत कैसे हुई? बतला तो, हुआ क्या? क्यों तेरा मन आज इतना खेदित हो रहा है? कडारपिङ्गने कुछ न सोचा-विचारा, अथवा यों कह लीजिए कि सोच विचार करनेकी बुद्धि ही उसमें न थी। यही कारण था कि उसने, कौन पूछनेवाली है, इसका भी कुछ खयाल

न कर कह दिया कि कुबेरदत्त सेठकी स्त्रीको मैं यदि किसी तरह प्राप्त कर सकूं, तो मेरा जीना हो सकता है। सिवा इसके मेरी मृत्यु अवश्यंभावी है। नीतिकार कहते हैं कि कामसे अन्धे हुए लोगोंको धिक्कार है जो लज्जा और भय-रहित होकर फिर अच्छे और बुरे कार्यको भी नहीं सोचते। वेचारी धनश्री पुत्रकी यह निर्लज्जता देखकर दंग रह गई। वह इसका कुछ उत्तर न देकर सीधी अपने स्वामीके पास गई और पुत्रकी सब हालत उसने उनसे कह सुनाई। सुमति एक राजमंत्री था और बुद्धिमान् था। उसे उचित था कि वह अपने पुत्रको पापकी ओरसे हटानेका यत्न करता, पर उसने इस डरसे, कि कहीं पुत्र मर न जाय, उलटा पाप-कार्यका सहायक बननेमें अपना हाथ वटाया। सच है, विनाश-काल जव आता है तब बुद्धि भी विपरीत हो जाया करती है। ठीक यही हाल सुमतिका हुआ। वह पुत्रकी आशा पूरी करनेके लिए एक कपट-जाल रचकर राजाके पास गया और बोला—महाराज, रत्नद्वीपमें एक किंजल्क जातिके पक्षी होते हैं, वे जिस शहरमें रहते हैं वहाँ महामारी, दुर्भिक्ष, रोग, अपमृत्यु—आदि नहीं होते तथा उस शहर पर शत्रुओंका चक्र नहीं चल पाता, और न चोर वगैरह उसे किसी प्रका-रकी हानि पहुँचा सकते हैं। और महाराज, उनकी प्राप्तिका भी उपाय सहज है। अपने शहरमें जो कुबेरदत्त सेठ हैं, उनका जाना आना प्रायः वहाँ हुआ करता है और वे हैं भी कार्यचतुर, इस लिए उन पक्षियोंके लानेको आप उन्हें आज्ञा कीजिये। अपने राजमंत्रीकी एक अभूतपूर्व बात सुन-

कर राजा तो पक्षियोंको मँगानेको अकुला उठे। भला, ऐसी आश्चर्य उपजानेवाली बात सुनकर किसे ऐसी अपूर्व वस्तुकी चाह न होगी? और इसी लिए महाराजने मंत्रीकी बातोंपर कुछ विचार न किया। उन्होंने उसी समय कुबेर-दत्तको बुलवाया और सब बात समझाकर उसे रत्नद्वीप जानेको कहा। बेचारा कुबेरदत्त इस कपट-जालको कुछ न समझ सका। वह राजाज्ञा पाकर घर पर आया और रत्नद्वीप जानेका हाल उसने अपनी विदुषी प्रियासे कहा। सुनते ही प्रियंगुसुन्दरीके मनमें कुछ खटका पैदा हुआ। उसने कहा—नाथ, जरूर कुछ दालमें काला है। आप ठगे गये हो। किंजल्क पक्षीकी बात बिल्कुल असंभव है। भला, कहीं पक्षियोंका भी ऐसा प्रभाव हुआ है? तब क्या रत्नद्वीपमें कोई मरता ही न होगा? बिल्कुल झूठ! अपने राजा सरल-स्वभावके हैं सो जान पड़ता है वे भी किसीके चक्रमें आगये हैं। मुझे जान पड़ता है, यह कारस्थान राजमंत्रीका किया हुआ है। उसका पुत्र कडारपिंग महा व्यभिचारी है। उसने मुझे एक दिन मन्दिर जाते समय देख लिया था। मैं उसकी पापभरी दृष्टिको उसी समय पहचान गई थी। मैं जितना ही ध्यानसे इस बात पर विचार करती हूं तो अधिक अधिक विश्वास होता जाता है कि इस षड्यंत्रके रचनेसे मंत्री महाशयकी मंशा बहुत बुरी है। उन्होंने अपनी पुत्रकी आशा पूरी करनेका और कोई उपाय न खोज पाकर आपको विदेश भेजना चाहा है। इस लिए अब आप यह करें कि यहाँसे तो आप रवाना हो जायँ, जिससे कि किसीको

सन्देह न हो, और रात होते ही जहाजको आगे जाने देकर आप वापिस लौट आइये। फिर देखिये कि क्या गुल खिलता है। यदि मेरा अनुमान ठीक निकले तब तो फिर आपके जानेकी कोई आवश्यकता नहीं और नहीं तो दश-पन्द्रह दिन बाद चले जाइयेगा।

प्रियंगुसुन्दरीकी बुद्धिमानी देखकर कुवेरदत्त बहुत खुश हुआ। उसने उसके कहे अनुसार ही किया। जहाज रवाना होगया। जब रात हुई तब कुवेरदत्त चुपचाप घर पर आकर छुप रहा। सच है, कभी कभी दुर्जनोंकी संगतिसे सत्पुरुषोंको भी वैसा ही हो जाना पड़ता है।

जब यह खबर कडारपिङ्गके कानोंमें पहुंची कि कुवेरदत्त रत्नद्वीपके लिए रवाना होगया तो उसकी प्रसन्नताका कुछ ठिकाना न रहा। वह जिस दिनके लिए तरस रहा था—बेचैन हो रहा था वही दिन उसके लिए जब उपस्थित हो गया तब वह क्यों न प्रसन्न होगा? प्रियंगुसुन्दरीके रूपका भूखा और कामसे उन्मत्त वह पापी कडारपिङ्ग बड़ी आशा और उत्सुकतासे कुवेरदत्तके घर पर आया। प्रियंगुसुन्दरीने इसके पहले ही उसके स्वागतकी तैयारीके लिए पाखाना जानेके कमरेको साफ-सुथरा करवाकर और उसमें बिना निवारका एक पलंग बिछवाकर उस पर एक चादर डलवा दी थी। जैसे ही मन्द मन्द मुसकाते हुए कुंवर कडारपिंग आये, उन्हें प्रियंगुसुन्दरी उस कमरेमें लिवा लेगई और पलंग पर बैठनेका उनसे उसने इशारा किया। कडारपिङ्ग प्रियंगुसुन्दरीको अपना इस प्रकार स्वागत करते देखकर,

जिसका कि उसे स्वप्नमें भी खयाल नहीं था, फूलकर कुप्पा होगया। वह समझने लगा, स्वर्ग अब थोड़ा ही ऊंचा रह गया है। पर उसे यह विचार भी न हुआ कि पापका फल बहुत बुरा होता है। खुशीमें आकर प्रियंगुसुन्दरीके इशारेके साथ ही जैसा वह पलंग पर बैठा कि धड़ामसे नीचे जा गिरा। जब वहाँकी भीषण दुर्गन्धने उसकी नाकमें प्रवेश किया तब उसे भान हुआ कि मैं कैसे अच्छे स्थान पर आया हूं। वह अपनी करनी पर बहुत पछताया, उसने बहुत आर्जू-मिन्नत अपने छुटकारा पानेके लिए की, पर उसकी इस आजिजी पर ध्यान देना प्रियंगुसुन्दरीको नहीं भाया। उसने उसे पापकर्मका उपयुक्त प्रायश्चित्त दिये विना छोड़ना उचित नहीं समझा। नारकी जैसे नरकोंमें पड़कर दुःख उठाते हैं, ठीक वैसे ही एक राजमंत्रीका पुत्र अपनी सब मान-मर्यादा पर पानी फेरकर अपने किये कर्मोंका फल आज पाखानेमें पड़ा पड़ा भोग रहा है। इस तरह कष्ट उठाते उठाते पूरे छह महिने बीत गये। इतनेमें कुवेरदत्तका जहाज भी रत्नद्वीपसे लौट आया। जहाजका आना सुनकर सारे शहरमें इस वातका शोर मच गया कि सेठ कुवेरदत्त किंजल्क पक्षी ले आये। इधर कुवेरदत्तने कडारपिंगको वाहर निकालकर उसे अनेक प्रकारके पक्षियोंके पीखोंसे खूब सजाया और काला मुहँ करके उसे एक विचित्र ही जीव वना दिया। इसके वाद उसने कडारपिंगके हाथ पांव वांध कर और उसे एक लोहेके पींजरेमें बन्दकर राजाके साम्हने ला उपस्थित किया। पश्चात्

कुबेरदत्तने मुसकुराते हुए यह कह कर, कि देव, यह आपका मँगाया किंजल्क पक्षी उपस्थित है, यथार्थ हाल राजासे कह दिया। सच्चा हाल जानकर राजाको मंत्री पुत्र पर बड़ा गुस्सा आया। उन्होंने उसी समय उसे गधे पर बैठाकर और सारे शहरमें घुमा-फिराकर उसके मार डालनेकी आज्ञा देदी। वही किया भी गया। कडारपिंगको अपनी करनीका फल मिल गया। वह बड़े खोटे परिणामोंसे मर कर नरक गया। सच है, परस्त्रीसक्त पुरुषकी नियमसे दुर्गति होती है। इसके विपरीत जो भव्य-पुरुष जिनभगवान्के उपदेश किये और सुखोंके देनेवाले शीलव्रतके पालनेका सदा यत्न करते हैं, वे पद पद पर आदर-सत्कारके पात्र होते हैं। इस लिए उत्तम पुरुषोंको सदा परस्त्री-त्याग-व्रत ग्रहण किये रहना चाहिए।

भगवान्के उपदेश किये हुए, देवों द्वारा प्रशंसित और स्वर्गमोक्षका सुख देनेवाले पवित्र शीलव्रतका जो मन, वचन, कायकी पवित्रताके साथ पालन करते हैं, वे स्वर्गोंका सुख भोगकर अन्तमें मोक्षके अनुपम सुखको प्राप्त करते हैं।

३०—देवरतिराजाकी कथा।



वलज्ञान जिनका नेत्र है, उन जग-पवित्र जिनभगवान्को नमस्कार कर देवरति नामक राजाका ‍उ' जो अयोध्याके स्व

अयोध्या नगरीके राजा देवरति थे। उनकी रानीका नाम रक्ता था। वह बहुत सुन्दरी थी। राजा सदा उसीके नादमें लगे रहते थे। वे बड़े विषयी थे। शत्रु बाहरसे आकर राज्य पर आक्रमण करते, उसकी भी उन्हें कुछ परवा नहीं थी। राज्यकी क्या दशा है, इसकी उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। जो धर्म और अर्थ पुरुपार्थको छोड़कर अनीतिसे केवल कामका सेवन करते हैं—सदा विषयवासनाके ही दास बने रहते हैं, वे नियमसे कष्टोंको उठाते हैं। देवरतिकी भी यही दशा हुई। राज्यकी ओरसे उनकी यह उदासीनता मंत्रियोंको बहुत बुरी लगी। उन्होंने राजकाजके सम्हालने की राजासे प्रार्थना भी की, पर उसका फल कुछ नहीं हुआ। यह देख मंत्रियोंने विचारकर देवरतिके पुत्र जयसेनको तो अपना राजा नियुक्त किया और देवरतिको उनकी रानीके साथ देश बाहर कर दिया। ऐसे कामको धिक्कार है, जिससे मान-मर्यादा धूलमें मिल जाय और अपनेको कष्ट सहना पड़े।

देवरति अयोध्यासे निकल कर एक भयानक वनीमें आये। रानीको भूखने सताया, पास खानेको एक अन्नका कण तक नहीं। अब वे क्या करें? इधर जैसे-जैसे समय बीतने लगा रानी भूखसे बेचैन होने लगी। रानीकी दशा देवरतिसे नहीं देखी गई। और देख भी वे कैसे सकते थे? उसीके लिए तो अपना राजपाट तक उन्होंने छोड़ दिया था। आखिर उन्हें एक उपाय सूझा। उन्होंने उसी समय अपनी जांघ काटकर उसका मांस पकाया और रानीको

खिलाकर उसकी भूख शान्त की। और प्यास मिटानेके लिए उन्होंने अपनी भुजाओंका खून निकाला और उसे एक औषधि बताकर पिलाया। इसके बाद वे धीरे धीरे यमुनाके किनारे पर आ पहुंचे। देवरतिने रानीको तो एक झाड़के नीचे बैठाया और आप भोजन-सामग्री लेनेको पासके एक गांवमें गये।

यहाँ पर एक छोटासा पर बहुत ही सुन्दर बगीचा था। उसमें एक कोई अपंग मनुष्य चड़स खींचता हुआ और गा रहा था। उसकी आवाज बड़ी मधुर थी। इस लिए उसका गाना बहुत मनोहारी और सुननेवालोंको प्रिय लगता था। उसके गानेकी मधुर आवाज रक्तारानीके भी कानोंसे टकराई। न जाने उसमें ऐसी कौनसी मोहक-शक्ति थी, जो रानीको उसने उसी समय मोह लिया और ऐसा मोहा कि उसे अपने निजत्वसे भी भुला दिया। रानी सब लाज-शरम छोड़कर उस अपंगके पास गई और उससे अपनी पाप-वासना उसने प्रगट की। वह अपंग कोई ऐसा सुन्दर न था, पर रानी तो उस पर जी जानसे न्यौछावर होगई। सच है, "काम न देखे जात कुजात"। राजरानीकी पाप-वासना सुनकर वह घबराकर रानीसे बोला—मैं एक भिखारी और आप राजरानी, तब मेरी आपकी जोड़ी कहाँ ? और मुझे आपके साथ देखकर क्या राजा साहब जीता छोड़ देंगे ? मुझे आपके शूरवीर और तेजस्वी प्रियतमकी सूरत देखकर कँपनी छूटती है। आप मुझे क्षमा कीजिये। उत्तरमें रानी महाशयाने कहा—इसकी तुम चिन्ता न करो। मैं उन्हें तो अभी ही परलोक पहुँचाये

देती हूं। सच है, दुराचारिणी स्त्रियाँ क्या क्या अनर्थ नहीं कर डालतीं। ये तो इधर बातें कर रहे थे कि राजा भी इतनेमें भोजन लेकर आगये। उन्हें दूरसे देखते ही कुलटा रानीने मायाचारसे रोना आरंभ किया। राजा उसकी यह दशा देखकर आश्चर्यमें आगये। हाथके भोजनको एक ओर पटककर वे रानीके पास दौड़े आकर बोले—प्रिये, प्रिये, कहो! जल्दी कहो!! क्या हुआ? क्या किसीने तुम्हें कुछ कष्ट पहुंचाया? तुम क्यों रो रही हो? तुम्हारा आज अकस्मात् रोना देखकर मेरा सब धैर्य छूटा जाता है। बतलाओ, अपने रोनेका कारण, जल्दी बतलाओ? रानी एक लम्बी आह भरकर बोली—प्राणनाथ, आपके रहते मुझे कौन कष्ट पहुंचा सकता है? परन्तु मुझे किसीके कष्ट पहुंचानेसे भी जितना दुःख नहीं होता उससे कहीं बढ़कर आज अपनी इस दशाका दुःख है। नाथ, आप जानते हैं आज आपकी जन्मगांठका दिन है। पर अत्यन्त दुःख है कि पापी दैवने आज मुझे इस भिखारिणीकी दशामें पहुंचा दिया। मेरे पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं। बतलाइए, मैं आज ऐसे उत्सवके दिन आपकी जन्मगांठका क्या उत्सव मनाऊं? सच है नाथ, बिना पुण्यके जीवोंको अथाह शोक-सागरमें डूब जाना पड़ता है। रानीकी प्रेम-भरी बातें सुनकर राजाका गला भर आया, आखोंसे आसू टपक पड़े। उन्होंने बड़े प्रेमसे रानीके मुहँको चूमकर कहा—प्रिये, इसके लिए कोई चिन्ता करनेकी बात नहीं। कभी वह दिन भी आयगा जिस दिन तुम अपनी कामनाओंको पूरी कर सकोगी। और न भी

आये तो क्या ! जब कि तुम जैसी भाग्यशालिनी जिसकी प्रिया है उसे इस बातकी कुछ परवा भी नहीं है। जिसने अपनी प्रियाकी सेवाके लिए अपना राजपाट तक तुच्छ समझा उसे ऐसी ऐसी छोटी बातोंका दुःख नहीं होता। उसे यदि दुःख होता है तो अपनी प्यारीको दुखी देखकर! प्रिये, इस शोकको छोड़ो। मेरे लिए तो तुम ही सब कुछ हो। हाय! ऐसे निष्कपट प्रेमका बदला जान लेकर दिया जायगा, इस बातकी खबर या संभावना बेचारे रतिदेवको स्वप्नमें भी नहीं थी। दैवकी विचित्र गति है।

राजाके इस हार्दिक और सच्चे प्रेमका पापिनी रानीके पत्थरके हृदय पर जरा भी असर न हुआ। वह ऊपरसे प्रेम बताकर बोली–अस्तु, नाथ, जो बात हो ही नहीं सकती उसके लिए पछाताना तो व्यर्थ ही है। पर तब भी मैं अपने चित्तको सन्तोषित करनेको इस पवित्र फूलकी माला द्वारा नाममात्रके ही लिए कुछ करती हूं। यह कहकर रानीने अपने हाथमें जो फूल गूँथनेकी रस्सी थी, उससे राजाको बांध दिया। बेचारा वह तब भी यही समझा कि रानी कोई जन्मगांठकी विधि करती होगी और यही समझ उसने खूब मजबूत बांधे जाने पर भी चूं तक नहीं किया। जब राजा बांध दिया गया और उसके निकलनेका कोई भय नहीं रहा तब रानीने इशारेसे उस अपंगको बुलाया और उसकी सहायतासे पास ही बहनेवाली यमुना नदीके किनारे-पर लेजाकर बड़े ऊँचेसे राजाको नदीमें ढकेल दिया और आप अब अपने दूसरे प्रियतमके पास रहकर अपनी

नीच मनोवृत्तियोंको सन्तुष्ट करने लगी। नीचता और कुलटापनकी हद होगई।

पुण्यका जब उदय होता है तब कोई कितना ही कष्ट क्यों न दे या कैसी ही भयंकर आपत्तिका क्यों न सामना करना पड़े, पर तब भी वह रक्षा पा जाता है। देवरतिके भी कोई ऐसा पुण्य-योग था, जिससे रानीके नदीमें डाल देनेपर भी वह बच गया। कोई गहरी चोट उसके नहीं आई। वह नदीसे निकलकर आगे बढ़ा। धीरे धीरे वह मंगलपुर नामक शहरके निकट आ पहुँचा। देवरति कई दिनों तक बराबर चलते रहनेसे बहुत थक गया था, उसे बीचमें कोई अच्छी जगह विश्राम करनेकी नहीं मिली थी, इस लिए अपनी थकावट मिटानेके लिए वह एक छायादार वृक्षके नीचे सोगया। मानों जैसे वह सुख देनेवाले जैनधर्मकी छत्रछायामें ही सोया हो।

मंगलपुरका राजा श्रीवर्धन था। उसके कोई सन्तान न थी। इसी समय उसकी मृत्यु होगई। मंत्रियोंने यह विचार कर, कि पट्टहाथीको एक जलभरा घड़ा दिया जाकर वह छोड़ा जाय और वह जिसका अभिषेक करे वही अपना राजा हो, एक हाथीको छोड़ा। दैवकी विचित्र लीला है, जो राजा है, उसे वह रंक बना देता है और जो रंक है, उसे संसारका चक्रवर्त्ती सम्राट बना देता है। देवरतिका दैव जब उसके विपरीत हुआ तब तो उसे उसने पथ पथका भिखारी बनाया, और अनुकूल होनेपर पीछा सब राज-योग मिला दिया। देवरति भरनींदमें झाड़के

नीचे सो रहा था। हाथी उधर ही पहुँचा और देवरतिका उसने अभिषेक कर दिया। देवरति बड़े आनन्द-उत्सवके साथ शहरमें लाया जाकर राज्य-सिंहासन पर बैठाया गया। सच है, पुण्य जब पल्लेमें होता है तब आपत्तियां भी सुखके रूपमें परिणत हो जाती हैं। इस लिए सुखकी चाह करनेवालोंको भगवान्‌के उपदेश किये हुए मार्ग द्वारा पुण्य-कर्म करना चाहिए। भगवान्‌की पूजा, पात्रोंको दान, व्रत, उपवास ये सब पुण्य-कर्म हैं। इन्हें सदा करते रहना चाहिए।

देवरति फिर राजा होगये। पर पहले और अबके राजापनमें बहुत फर्क है। अब वे स्वयं सब राज-काज देखा करते हैं। पहलेसे अब उनकी परिणतिमें भी बहुत भेद पड़ गया है। जो बातें पहले उन्हें बहुत प्यारी थीं और जिनके लिए उन्होंने राज्य-भ्रष्ट होना तक स्वीकार कर लिया था, अब वे ही बातें उन्हें अत्यन्त अप्रिय हो उठीं। अब वे स्त्री-नामसे घृणा करते हैं। वे एक कुलकलंकिनीका बदला सारे संसारकी स्त्रियोंको कुलकलंकिनी कहकर लेते हैं। वे अब गुणवती स्त्रियोंका भी मुहँ देखना पसन्द नहीं करते। सच है, जो एकबार दुर्जनों द्वारा ठग जाता है वह फिर अच्छे पुरुषोंके साथ भी वैसा ही व्यवहार करने लगता है। गरम दूधका जला हुआ छाछको भी फूँक फूँककर पीता है। देवरतिकी भी अब विपरीत गति है। अब वे स्त्रियोंको नहीं चाहते। वे सबको दान करते हैं, पर जो अपँग, लूला, लँगड़ा होता है, उसे वे एक अन्नका कण तक देना पाप समझते हैं।

इधर रक्तारानीने बहुत दिनों तक तो वहीं रहकर मजा मौज मारी और बाद वह उस अपँगको एक टोकरेमें रखकर देश

विदेश घूमने लगी। उस टोकरेको शिरपर रखे हुए वह जहाँ पहुँचती अपनेको महासती जाहिर करती और कहती कि माता-पिताने जिसके हाथ मुझे सौंपा वही मेरा प्राणनाथ है- देवता है। उसकी इस ठगाईसे वेचारे लोग ठगे जाकर उसे खूब रुपया पैसा देते। इसी तरह भिक्षा-वृत्ति करती करती रक्ता-रानी मंगलपुरमें आ निकली। वहाँ भी लोगोंकी उसके सतीत्व पर वड़ी श्रद्धा होगई। हाँ सच है, जिन स्त्रियोंने ब्रह्मा, विष्णु, महादेव सरीखे देवताओंको भी ठग लिया, तब साधा-रण लोग उनकी जालमें फँस जायँ इसका आश्चर्य क्या ?

एक दिन ये दोनों गाते हुए राजमहलके सामने आये। इनके सुन्दर गानेको सुनकर ड्योढ़ीवानने राजासे प्रार्थना की-महाराज, सिंहद्वार पर एक सती अपने अपँग पतिको टोकरेमें रखकर और उसे सिर पर उठाये खड़ी है। वे दोनों वड़ा ही सुन्दर गाना जानते हैं। महाराजका वे दर्शन करना चाहते हैं। आज्ञा हो तो मैं उन्हें भीतर आनेदूं। इसके साथ ही सभामें वैठे हुए और और प्रतिष्ठित कर्मचारियोंने भी उनके देखनेकी इच्छा जाहिर की। राजाने एक पड़दा डलवाकर उन्हें वुलवानेकी आज्ञा की।

सती सिर पर टोकरा लिए भीतर आई। उसने कुछ गाया। उसके गानेको सुनकर सव मुग्ध होगये और उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे। राजाने उसकी आवाज सुनकर उसे पहिचान लिया। उसने पड़दा हटवाकर कहा—अहा, सचमुचमें यह महासती है ! इसका सतीत्व मैं वहुत अच्छी तरह जानता हूं। इसके वाद ही उन्होंने अपनी सारी कथा

सभामें प्रगट करदी । लोग सुनकर दातोंतले अँगुली दवा गये । उसी समय महासती रक्ताके शहर बाहर करनेका हुक्म हुआ। देवरतिको स्त्रियोंका चरित देखकर बड़ा वैराग्य हुआ । उन्होंने अपने पहले पुत्र जयसेनको अयोध्यासे बुलवाया और उसे ही इस राज्यका भी मालिक कर आप श्रीयमधराचार्यके पास जिनदीक्षा ले गये, जो कि अनेक सुखोंकी देनेवाली है । साधु होकर देवरतिने खूब तपश्चर्या की, बहुतोंको कल्याणका मार्ग बतलाया और अन्तमें समाधिसे शरीर त्यागकर वे स्वर्गमें अनेक ऋद्धियोंके धारक देव हुए

रक्तारानी सरीखी कुलटा स्त्रियोंका घृणित चरित देखकर और संसार, शरीर, भोगादिकोंको इन्द्र-धनुपकी तरह क्षणिक समझकर जिन देवरति राजाने जिनदीक्षा ग्रहण कर मुनिपद स्वीकार किया, वे गुणोंके खजाने मुनिराज मुझे मोक्ष लक्ष्मीका स्वामी बनावें ।

३१—गोपवतीकी कथा ।



सार द्वारा वन्दना-स्तुति किये गये और सब सुखोंको देनेवाले जिनभगवानको नमस्कार कर गोपवतीकी कथा लिखी जाती है, जिसे सुनकर हृदयमें वैराग्य-भावना जगती है ।

पलासगांवमें सिंहवल नामका एक साधारण गृहस्थ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम गोपवती था। गोपवती बड़े दुष्ट स्वभावकी स्त्री थी। उसकी दिन रातकी खटपटसे बेचारा सिंहवल तवाह होगया। उसे एक पलभरके लिए भी गोपवतीके द्वारा कभी सुख नहीं मिला।

गोपवतीसे तंग आकर एक दिन सिंहवल पासहीके एक पद्मिनीखेट नामके गांवमें गया। वहां उसने अपनी पहली स्त्रीको विना कुछ पूछे-ताछे गुप्त रीतिसे सिंहसेन चौधरीकी सुभद्रा नामकी लड़कीसे, जो कि वहुत ही खूब सूरत थी, ब्याह कर लिया। किसी तरह यह वात गोपवतीको मालूम होगई। सुनते ही क्रोधके मारे वह आग-ववूला होगई। उससे सिंहवलका यह अपराध नहीं सहा गया। वह उसे उसके अपराधकी योग्य सजा देनेकी फिराकमें लगी।

एक दिन शामके कोई सात वजे होंगे कि गोपवती अपने घरसे निकलकर पद्मिनीखेट गई। उस समय कोई ग्यारह वज गये होंगे। गोपवती सीधी सिंहसेनके घर पहुँची। घरके लोगोंने समझा कि कोई आवश्यक कामके लिए यह आई होगी, सवेरा होने पर विशेष पूछ-ताछ करेंगे। यह विचार कर वे सव सोगये। गोपवती भी तव लोगोंको दिखानेके लिए सोगई। पर जव सवको नींद आगई, तव आप चुपकेसे उठी और जहाँ अपनी माके पास वेचारी सुभद्रा सोई हुई थी, वहाँ पहुँचकर उस पापिनीने सुभद्राका मस्तक काट लिया और उसे लेकर आप रातहीमें अपने घर पर आगई। सवेरा होते ही यह हाल सिंहवलको मालूम हुआ। सुभद्राके मुर्देको देखकर उसे वेहद दुःख

हुआ । वह खिन्न मन होकर अपने घर आगया । उसे आया देखकर गोपवती अब उसका बड़ा आदर-सत्कार करने लगी। बड़ा स्नेह प्रगट कर उसे भोजन कराने लगी। पर सिंहवलके हृदय पर तो सुभद्राके मरणकी बड़ी गहरी चोट लगी थी, इस लिए उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता था और वह सदा उदास रहा करता था। और सच भी है, एक महा दुखीको भोजन वगैरहमें क्या प्रीति होती होगी। सिंहवलकी सुभद्राके लिए यह दशा देख गोपवतीका क्रोध और भी बढ़ गया। एक दिन बेचारा सिंहवल उदास मनसे भोजन कर रहा था। यह देख गोपवतीने क्रोधसे सुभद्राका मस्तक लाकर उसकी थालीमें डाल दिया और बोली—हाँ विना इसके देखे तुझे भोजन अच्छा नहीं लगता था; अब तो अच्छा लगेगा न? सुभद्राके सिरको देखकर सिंहवल काँप गया। वह "हाय! यह तो महाराक्षसी है' इस प्रकार जोरसे चिल्लाकर डरके मारे भागने लगा। इतनेमें राक्षसी गोपवतीने पास ही पड़े हुए भालेको उठाकर सिंहवलकी पीठमें इस जोरसे मारा कि वह उसी समय तड़फड़ा कर वहीं पर ढेर होगया। गोपवतीके ऐसे घृणित चरितको देखकर बुद्धिमानोंको उचित है कि वे दुष्ट स्त्रियों पर कभी विश्वास न लावें।

वे कर्मोंके जीतनेवाले जिनेन्द्र भगवान् संसारमें सर्व-श्रेष्ठ कहलावें जो कामरूपी हाथीके मारनेको सिंह हैं, संसारका भय मिटानेवाले हैं, शान्ति, स्वर्ग और मोक्षके देनेवाले हैं और मोक्षरूपी रमणी-रत्नके स्वामी हैं। वे मुझे भी शान्ति प्रदान करें।

३२–वीरवतीकी कथा।



संसारके वन्धु, पवित्रताकी मूर्ति और मुक्तिका—स्वतंत्रताका सुख देनेवावाले जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर वीरवती-का उपाख्यान लिखा जाता है, जो सत्पु-रुषोंके लिए वैराग्यका वढ़ानेवाला है।

राजगृहमें धनमित्र नामका एक सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम धारिणी और पुत्रका दत्त था। भूमिगृह नामक एक और नगर था। उसमें आनन्द नामका एक साधारण गृहस्थ रहता था। इसकी स्त्री मित्रवती थी। इसके एक वीरवती नामकी कन्या हुई। वीरवतीका व्याह दत्तके साथ हुआ। सो ठीक ही है, जो सम्वन्ध दैवको मंजूर होता है उसे कौन रोक सकता है।

यहीं एक चोर रहता था। इसका नाम था गारक। किसी समय वीरवतीने इसे देखा। वह इसकी सुन्दरता पर मुग्ध होगई। एक वार दत्त रत्नद्वीपसे धन कमाकर घरकी ओर रवाना हुआ। रास्तेमें इसकी सुसराल पड़ी। इसे अपनी प्रियतमासे मिले वहुत दिन होगये थे, और यह उससे वहुत प्रेम भी करता था, इस लिए इसने सुसराल होकर घर जाना उचित समझा। यह रास्तेमें एक जंग-लमें ठहरा। यहीं एक सहस्रभट नामके चोरने इसे

देखा। यहांसे चलते समय दत्तके पीछे यह चोर भी विनोदसे हो लिया और साथ साथ भूमिगृहमें आ पहुँचा।

सुसरालमें दत्तका बहुत कुछ आदर-सत्कार हुआ। वीरवती भी बड़े प्रेमके साथ इससे मिली। पर उसका चित्त स्वभाव-प्रसन्न न होकर कुछ बनावटको लिए था। उसका मन किसी गहरी चोटसे जर्जरित है, इस बातको चतुर पुरुष उसके चेहरेके रँगढँगसे बहुत जल्दी ताड़ सकता था। पर सरल-स्वभावी दत्त इसका रत्तीभर भी पता नहीं पा सका। कारण अपनी स्त्रीके सम्बन्धमें उसे स्वप्नमें भी किसी तरहका सन्देह न था। बात यह थी कि जिस चोरके साथ वीरवतीकी आशनाई थी, वह आज किसी बड़े भारी अपराधके कारण सूलीपर चढ़ाया जानेवाला था। वीरवतीको उसीका बड़ा रंज था और इसीसे उसका चित्त चल-विचल हो रहा था। रातके समय जब सब घरके लोग सोगये तब वीरवती अकेली उठी और हाथमें एक तलवार लिए वहीं पहुंची जहाँ अपराधी-सूली पर चढ़ाये जाते थे। इसे घरसे निकलते समय सहस्रभट चोरने देख लिया। वह यह देखनेके लिए कि इतनी रातमें यह अकेली कहाँ जाती है, उसके पीछे पीछे हो लिया। वीरवतीको उसके पाँवोंकी आवाजसे जान पड़ा कि उसके पीछे पीछे कोई आ रहा है, पर रात अँधेरी होनेसे वह उसे देख न सकी। तब उस दुष्टाने अपने हाथकी तलवारका एक वार पीछेकी ओर किया। उससे बेचारे सहस्रभटकी अँगुलियाँ कट गई। तलवारको झटका लगनेसे उसे और दृढ़ विश्वास होगया कि पीछे कोई अवश्य

आ रहा है। वह देखनेके लिए खड़ी होगई, पर उसे कुछ सफलता प्राप्त न हुई। सहस्रभट कुछ ओर पीछे हट गया। वह फिर आगे बढ़ी। पास ही सूलीका स्थान उसे देख पड़ा। वह पीछे आनेवालेकी बात भूलकर दौड़ी हुई अपने जारके पास पहुँची। उसे सूली पर चढ़ाये बहुत समय नहीं हुआ था, इस लिए उसकी अभी कुछ साँसें बाकी थीं। वीरवतीको देखते ही उसने कहा– प्रिये, यही मेरी और तुम्हारी अन्तिम भेंट है। मैं तुम्हारी ही आशा लगाये अब तक जी रहा हूँ, नहीं तो कभीका मरमिटा होता। अब देर न कर मुझ दुखीको अन्तिम प्रेमालिंगन दे सुखी करो और आओ, अपने मुखका पान मेरे मुखमें देओ; जिससे मेरा जीवन जिसके लिए अब तक टिका है उस तुमसी सुन्दरीका आलिंगन कर शान्तिसे परमधाम सिधारे। हाय! इस कामको धिक्कार है, जो मृत्युके मुखमें पड़ा हुआ भी उसे चाहता है।

वीरवतीने अपने जारको सूली परसे उतारनेका कोई उपाय तत्काल न देखकर पासमें पड़े हुए कुछ मुर्दोंको इकट्ठा किया और उन्हें ऊपर तले रखकर वह उन पर चढ़ी और अपना मुँह उसके मुँहके पास लेजाकर बोली–प्रियतम, लो अपनी इच्छा पूरी करो। गारकने वीरवतीके मुँहका पान लेनेके लिए उसके ओठोंको अपने मुँहमें लिया था कि कोई ऐसा धक्का लगा जिससे वीरवतीके पाँव नीचेका मुर्दोंका ढेर खिसक जानेसे वीरवती नीचे आ गिरी और उसके ओठ कटकर गारकके ही मुँहमें रह गये। वीरवती वस्त्रसे अपना मुहँ छिपाकर दौड़ी दौड़ी घर पर आई और अपने पतिके सिरहाने पहुँचकर

उसने एक दम चिल्लाया कि दौड़ो ! दौड़ो !! इस पापीने मेरा ओठ काट लिया और साथ ही बड़े जोरसे वह रोने लगी। उसी समय अड़ोस-पड़ोस और घरके लोगोंने आकर दत्तको बाँध लिया। सच है, पापिनी, कुलटा और अपने वंशका नाश करनेवाली स्त्रियाँ क्या नीच कर्म नहीं कर डालतीं ?

सवेरा हुआ। दत्त राजाके सामने उपस्थित किया गया। उसका क्या अपराध है और वह सच है या झूठ, इसकी कुछ विशेष तलाश न की जाकर एकदम उसके मारनेका हुक्म दिया गया। पर यह सबको ध्यानमें रखना चाहिए कि जब पुण्यका उदय होता है तब मृत्युके समय भी रक्षा हो जाती है। पाठकोंको विनोदी सहस्रभटकी याद होगी। वह वीरवतीके अन्तिम कुकर्म तक उसके आगे पीछे उपस्थित ही रहा है। उसने सच्ची घटना अपनी आँखोंसे देखी है। वह इस समय यहीं उपस्थित था। राजाका दत्तके लिए मारनेका हुक्म सुनकर उससे न रहा गया। उसने अपनी कुछ परवा न कर सब सच्ची घटना राजासे कह सुनाई। राजा सुनकर दंग रह गया। उसने उसी समय अपने पहले हुक्मको रद्दकर निरपराध दत्तको रिहाई दी और वीरवतीको उसके अपराधकी उपयुक्त सजा दी। सच है पुण्यवानोंकी सभी रक्षा करते हैं।

दुष्ट स्त्रियोंका ऐसा घृणित और कलंकित चरित देखकर सबको उचित है कि वे दुःख देनेवाले विषयोंसे अपनी सदा रक्षा करें।

वे महात्मा धन्य हैं, जो भगवान्के उपदेश किये हुए पवित्र शील-व्रतसे विभूपित हैं, कामरूपी क्रूर हाथीको मारनेके लिए सिंह हैं-विषयोंको जिन्होंने जीत लिया है, ज्ञान, ध्यान, आत्मानुभवमें जो सदा मग्न हैं, विषयभोगोंसे निरन्तर उदास हैं, भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेमें जो सूर्य हैं और संसार-समुद्रसे पार करनेमें जो बड़े कर्मवीर खेवटिया हैं, वे सबका कल्याण करें।

३३-सुरत राजाकी कथा।



देवों द्वारा पूजा किये गये जिनभगवान्के चरणोंको भक्ति सहित नमस्कार कर सुरत नामके राजाका हाल लिखा जाता है।

सुरत अयोध्याके राजा थे। इनके पाँचसौ स्त्रियाँ थीं। उनमें पट्टरानीका पद महादेवी सतीको प्राप्त था। राजाका सती पर बहुत प्रेम था। वे रातदिन भोगोंमें ही आसक्त रहा करते थे-उन्हें राजकाजकी कुछ चिन्ता न थी। अन्तःपुरके पहरे पर रहनेवाले सिपाहीसे उन्होंने कह रक्खा था कि जब कोई खास मेरा कार्य हो या कभी कोई साधु-महात्मा यहाँ आवें तो मुझे उनकी सूचना देना। वैसे कभी कुछ कहनेको न आना।

एक दिन पुण्योदयसे एक महिनाके उपवासे दमदत्त और धर्मरुचि मुनि आहारके लिए राजमहलमें आये। उन्हें

देखकर द्वारपाल राजाके पास गया और नमस्कार कर उसने मुनियोंके आनेका हाल उनसे कहा। राजा इस समय अपनी प्राणप्रिया सतीके मुख-कमल पर तिलक-रचना कर रहे थे। वे सतीसे बोले—प्रिये, जब तक कि तुम्हारा तिलक न सूखे, मैं अभी मुनिराजोंको आहार देकर बहुत जल्दी आया जाता हूं। यह कहकर राजा चले आये। उन्होंने मुनिराजोंको भक्तिपूर्वक ऊँचे आसन पर बैठाकर नवधा भक्ति-सहित पवित्र आहार कराया, जो कि उत्तम सुखोंका देनेवाला है। सच है, दान, पूजा, व्रत, उपवासादिसे ही श्रावकोंकी शोभा है और जो इनसे रहित हैं वे फल-रहित वृक्षकी तरह निरर्थक समझे जाते हैं। इस लिए बुद्धिमानोंको उचित है कि वे पात्रदान, जिनपूजा, व्रत उपवासादिक सदा अपनी शक्तिके अनुसार करते रहें।

इधर तो राजाने मुनियोंको दान देकर पुण्य उत्पन्न किया और उधर उनकी प्राणप्रिया अपने विषय-सुखके अन्तराय करनेवाले मुनियोंका आना सुनकर बड़ी दुखी हुई। उसने अपना भला-बुरा कुछ न सोचकर मुनियोंकी निन्दा करना शुरू किया और खूब ही मनमानी उन्हें गालियाँ दीं। सन्तोंका यह कहना व्यर्थ नहीं है कि "इस हात दे, उस हात ले"। सतीके लिए यह नीति चरितार्थ हुई। अपने बाँधे तीव्र पापकर्मोंका फल उसे उसी समय मिल गया। रानीके कोढ़ निकल आया। सारा शरीर काला पड़ गया। उससे दुर्गन्ध निकलने लगी। आचार्य कहते हैं—हलाहल विष खालेना अच्छा है, जो एक ही जन्ममें कष्ट देता है,

पर जन्म जन्ममें दुःख देनेवाली मुनि-निन्दा करना कभी अच्छा नहीं। क्योंकि सन्त-महात्मा तो व्रत, उपवास, शील–आदिसे भूषित होते हैं और सच्चे आत्महितका मार्ग बतानेवाले हैं, वे निन्दा करने योग्य कैसे हों? और ये ही गुरु अज्ञानान्धकारको नष्ट करते हैं इस लिए दीपक हैं, सबका हित करते हैं, इस लिए बन्धु हैं, और संसाररूपी समुद्रसे पार करते हैं, इस लिए कर्मशील खेवटिया हैं। अतः हर प्रयत्न द्वारा इनकी आराधना, सेवा-शुश्रूषा करते रहना चाहिए।

जब राजा मुनिराजोंको आहार देकर निवृत्त हुए तब पीछे वे अपनी प्रियाके पास आगये। आते ही जैसे उन्होंने रानीका काला और दुर्गन्धमय शरीर देखा, वे बड़े अचंभेमें पड़ गये। पूछने पर उन्हें उसका कारण मालूम हुआ। सुनकर वे बहुत खिन्न हुए। संसार, शरीर, भोग उन्हें अब अप्रिय जान पड़ने लगे। उन्हें अपनी रानीका मुनि-निन्दारूप घृणित कर्म देखकर बड़ा वैराग्य हुआ। वे उसी समय सब राज-पाट छोड़कर योगी बन गये और अपना तथा संसारका हित करनेमें उद्यमी बने।

समय पाकर सतीकी मृत्यु हुई। अपने पापके फलसे वह संसाररूपी वनमें घूमने लगी। सो ठीक ही है, अपने किये पुण्य या पापका फल जीवोंको भोगना ही पड़ता है। इस प्रकार संसारकी विचित्र स्थिति जानकर आत्महितके चाहनेवाले सत्पुरुषोंको भगवान्‌के उपदेश किये पवित्र धर्म पर सदा विश्वास रखना चाहिए, जो कि स्वर्ग और मोक्षके सुखका प्रधान कारण है।

३४–विषयोंमें फँसे हुए संसारी जीवकी कथा ।



संसार-समुद्रसे पार करनेवाले सर्वज्ञ भगवानको नमस्कार कर संक्षेपसे संसारी जीवकी दशा दिखलाई जाती है, जो बहुत ही भयावनी है ।

कभी कोई मनुष्य एक भयंकर वनीमें जा पहुँचा । वहाँ वह एक विकराल सिंहको देखकर डरके मारे भागा। भागते भागते अचानक वह एक गहरे कुएमें गिरा । गिरते हुए उसके हाथोंमें एक वृक्षकी जड़ें पड़ गईं । उन्हें पकड़ कर वह लटक गया । वृक्ष पर शहतका एक छत्ता जमा था । सो इस मनुष्यके पीछे भागे आते हुए सिंहके धक्केसे वृक्ष हिल गया । वृक्षके हिलजानेसे मधुमक्खियाँ उड़ गईं और छत्तेसे शहतकी बूँदें टप टप टपककर उस मनुष्यके मुहँमें गिरने लगीं । इधर कुएमें चार भयानक सर्प थे, सो वे उसे डसनेके लिए मुहँ बायें हुए फुंकार करने लगे और जिन जड़ोंको यह अभागा मनुष्य पकड़े हुए था, उन्हें एक काला और एक धोला ऐसे दो चूहे काट रहे थे । इस प्रकारके भयानक कष्टमें वह फँसा था, फिर भी उससे छुटकारा पानेका कुछ यत्न न कर वह मूर्ख स्वादकी लोलुपतासे उन शहतकी बूँदोंके लोभको नहीं रोक सका, और उलटा अधिक अधिक उनकी इच्छा करने लगा । इसी समय जाता हुआ कोई विद्याधर उस ओर आ निकला ।

उस मनुष्यकी ऐसी कष्टमय दशा देखकर उसे बड़ी दया आई। विद्याधरने उससे कहा–भाई, आओ और इस वायुयानमें बैठो। मैं तुम्हें निकाले लेता हूं। इसके उत्तरमें उस अभागेने कहा–हाँ जरा आप ठहरें, यह शहतकी बूंद गिर रही है, मैं इसे लेकर ही निकलता हूं। वह बूंद गिर गई। विद्याधरने फिर उससे आनेको कहा। तब भी इसने वही उत्तर दिया कि हाँ यह बूंद आई जाती है, मैं अभी आया। गर्ज यह कि विद्याधरने उसे बहुत समझाया, पर वह "हाँ इस गिरती हुई बूंदको लेकर आता हूं," इसी आशामें फँसा रहा। लाचार होकर बेचारे विद्याधरको लौट जाना पड़ा। सच है, विषयों द्वारा ठगे गये जीवोंकी अपने हितकी ओर कभी प्रीति नहीं होती।

जैसे उस मनुष्यको उपकारी विद्याधरने कुएसे निकालना चाहा, पर वह शहतकी लोलुपतासे अपने हितको नहीं जान सका, ठीक इसी तरह विषयोंमें फँसा हुआ जीव संसाररूपी कुएमें कालरूपी सिंह द्वारा अनेक प्रकारके कष्ट पा रहा है, उसकी आयुरूपी डालीको दिनरात रूपी दो धोले और काले चूहे काट रहे हैं, कुएके चार सर्परूपी चार गतियाँ इसे डसनेके लिए मुँह बायें खड़ी हैं, और गुरु इसे हितका उपदेश दे रहे हैं; तब भी यह अपना हित न कर शहतकी बूंदरूपी विषयोंमें लुब्ध हो रहा है और उनकी ही अधिक अधिक इच्छा करता जाता है। सच तो यह है कि अभी इसे दुर्गतियोंका दुःख बहुत भोगना है। इसी लिए सच्चे मार्गकी ओर इसकी दृष्टि नहीं जाती।

इस प्रकार यह संसाररूपी भयंकर समुद्र अत्यन्त दुःखोंका देनेवाला है और विषयभोग विष मिले भोजन या दुर्जनोंके समान कष्ट देनेवाले हैं। इस प्रकार संसारकी स्थिति देखकर बुद्धिमानोंको जिनेन्द्र भगवान्के उपदेश किये हुए पवित्र धर्मको, जो कि अविनाशी अनन्तसुखका देनेवाला है, स्थिर भावोंके साथ हृदयमें धारण करना उचित है।

३५–चारुदत्त सेठकी कथा।



देवों द्वारा पूजा किये गये जिनेन्द्र भगवान्के चरण-कमलोंको नमस्कार कर चारुदत्त सेठकी कथा लिखी जाती है।

जिस समयकी यह कथा है, तब चम्पापुरीका राजा शूरसेन था। राजा बड़ा बुद्धिवान् और प्रजाहितैषी था। उसके नीतिमय शासनकी सारी प्रजा एक स्वरसे प्रशंसा करती थी। यहीं एक इज्जतदार भानुदत्त सेठ रहता था। इसकी स्त्रीका नाम सुभद्रा था। सुभद्राके कोई सन्तान नहीं हुई, इस लिए वह सन्तान प्राप्तिकी इच्छासे नाना प्रकारके देवी-देवताओंकी पूजा किया करती थी, अनेक प्रकारकी मानताएं लिया करती थी; परन्तु तब भी उसका मनोरथ नहीं फला। सच तो है, कहीं कुदेवोंकी पूजा-स्तुतिसे कभी कार्य सिद्ध हुआ है क्या? एक दिन जब वह भगवान्के दर्शन करनेको मन्दिर गई तब वहाँ उसने एक चारण मुनिको देखे।

उन्हें नमस्कार कर उसने पूछा–प्रभो, क्या मेरा मनोरथ भी कभी पूर्ण होगा ? मुनिराज उसके हृदयके भावोंको जानकर बोले–पुत्री, इस समय तू जिस इच्छासे दिनरात कुदेवोंकी पूजा-मानता किया करती है, वह ठीक नहीं है। उससे लाभकी जगह उलटा हानि हो रही है। तू इस प्रकारकी पूजा-मानता द्वारा अपने सम्यक्त्वको नष्ट मत कर। तू विश्वास कर कि संसारमें अपने पुण्य-पापके सिवा और कोई देवी-देवता किसीको कुछ देने लेने समर्थ नहीं। अब तक तेरे पापका उदय था, इस लिए तेरी इच्छा पूरी न हो सकी। पर अब तेरे महान् पुण्यकर्मका उदय आवेगा, जिससे तुझे एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति होगी। तू इसके लिए पुण्यके कारण पवित्र धर्मपर विश्वास कर।

मुनिराज द्वारा अपना भविष्य सुनकर सुभद्राको बहुत खुशी हुई। वह उन्हें नमस्कार कर घर चली गई। अबसे उसने सब कुदेवोंकी पूजा-मानता करना छोड़ दिया। वह अब जिन भगवान्के पवित्र धर्म पर विश्वास कर दान, पूजा, व्रत वगैरह करने लगी। इस दशामें उसके दिन बड़े सुखके साथ कटने लगे। इसी तरह कुछ दिन बीतने पर मुनिराजके कहे अनुसार उसके पुत्र हुआ। उसका नाम चारुदत्त रक्खा गया। वह जैसा जैसा बड़ा होता गया, साथमें उत्तम उत्तम गुण भी उसे अपना स्थान बनाते गये। सच है, पुण्यवानोंको अच्छी अच्छी सब बातें अपने आप प्राप्त होती चली आती हैं।

चारुदत्त बचपनहीसे पढ़ने लिखनेमें अधिक योग दिया करता था। यही कारण था कि उसे चौबीस पच्चीस वर्षका

होने पर भी किसी प्रकारकी विषय-वासना छू तक न गई थी। उसे तो दिन रात अपनी पुस्तकोंसे प्रेम था। उन्हींके अभ्यास, विचार, मनन, चिन्तनमें वह सदा मग्न रहा करता था और इसीसे बालपनसे ही वह बहुधा करके विरक्त रहता था। उसकी इच्छा नहीं थी कि वह व्याहकर संसारके माया-जालमें अपनेको फँसावे, पर उसके माता-पिताने उससे व्याह करनेका बहुत आग्रह किया। उनकी आज्ञाके अनुरोधसे उसे अपने मामाकी गुणवती पुत्री मित्रवतीके साथ व्याह करना पड़ा।

व्याह होगया सही, पर तब भी चारुदत्त उसका रहस्य नहीं समझ पाया। और इसी लिए उसने कभी अपनी प्रियाका मुँह तक नहीं देखा। पुत्रकी युवावस्थामें यह दशा देखकर उसकी माको बड़ी चिन्ता हुई। चारुदत्तकी विषयोंकी ओर प्रवृत्ति हो, इसके लिए उसने चारुदत्तको ऐसे लोगोंकी संगतिमें डाल दिया, जो व्यभिचारी थे। इससे उसकी माका अभिप्राय सफल अवश्य हुआ— चारुदत्त विषयोंमें फँस गया और खूब फँस गया। पर अब वह वेश्याका ही प्रेमी बन गया। उसने तबसे घरका मुंह तक नहीं देखा। उसे कोई लगभग बारह वर्ष वेश्याके यहीं रहते हुए बीत गये। इस अरसेमें उसने अपना घरका सब धन भी गमा दिया। चम्पामें चारुदत्तका घर अच्छ धनिकोंकी गिनतीमें था, पर अब वह एक साधारण स्थितिका आदमी रह गया। अभीतक चारुदत्तके खर्चके लिए उसके घरसे नगद रुपया आया करता था। पर अब

रुपया खुट जानेसे उसकी स्त्रीका गहना आने लगा। जिस वेश्याके साथ चारुदत्तका प्रेम था उसकी कुट्टिनी माने चारुदत्तको अब दरिद्र हुआ समझकर एक दिन अपनी लड़कीसे कहा—बेटी, अब इसके पास धन नहीं रहा, यह भिखारी हो चुका, इस लिए अब तुझे इसका साथ जल्दी छोड़ देना चाहिए। अपने लिए दरिद्र मनुष्य किस कामका। वही हुआ भी। वसन्तसेनाने उसे अपने घरसे निकाल बाहर किया। सच है, वेश्याओंकी प्रीति धनके साथ ही रहती है। जिसके पास जब तक पैसा रहता है उससे तभी तक वह प्रेम करती है। जहाँ धन नहीं वहाँ वेश्याका प्रेम भी नहीं। यह देख चारुदत्तको बहुत दुःख हुआ। अब उसे जान पड़ा कि विषय-भोगोंमें अत्यन्त आसक्तिका कैसा भयंकर परिणाम होता है। वह अब एक पलभरके लिए भी वहां पर न ठहरा और अपनी प्रियाके भूषण ले-लिवाकर विदेश चलता बना। उसे इस हालतमें माताको अपना कलंकित मुँह दिखलाना उचित नहीं जान पड़ा।

यहांसे चलकर चारुदत्त धीरे धीरे उलूख देशके उशिरावर्त नामके शहरमें पहुँचा। चम्पासे जब यह रवाना हुआ तब साथमें इसका मामा भी होगया था। उशिरावर्तमें इन्होंने कपासकी खरीद की। यहाँसे कपास लेकर ये दोनों तामलिप्ता नामक पुरीकी ओर रवाना हुए। रास्तेमें ये एक भयंकर वनीमें जा पहुँचे। कुछ विश्रामके लिए इन्होंने यहीं डेरा डाल दिया। इतनेमें एक महा आँधी आई। उससे परस्परकी रगड़से बाँसोंमें आग लग उठी। हवा चल ही रही थी, सो आगकी

चिनगारियाँ उड़कर इनके कपासे पर जा पड़ी। देखते देखते वह सब कपास भस्मीभूत होगया। सच है, विना पुण्यके कोई काम सिद्ध नहीं हो पाता है। इस लिए पुण्य कमानेके लिए भगवान्‌के उपदेश किये मार्गपर सबको चलना कर्त्तव्य है। इस हानिसे चारुदत्त बहुत ही दुखी होगया। वह यहाँसे किसी दूसरे देशकी ओर जानेके लिए अपने मामासे सलाह कर समुद्रदत्त सेठके जहाज द्वारा पवनद्वीपमें पहुँचा। यहाँ इसके भाग्यका सितारा चमका। कुछ वर्ष यहाँ रहकर इसने बहुत धन कमाया। इसकी इच्छा अब देश लौट आनेकी हुई। अपनी माताके दर्शनोंके लिए इसका मन बड़ा अधीर हो उठा। इसने चलनेकी तैयारी कर जहाजमें अपना सब धन-असबाब लाद दिया।

जहाज अनुकूल समय देख रवाना हुआ। जैसे जैसे वह अपनी 'स्वर्गादपि गरीयसी' जन्मभूमिकी ओर शीघ्र गतिसे बढ़ा हुआ जा रहा था, चारुदत्तको उतनी ही उतनी अधिक प्रसन्नता होती जाती थी। पर यह कोई नहीं जानता कि मनुष्य-का चाहा कुछ नहीं होता। होता वही है जो दैवको मंजूर होता है। यही कारण हुआ कि चारुदत्तकी इच्छा पूरी न हो पाई और अचानक जहाज किसीसे टकरा कर फट पड़ा। चारु-दत्तका सब माल-असबाब समुद्रके विशाल उदरकी भेंट चढ़ा। वह पीछा पहलेसा ही दरिद्र होगया। पर चारुदत्तको दुःख उठाते उठाते बड़ी सहन-शक्ति प्राप्त होगई थी। एक पर एक आनेवाले दुःखोंने उसे निराशाके गहरे गढ़ेसे निकाल कर पूर्ण आशावादी और कर्त्तव्यशील बना दिया था। इस

लिए अबकी वार उसे अपनी हानिका कुछ विशेष दुःख नहीं हुआ। वह फिर धन कमानेके लिए विदेश चल पड़ा। उसने अबकी वार भी बहुत धन कमाया। घर लौटते समय फिर भी उसकी पहलेसी दशा हुई। इतनेमें ही उसके बुरे कर्मोंका अन्त न हो गया; किन्तु ऐसी ऐसी भयंकर घटनाओंका कोई सात वार उसे सामना करना पड़ा। इसने कष्ट पर कष्ट सहा, पर अपने कर्त्तव्यसे यह कभी विमुख नहीं हुआ। अबकी वार जहाजके फट जानेसे यह समुद्रमें गिर पड़ा। इसे अपने जीवनका भी सन्देह होगया था। इतनेमें भाग्यसे बहकर आता हुआ एक लकड़ेका तख्ता इसके हाथ पड़ गया। उसे पाकर इसके जीमें जी आया। किसी तरह यह उसकी सहायतासे समुद्रके किनारे आ लगा। यहाँसे चलकर यह राजगृहमें पहुँचा। यहाँ इसे एक विष्णुमित्र नामका संन्यासी मिला। संन्यासीने इसके द्वारा कोई अपना काम निकलता देखकर पहले बड़ी सज्जनताका इसके साथ बरताव किया। चारुदत्तने यह समझकर कि यह कोई भला आदमी है, अपनी सब हालत उससे कह दी। चारुदत्तको धनार्थी समझकर विष्णुमित्र उससे बोला—मैं समझा, तुम धन कमानेको घर बाहर हुए हो। अच्छा हुआ तुमने मुझसे अपना सब हाल सुना दिया। पर सिर्फ धनके लिए अब तुम्हें इतना कष्ट न उठाना पड़ेगा। आओ, मेरे साथ आओ, यहाँसे कुछ दूर-पर जंगलमें एक पर्वत है। उसकी तलहटीमें एक कूआ है। वह रसायनसे भरा हुआ है। उससे सोना बनाया जाता है। सो तुम उसमेंसे कुछ थोड़ासा रस ले जाओ। उससे तुम्हारी

सब दरिद्रता नष्ट हो जायगी। चारुदत्त संन्यासीके पीछे पीछे हो लिया। सच है, दुर्जनों द्वारा धनके लोभी कौन कौन नहीं ठगे गये!

संन्यासी और उसके पीछे पीछे चारुदत्त ये दोनों एक पर्वतके पास पहुँचे। संन्यासीने रस लानेकी सब बातें समझाकर चारुदत्तके हाथमें एक तूँबी दी और एक सींके पर उसे बैठाकर कुएमें उतार दिया। चारुदत्त तूंबीमें रस भरने लगा। इतनेमें वहाँ बैठे हुए एक मनुष्यने उसे रस भरनेसे रोका। चारुदत्त पहले तो डरा, पर जब उस मनुष्यने कहा तुम डरो मत, तब कुछ सम्हलकर वह बोला–तुम कौन हो, और इस कुएमें कैसे आये? कुएमें बैठा हुआ मनुष्य बोला, सुनिए, मैं उज्जयिनीमें रहता हूं। मेरा नाम धनदत्त है। मैं किसी कारणसे सिंहलद्वीप गया था। वहाँसे लौटते समय तूफानमें पड़कर मेरा जहाज फट गया। धन-जनकी बहुत हानि हुई। मेरे हाथ एक लक्कड़का पटिया लग जानेसे अथवा यों कहिए कि दैवकी दयासे मैं बच गया। समुद्रसे निकलकर मैं अपने शहरकी ओर जा रहा था कि रास्तेमें मुझे यही संन्यासी मिला। यह दुष्ट मुझे धोखा देकर यहाँ लाया। मैंने कुएमेंसे इसे रस भरकर ला दिया। इस पापीने पहले तूँबी मेरे हाथसे लेली और फिर आप रस्सी काटकर भाग-गया। मैं आकर कुएमें गिरा। भाग्यसे चोट तो अधिक न आई, पर दो तीन दिन इसमें पड़े रहनेसे मेरी तबियत बहुत बिगड़ गई और अब मेरे प्राण घुट रहे हैं। उसकी हालत सुनकर चारुदत्तको बड़ी दया आई। पर वह ऐसी

जगहमें फँस चुका था, जिससे उसके जिलानेका कुछ यत्न नहीं कर सकता था। चारुदत्तने उससे पूछा—तो मैं इस संन्यासीको रस भरकर न दूं? धनदत्तने कहा—नहीं, ऐसा मत करो; रस तो भरकर दे ही दो, अन्यथा यह ऊपरसे पत्थर वगैरह मारकर बड़ा कष्ट पहुँचायेगा। तब चारुदत्तने एक वार तो तूंबीको रससे भरकर सींकेमें रख दिया। संन्यासीने उसे निकाल लिया। अब चारुदत्तको निकालनेके लिए उसने फिर सींका कुएमें डाला। अबकी वार चारुदत्तने स्वयं सींके पर न बैठकर बड़े बड़े वजनदार पत्थरोंको उसमें रख दिया। संन्यासी उस पत्थर भरे सींके पर चारुदत्तको बैठा समझकर, जब सींका आधी दूर आया तब उसे काटकर आप चलता बना। चारुदत्तकी जान बच गई। उसने धनदत्तका बड़ा उपकार मानकर कहा—मित्र, इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज तुमने मुझे जीवन दान दिया और इसके लिए मैं तुम्हारा जन्मजन्ममें ऋणी रहूँगा। हाँ और यह तो कहिए कि इससे निकलनेका भी कोई उपाय है क्या? धनदत्त बोला—यहाँ रस पीनेको प्रतिदिन एक गो आया करती है। तब आज तो वह चली गई। कल सवेरे वह फिर आवेगी सो तुम उसकी पूँछ पकड़कर निकल जाना। इतना कहकर वह बोला—अब मुझसे बोला नहीं जाता। मेरे प्राण बड़े संकटमें हैं। चारुदत्तको यह देख बड़ा दुःख हुआ कि वह अपने उपकारीकी कुछ सेवा नहीं कर पाया। उससे और तो कुछ नहीं बना, पर इतना तो उसने तब भी किया कि धनदत्तको पवित्र जिनधर्मका उपदेश

देकर, जो कि उत्तम गतिका साधन है, पंच नमस्कार मंत्र सुनाया और साथ ही संन्यास भी लिवा दिया।

सवेरा हुआ। सदाकी भांति आज भी गो रस पीनेके लिए आई। रस पीकर जैसे ही वह जाने लगी चारुदत्तने उसकी पूँछ पकड़ली। उसके सहारेसे वह वाहर निकल आया। यहाँसे इस जंगलको लांघकर यह एक ओर जाने लगा। रास्तेमें इसकी अपने मामा रुद्रदत्तसे भेंट होगई। रुद्रदत्तने चारुदत्तका सब हाल जानकर कहा—तो चलिए अब हम रत्नद्वीपमें चलें। वहाँ अपना मनोरथ अवश्य पूरा होगा। धनकी आशासे ये दोनों अब रत्नद्वीप जानेको तैयार हुए। रत्नद्वीप जानेके लिए पहले एक पर्वत पर जाना पड़ता था, और पर्वत पर जानेका जो रास्ता था, वह बहुत सँकड़ा था। इस लिए पर्वत पर जानेके लिए इन्होंने दो बकरे खरीद किये और उन पर सवार होकर ये रवाना होगये। जब ये पर्वत पर कुशल पूर्वक पहुँच गये तब पापी रुद्रदत्तने चारुदत्तसे कहा—देखो, अब अपनेको यहाँ पर इन दोनों बकरोंको मारकर दो चमड़ेकी थैलियाँ बनानी चाहिए और उन्हें उलटकर उनके भीतर घुस दोनोंका मुहँ सीलेना चाहिए। मांसके लोभसे यहाँ सदा ही भेरुण्ड-पक्षी आया करते हैं। सो वे अपनेको उठा ले-जाकर उस पार रत्नद्वीपमें ले-जायंगे। वहाँ जब वे हमें खाने लगे तब इन थैलियोंको चीरकर हम बाहर हो जायँगे। मनुष्यको देखकर पक्षी उड़ जायँगे और ऐसा करनेसे बहुत सीधी तरह अपना काम बन जायगा।

चारुदत्तने रुद्रदत्तकी पापमयी बात सुनकर उसे बहुत फटकारा और वह साफ इंकार कर गया कि मुझे ऐसे पाप द्वारा

प्राप्त किये धनकी जरूरत नहीं। सच है, दयावान् कभी ऐसा अनर्थ नहीं करते। रातको ये दोनों सोगये। चारुदत्तको स्वप्नमें भी यह खयाल न था कि रुद्रदत्त सुचमुच इतना नीच होगा और इसी लिए वह निःशंक होकर सो गया था। जब चारुदत्तको खूब गाढ़ी नींद आगई तब पापी रुद्रदत्त चुपकेसे उठा और जहाँ बकरे बँधे थे वहाँ गया। उसने पहले अपने बकरेको मार डाला और चारुदत्तके बकरेका भी उसने आधा गला काट दिया होगा कि अचानक चारुदत्तकी नींद खुल गई। रुद्रदत्तको अपने पास सोया न पाकर उसका सिर ठनका। वह उठकर दौड़ा और बकरोंके पास पहुँचा। जाकर देखता है तो पापी रुद्रदत्त बकरेका गला काट रहा है। चारुदत्तको काटो तो खून नहीं। वह क्रोधके मारे भर्रा गया। उसने रुद्रदत्तके हाथसे छुड़ी तो छुड़ाकर फैंकी और उसे खूब ही सुनाई। सच है, कौन ऐसा पाप है, जिसे निर्दयी पुरुष नहीं करते?

उस अधमरे बकरेको टगर टगर देखते देखकर दयासे चारुदत्तका हृदय भर आया। उसकी आँखोंसे आसुओंकी बूँदें टपकने लगीं। पर वह उसके बचानेका प्रयत्न करनेके लिए लाचार था। इस लिए कि वह प्रायः काटा जा चुका था। उसकी शान्तिके साथ मृत्यु होकर वह सुगति लाभ करे, इसके लिए चारुदत्तने इतना अवश्य किया कि उसे पंच नमस्कारमंत्र सुनाकर संन्यास दे दिया। जो धर्मात्मा जिनेन्द्र भगवान्के उपदेशका रहस्य समझनेवाले हैं, उनका जीवन सच पूछो तो केवल परोपकारके लिए ही होता है।

चारुदत्तने बहुतेरा चाहा कि मैं पीछा लौट जाऊं, पर वापिस लौटनेका उसके पास कोई उपाय न था। इस लिए अत्यन्त लाचारीकी दशामें उसे भी रुद्रदत्तकी तरह उस थैली का शरण लेना पड़ा। उड़ते हुए भेरुण्ड-पक्षी पर्वत पर दो मांस-पिण्ड पड़े देखकर आये और उन दोनोंको चोंचोंसे उठा चलते बने। रास्तेमें उनमें परस्पर लड़ाई होने लगी। परिणाम यह निकला कि जिस थैलीमें रुद्रदत्त था, वह पक्षीकी चोंचसे छूट पड़ी। रुद्रदत्त समुद्रमें गिर कर मर गया। मरकर वह पापके फलसे कुगतिमें गया। ठीक भी है, पापियोंकी कभी अच्छी गति नहीं होती। चारुदत्तकी थैलीको जो पक्षी लिए था, उसने उसे रत्नद्वीपके एक सुन्दर पर्वतपर ले-जाकर रख दिया। इसके बाद पक्षीने उसे चोंचसे चीरना शुरू किया। उसका कुछ भाग चीरते ही उसे चारुदत्त देख पड़ा। पक्षी उसी समय डरकर उड़ भागा। सच है, पुण्यवानोंका कभी कभी तो दुष्ट भी हित करनेवाले हो जाते हैं। जैसे ही चारुदत्त थैलीके बाहर निकला कि धूपमें ध्यान लगाये एक महात्मा उसे देख पड़े। उन्हें ऐसी कड़ी धूपमें मेरुकी तरह निश्चल खड़े देखकर चारुदत्तको उन पर बहुत श्रद्धा होगई। चारुदत्त उनके पास गया और बड़ी भक्तिसे उसने उनके चरणोंमें अपना सिर नवाया। मुनिराजका ध्यान पूरा होते ही उन्होंने चारुदत्तसे कहा—चारुदत्त, क्यों तुम अच्छी तरह तो हो न? मुनि द्वारा अपना नाम सुनकर चारुदत्तको कुछ सन्तोष तो इस लिए अवश्य हुआ कि एक अत्यन्त अपरिचित देशमें उसे कोई पहचा-

नता भी है, पर इसके साथ ही उसके आश्चर्यका भी कुछ ठिकाना न रहा। वह बड़े विचारमें पड़ गया कि मैंने तो कभी इन्हें कहीं देखा नहीं, फिर इन्होंने ही मुझे कहाँ देखा था! अस्तु, जो हो, इन्हींसे पूछता हूं कि ये मुझे कहाँसे जानते हैं। वह मुनिराजसे बोला-प्रभो, मालूम होता है आपने मुझे कहीं देखा है, बतलाइए तो आपको मैं कहाँ मिला था? मुनि बोले-"सुनो, मैं एक विद्याधर हूं। मेरा नाम अमितगति है। एक दिन मैं चम्पापुरीके बगीचेमें अपनी प्रियाके साथ सैर करनेको गया हुआ था। इसी समय एक धूमसिंह नामका विद्याधर वहाँ आगया। मेरी सुन्दर स्त्रीको देखकर उस पापीकी नियत डगमगी। कामसे अँधे-हुए उस पापीने अपनी विद्याके बलसे मुझे एक वृक्षमें कील दिया और मेरी प्यारीको विमानमें बैठाकर मेरे देखते देखते आकाश मार्गसे चल दिया। उस समय मेरे कोई ऐसा पुण्यकर्मका उदय आया सो तुम उधर आ निकले। तुम्हें दयावान समझकर मैंने तुमसे इशारा करके कहा-वे औषधियाँ रक्खी हैं, उन्हें पीसकर मेरे शरीर पर लेप दीजिए। आपने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर वैसा ही किया। उससे दुष्ट विद्याओंका प्रभाव नष्ट हुआ और मैं उन विद्याओंके पंजेसे छूट गया। जैसे गुरुके उपदेशसे जीव माया, मिथ्याकी कीलसे छूट जाता है। मैं उसी समय दौड़ा हुआ कैलास पर्वत पर पहुँचा और धूमसिंहको उसके कर्मका उचित प्रायश्चित्त देकर उससे अपनी प्रियाको छुड़ा लाया। फिर मैंने आपसे कुछ प्रार्थना की कि आप जो इच्छा हो वह मुझसे माँगे, पर आप मुझसे

कुछ भी लेनेके लिए तैयार नहीं हुए। सच तो यह है कि महात्मा लोग दूसरोंका भला किसी प्रकारकी आशासे करते ही नहीं। इसके बाद मैं आपसे विदा होकर अपने नगरमें आ गया। मैंने इसक पश्चात् कुछ वर्षोंतक और राज्य किया--राज्यश्रीका खूब आनन्द लूटा। बाद आत्मकल्याणकी इच्छासे पुत्रोंको राज्य सौंपकर मैं दीक्षा ले-गया, जो कि संसारका भ्रमण मिटानेवाली है। चारणऋद्धिके प्रभावसे मैं यहाँ आकर तपस्या कर रहा हूं। मेरा तुम्हारे साथ पुराना परिचय है, इसी लिए मैं तुम्हें पहचानता हूं।" सुनकर चारुदत्त बहुत खुश हुआ। वह जब तक वहाँ बैठा रहा, इसी बीचमें इन मुनिराजके दो पुत्र इनकी पूजा करनेको वहाँ आये। मुनिराजने चारुदत्तका कुल हाल उन्हें सुनाकर उसका उनसे परिचय कराया। परस्परमें मिलकर इन सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। थोड़े ही समयके परिचयसे इनमें अत्यन्त प्रेम बढ़ गया।

इसी समय एक बहुत खूबसूरत युवा वहाँ आया। सबकी दृष्टि उसके दिव्य तेजकी ओर जा-लगी। उस युवाने सबसे पहले चारुदत्तको प्रणाम किया। यह देख चारुदत्तने उसे ऐसा करने रोक कर कहा--तुम्हें पहले गुरु महाराजको नमस्कार करना उचित है। आगत युवाने अपना परिचय देते हुए कहा--मैं बकरा था। पापी रुद्रदत्त जब मेरा आधा गला काट चुका होगा कि उसी समय मेरे भाग्यसे आपकी नींद खुल गई। आपने आकर मुझे नमस्कार मंत्र सुनाया और साथ ही संन्यास दे दिया। मैं शान्त भावोंसे मरकर

मंत्रके प्रभावसे सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ। इस लिए मेरे गुरु तो आप ही हैं–आपहीने मुझे सन्मार्ग बतलाया है। इसके बाद सौधर्म-देव धर्म-प्रेमसे बहुत सुन्दर सुन्दर और मूल्य-वान् दिव्य वस्त्राभरण चारुदत्तको भेंट कर और उसे नम-स्कार कर स्वर्ग चला गया। सच है, जो परोपकारी हैं उनका सब ही बड़ी भक्तिके साथ आदर-सत्कार करते हैं।

इधर वे विद्याधर सिंहयश और वराहग्रीव मुनिराजको नमस्कार कर चारुदत्तसे बोले–चलिए, हम आपको आपकी जन्मभूमि चम्पापुरीमें पहुँचा आवें। इससे चारुदत्तको बड़ी प्रसन्नता हुई और वह जानेको सहमत होगया। चारुदत्तने इसके लिए उनसे बड़ी कृतज्ञता प्रगट की। उन्होंने चारुद-त्तको उसके सब माल-असबाब सहित बहुत जल्दी विमान-द्वारा चम्पापुरीमें ला रक्खा। इसके बाद वे उसे नमस्कार कर और आज्ञा लेकर अपने स्थान लौट गये। सच है, पुण्यसे संसारमें क्या नहीं होता! और पुण्यप्राप्तिके लिए जिनभग-वान्के द्वारा उपदेश किये दान, पूजा, व्रत, शीलरूप चार प्रकार पवित्र धर्मका सदा पालन करते रहना चाहिए।

अचानक अपने प्रिय पुत्रके आजानेसे चारुदत्तके माता-पिताको बड़ी खुशी हुई। उन्होंने बारबार उसे छातीसे लगा कर वर्षोंसे वियोगाग्निसे जलते हुए अपने हृदयको ठंडा किया। चारुदत्तकी प्रिया मित्रवतीके नेत्रोंसे दिनरात बहती हुई वियोग-दुःखाश्रुओंकी धारा और आज प्रियको देख-कर बहनेवाली आनन्दाश्रुओंकी धाराका अपूर्व समागम हुआ। उसे जो सुख आज मिला, उसकी समानतामें स्वर्गका दिव्य

सुख तुच्छ है। बातकी बातमें चारुदत्तके आनेके समाचार सारी पुरीमें पहुँच गये। और उससे सभीको आनन्द हुआ।

चारुदत्त एक समय बड़ा धनी था। अपने कुकर्मोंसे वह पथ-पथका भिखारी बना। पर जबसे उसे अपनी दशाका ज्ञान हुआ तबसे उसने केवल कर्त्तव्यको ही अपना लक्ष्य बनाया और फिर कर्मशील बनकर उसने कठिनसे कठिन काम किया। उसमें कई बार उसे असफलता भी प्राप्त हुई, पर वह निराश नहीं हुआ और काम करता ही चला गया। अपने उद्योगसे उसके भाग्यका सितारा फिर चमक उठा और वह आज पूर्ण तेज प्रकाश कर रहा है। इसके बाद चारुदत्तने बहुत वर्षोंतक खूब सुख भोगा और जिनधर्मकी भी भक्तिके साथ उपासना की। अन्तमें उदासीन होकर वह अपनी जगह पर अपने सुन्दर नामके पुत्रको नियुक्तकर आप दीक्षा ले-गया। मुनि होकर उसने खूब तप किया और आयुके अन्तमें संन्यास सहित मृत्यु प्राप्त कर स्वर्ग लाभ किया। स्वर्गमें वह सुखके साथ रहता है, अनेक प्रकारके उत्तमसे उत्तम भोगोंको भोगता है, सुमेरु और कैलासपर्वत आदि स्थानोंके जिनमन्दिरोंकी यात्रा करता है, विदेहक्षेत्रमें जाकर साक्षात् तीर्थंकर केवली भगवान्की स्तुति-पूजा करता है और उनका सुख देनेवाला पवित्र धर्मोपदेश सुनता है। मतलब यह कि उसका प्रायः समय धर्मसाधन-हीमें बीतता है। और इसी जिनभगवान्के उपदेश किये निर्मल धर्मकी इन्द्र, नागेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि सभी सदा भक्ति पूर्वक उपासना करते हैं, यही धर्म स्वर्ग

और मोक्षका देनवाला है। इस लिए यदि तुम्हें श्रेष्ठ सुखकी चाह है तो तुम भी इसी धर्मका आश्रय लो।

३६–पाराशरमुनिकी कथा।



जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर अन्यमतोंकी असत्कल्पनाओंका सत्पुरुषोंको ज्ञान हो, इस लिए उन्हीके शास्त्रोंमें लिखी हुई पाराशर नामक एक तपस्वीकी कथा यहाँ लिखी जाती है।

हस्तिनागपुरमें गंगभट नामका एक धीवर रहा करता था। एक दिन वह पाप-बुद्धि एक बड़ी भारी मछलीको नदीसे पकड़कर लाया। घर लाकर उस मछलीको जब उसने चीरा तो उसमेंसे एक सुन्दर कन्या निकली। उसके शरीरसे बड़ी दुर्गन्ध निकल रही थी। उस धीवरने उसका नाम सत्यवती रक्खा। वही उसका पालन पोषण भी करने लगा। पर सच पूछो तो यह बात सर्वथा असंभव है। कहीं मछलीसे भी कन्या पैदा हुई है? खेद है कि लोग आँख बन्द किये ऐसी ऐसी बातों पर भी अन्धश्रद्धा किये चले आते हैं।

जब सत्यवती बड़ी होगई तो एक दिनकी बात है कि गंगभट सत्यवतीको नदी किनारे नाव पर बैठा कर आप किसी कामके लिए घर पर आगया। इतनेमें रास्तेका थका हुआ

एक पाराशर नामका मुनि, जहाँ सत्यवती नाव लिए बैठी हुई थी, वहाँ आया। वह सत्यवतीसे बोला—लड़की, मुझे नदी पार जाना है, तू अपनी नाव पर बैठाकर पार उतार दे तो बहुत अच्छा हो। भोली सत्यवतीने उसका कहा मान लिया और नावमें उसे अच्छी तरह बैठाकर वह नाव खेने लगी। सत्यवती खूबसूरत तो थी ही और इस पर वह अब तेरह चौदह वर्षकी हो चुकी थी; इस लिए उसकी खिलती हुई नई जवानी थी। उसकी मनोमधुर सुन्दरताने तपस्वीके तपको डगमगा दिया। वह कामवासनाका गुलाम हुआ। उसने अपनी पापमयी मनोवृत्तिको सत्यवती पर प्रगट किया। सत्यवती सुनकर लजा गई, और डरी भी। वह बोली—महाराज, आप साधु-सन्त, सदा गंगास्नान करनेवाले और शाप देने तथा दया करनेमें समर्थ, और मैं नीच जातिकी लड़की, इस पर भी मेरा शरीर दुर्गन्धमय, फिर मैं आप सरीखोंके योग्य कैसे हो सकती हूं? पाराशरको इस भोली लड़कीके निष्कपट हृदयकी बात पर भी कुछ शर्म नहीं आई, और कामियोंको शर्म होती भी कहां? उसने सत्यवतीसे कहा—तू इसकी कुछ चिन्ता न कर। मैं तेरा शरीर अभी सुगन्धमय बनाये देता हूं। यह कहकर पाराशरने अपने विद्याबलसे उसके शरीरको देखते देखते सुगन्धमय कर दिया। उसके प्रभावको देखकर सत्यवतीको राजी हो जाना पड़ा। कामी पाराशरने अपनी वासना नावमें ही मिटाना चाहा, तब सत्यवती बोली—आपको इसका खयाल नहीं कि सब लोग देखकर क्या कहेंगे? तब पाराशरने आकाशको धुँधला कर,

जिससे कोई देख न सके, और अपनी इच्छा............
इसके बाद उसने नदीके बीचमें ही एक छोटासा गाँव बसाया और सत्यवतीके साथ ब्याहकर आप वहीं रहने लगा।

एक दिन पाराशर अपनी वासनाओंकी तृप्ति कर रहा था कि उस समय सत्यवतीके एक व्यास नामका पुत्र हुआ। उसके सिरपर जटाएँ थीं, वह यज्ञोपवीत पहरे हुआ था और उसने उत्पन्न होते ही अपने पिताको नमस्कार किया। पर लोगोंका यह कहना उन्मत्त पुरुषोंके सरीखा है और न किसी ज्ञान-नेत्रवालेकी समझमें ये बातें आवेंगी ही। क्यों कि वे समझते हैं कि समझदार कभी ऐसी असंभव बातें नहीं कहते; किन्तु भक्तिके आवेशमें आकर असत्तत्त्वपर विश्वास लानेवालोंने ऐसा लिख दिया है। इस लिए बुद्धिवानोंको उचित है कि वे उन विद्वानोंकी संगति करें जो जैनधर्मका रहस्य समझनेवाले हैं, और जैनधर्मसे ही प्रेम करें, और उसीके शास्त्रोंका भक्ति और श्रद्धाके साथ अध्ययन करें–उनमें अपनी पवित्र बुद्धिको लगावें, इसीसे उन्हें सच्चा सुख प्राप्त होगा।

३७–सात्यकि और रुद्रकी कथा।



वलज्ञान ही जिनका नेत्र है, ऐसे जिनभगवानको नमस्कार कर शास्त्रोंके अनुसार सात्यकि और रुद्रकी कथा लिखी जाती है।

गन्धारदेशमें महेश्वरपुर एक सुन्दर शहर था। उसके राजा सत्यन्धर थे। सत्यन्धरकी प्रियाका

नाम सत्यवती था । इनके एक पुत्र हुआ । उसका नाम सात्यकि था । सात्यकिने राजविद्यामें अच्छी कुशलता प्राप्त की थी । और ठीक भी है, राजा विना राजविद्याके शोभा भी नहीं पाता ।

इस समय सिन्धुदेशकी विशाला नगरीका राजा चेटक था । चेटक जैनधर्मका पालक और जिनेन्द्रभगवान्का सच्चा भक्त था । इसकी रानीका नाम सुभद्रा था । सुभद्रा वड़ी पतिव्रता और धर्मात्मा थी । इसके सात कन्याएँ थीं । उनके नाम थे–पवित्रा, मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलिनी, जेष्ठा और चन्दना ।

सम्राट् श्रेणिकने चेटकसे चेलिनीके लिए मँगनीकी थी, पर चेटकने उनकी आयु अधिक देखकर लड़की देनेसे इंकार कर दिया । इससे श्रेणिकको वहुत बुरा लगा । अपने पिताके दुःखका कारण जानकर अभयकुमार उनका एक वहुत ही वढ़िया चित्र वनवाकर विशालामें पहुँचा । उसने वह चित्र चेलिनीको वतलाकर उसे श्रेणिक पर मुग्ध कर लिया । पर चेलिनीके पिताको उसका व्याह श्रेणिकसे करना सम्मत नहीं था । इस लिए अभयकुमारने गुप्त मार्गसे चेलिनीको ले जानेका विचार किया । जव चेलिनी उसके साथ जानेको तैयार हुई तव ज्येष्ठाने उससे अपनेको चलनेके लिए भी कहा । चेलिनी सहमत तो होगई, पर उसे उसका ले चलना इष्ट नहीं था; इस लिए जव ये दोनों वहिनें थोड़ी दूर गई होंगी कि धूर्त्ता चेलिनीने जेष्ठासे कहा–वहिन, मैं अपने आभूषण तो सव महलहीमें भूल आई हूं । तू जाकर उन्हें लेआ न ?

मैं तब तक यहीं खड़ी हूं। बेचारी भोली जेष्ठा उसके झाँसेमें आकर चली गई। वह थोड़ी दूर पहुँची होगी कि इसने इधर आगेका रास्ता पकड़ा और जब तक जेष्ठा संकेत स्थान-पर आती है तब तक यह बहुत दूर आगे बढ़ आई। अपनी बहिनकी इस कुटिलता या धोखेबाजीसे जेष्ठाको बेहद दुःख हुआ। और इसी दुःखके मारे वह यशस्वती आर्यिकाके पास दीक्षा ले-गई। ज्येष्ठाकी सगाई सत्यन्धरके पुत्र सात्यकिसे हो चुकी थी। पर जब सात्यकिने उसका दीक्षा ले-लेना सुना तो वह भी विरक्त होकर समाधिगुप्त मुनि द्वारा दीक्षा लेकर मुनि बन गया।

एक दिन यशस्वती, ज्येष्ठा आदि आर्यिकाएँ श्रीवर्द्धमान भगवान्की वन्दना करनेको चलीं। वे सब एक वनीमें पहुँची होगी कि पानी बरसने लगा, और खूब बरसा। इससे इस आर्यिकासंघको बड़ा कष्ट हुआ। कोई किधर और कोई किधर, इस तरह उनका सब संघ तितर बितर हो गया। ज्येष्ठा एक कालगुहा नामकी गुहामें पहुँची। वह उसे एकान्त समझकर शरीरसे भीगे वस्त्रोंको उतार कर उन्हें निचोड़ने लगी। भाग्यसे सात्यकि मुनि भी इसी गुहामें ध्यान कर रहे थे। सो उन्होंने ज्येष्ठा आर्यिकाका खुला शरीर देख लिया। देखते ही विकारभावोंसे उनका मन भ्रष्ट हुआ और उन्होंने अपने शीलरूपी मौलिक रत्नको आर्यिकाके शरीररूपी अग्निमें झोंक दिया। सच है, कामसे अन्धा बना मनुष्य क्या नहीं कर डालता।

गुराणी यशस्वती ज्येष्ठाकी चेष्टा वगैरहसे उसकी दशा जान गई। और इस भयसे कि धर्मका अपवाद न हो, वह

ज्येष्ठाको चेलिनीके पास रख आई। चेलिनीने उसे अपने यहाँ गुप्त रीतिसे रख लिया। सो ठीक ही है, सम्यग्दृष्टि निन्दा आदिसे शासनकी सदा रक्षा करते हैं।

नौ महिने होने पर ज्येष्ठाके पुत्र हुआ। पर श्रेणिकने इस रूपमें प्रगट किया कि चेलिनीके पुत्र हुआ। ज्येष्ठा उसे वहीं रखकर आप पीछी आर्यिकाके संघमें चली आई और प्रायश्चित्त लेकर तपस्विनी हो गई। इसका लड़का श्रेणिकके यहीं पलने लगा। बड़ा होने पर वह और और लड़कोंके साथ खेलनेको जाने लगा। पर संगति इसकी अच्छे लड़कोंके साथ नहीं थी, इससे इसके स्वभावमें कठोरता अधिक आ गई। यह अपने साथके खेलनेवाले लड़कोंको रुद्रताके साथ मारने-पीटने लगा। इसकी शिकायत महारानीके पास आने लगी। महारानीको इस पर बड़ा गुस्सा आया। उसने इसका ऐसा रौद्र स्वभाव देखकर नाम भी इसका रुद्र रख दिया। सो ठीक ही है जो वृक्ष जड़से ही खराब होता है तब उसके फलोंमें मीठापन आ भी कहाँसे सकता है। इसी तरह रुद्रसे एक दिन और कोई अपराध बन पड़ा। सो चेलिनीने अधिक गुस्सेमें आकर यह कह डाला कि किसने तो इस दुष्टको जना और किसे यह कष्ट देता है! चेलिनीके मुँहसे, जिसे कि यह अपनी माता समझता है, ऐसी अचंभा पैदा करनेवाली बात सुनकर बड़े गहरे विचारमें पड़ गया। इसने सोचा कि इसमें कोई कारण जरूर होना चाहिए। यह सोचकर यह श्रेणिकके पास पहुँचा और उनसे इसने आग्रहके साथ पूछा—पिताजी, सच बतलाइए, मेरे वास्तवमें पिता कौन है और कहाँ है?

श्रेणिकने इस बातके बतानेको बहुत आनाकानी की। पर जब रुद्रने बहुत ही उनका पीछा किया और किसी तरह वह नहीं मानने लगा तब लाचार हो उन्हें सब सच्ची बात बता देनी पड़ी। रुद्रको इससे बड़ा वैराग्य हुआ और वह अपने पिताके पास जाकर मुनि होगया।

एक दिन रुद्र ग्यारह अंग और दश पूर्वका बड़े ऊँचेसे पाठ कर रहा था। उस समय श्रुतज्ञानके माहात्म्यसे पाँचसौ तो कोई बड़ी बड़ी विद्याएँ और सातसौ छोटी छोटी विद्याएँ सिद्ध होकर आईं। उन्होंने अपनेको स्वीकार करनेकी रुद्रसे प्रार्थना की। रुद्रने लोभके वश हो उन्हें स्वीकार तो कर लिया, पर लोभ आगे होनेवाले सुख और कल्याणके नाशका कारण होता है, इसका उसने कुछ विचार न किया।

इस समय सात्यकि मुनि गोकर्ण नामके पर्वतकी ऊँची चोटी पर प्रायः ध्यान किया करते थे। समय गर्मीका था। उनकी वन्दनाको अनेक धर्मात्मा भव्य-पुरुष आया जाया करते थे। पर जबसे रुद्रको विद्याएँ सिद्ध हुईं, तबसे वह मुनि-वन्दनाके लिए आनेवाले धर्मात्मा पुरुषोंको अपने विद्या-बलसे सिंह, व्याघ्र, गेंडा, चीता आदि हिंस्र और भयंकर पशुओं द्वारा डराकर पर्वत पर न जाने देता था। सात्यकि मुनिको जब यह हाल ज्ञात हुआ तब उन्होंने इसे समझाया और ऐसे दुष्ट कार्य करनेसे रोका। पर इसने उनका कहा नहीं माना और अधिक अधिक यह लोगोंको कष्ट देने लगा। सात्यकिने तब कहा–तेरे इस पापका फल बहुत बुरा होगा। तेरी तपस्या नष्ट होगी। तू स्त्रियों द्वारा तपभ्रष्ट होकर

आखिर मृत्युका ग्रास बनेगा। इस लिए अभी तुझे सम्हल जाना चाहिए। जिससे कुगतियोंके दुःख न भोगना पड़े। रुद्र पर उनके इस कहनेका भी कुछ असर न हुआ। वह और अपनी दुष्टता करता ही चला गया। सच है, पापियोंके हृदयमें गुरुओंका अच्छा उपदेश कभी नहीं ठहरता।

एक दिन रुद्रमुनि प्रकृतिके दृश्योंसे अपूर्व मनोहरता धारण किये हुए कैलास पर्वत पर गया और वहाँ तापन योग द्वारा तप करने लगा। इसके बीचमें एक और कथा है, जिसका इसीसे सम्बन्ध है। विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें मेघनिबद्ध, मेघनिचय और मेघनिदान ऐसे तीन सुन्दर शहर हैं। उनका राजा था कनकरथ। कनकरथकी रानीका नाम मनोहरा था। इसके दो पुत्र हुए। एक देवदारु और दूसरा विद्युज्जिह्व। ये दोनों भाई खूबसूरत भी थे और विद्वान् भी थे। इन्हें योग्य देखकर इनका पिता कनथरथ राज्यशासनका भार बड़े पुत्र देवदारुको सौंप आप गणधर मुनिराजके पास दीक्षा लेकर योगी बन गया। सबको कल्याणके मार्ग पर लगाना ही एक मात्र अब इसका कर्त्तव्य होगया।

दोनों भाइयोंकी कुछ दिनोंतक तो पटी, पर बादमें किसी कारणको लेकर बिगड़ पड़ी। उसका फल यह निकला कि छोटे भाईने राज्यके लोभमें फँस कर और अपने बड़े भाईके विरुद्ध षड्यंत्र रच उसे राज्यसे निकाल दिया। देवदारुको अपने मानभंगका बड़ा दुःख हुआ। वह वहाँसे चलकर कैलास पर आया और यहीं पर रहने भी लगा। सच है, घरेन्द्र झगड़ोंसे कौन नष्ट नहीं हो जाता। देवदारुके

आठ कन्याएँ थीं और सब ही बड़ी सुन्दर थीं। सो एक दिन ये सब बहिनें मिलकर तलाव पर स्नान करनेको आईं। अपने सब कपड़े उतारकर ये नहानेको जलमें घुसीं। रुद्र मुनिने इन्हें खुले शरीर देखा। देखते ही वह कामसे पीड़ा जाकर इन पर मोहित हो गया। उसने अपनी विद्या द्वारा उनके सब कपड़े चुरा मँगाये। कन्याएँ जब नहाकर जल बाहर हुईं तब उन्होंने देखा कपड़े वहाँ नहीं; उन्हें बड़ा ही आश्चर्य हुआ। वे खड़ी खड़ी बेचारी लज्जाके मारे सिकुड़ने लगीं और व्याकुल भी वे अत्यन्त हुईं। इतनेमें उनकी नजर रुद्रमुनि पर पड़ी। उन्होंने मुनिके पास जाकर बड़े संकोचके साथ पूछा– प्रभो, हमारे वस्त्रोंको यहाँसे कौन ले गया? कृपाकर हमें बतलाइए। सच है, पापके उदयसे आपत्ति आ पड़ने पर लज्जा–संकोच सब जाता रहता है। पापी रुद्र मुनिने निर्लज्ज होकर उन कन्याओंसे कहा–हाँ मैं तुम्हारे वस्त्र वगैरह सब बता सकता हूं, पर इस शर्त पर कि यदि तुम मुझे चाहने लगो। कन्याओंने तब कहा–हम अभी अबोध ठहरीं, इस लिए हमें इस बात पर विचार करनेका कोई अधिकार नहीं। हमारे पिताजी यदि इस बातको स्वीकार करलें तो फिर हमें कोई उजर नहीं रहेगा। कुलबालिकाओंका यह उत्तर देना उचित ही था। उनका उत्तर सुनकर मुनिने उन्हें उनके वस्त्र वगैरह दे दिये। उन बालिकाओंने घर पर आकर यह सब घटना अपने पितासे कह सुनाई। देवदारुने तब अपने एक विश्वस्त कर्मचारीको मुनिके पास कुछ बातें समझाकर भेजा। उसने जाकर देवदारुकी ओरसे कहा–आपकी इच्छा देव-

दारु महाराजको जान पड़ी। उसके उत्तरमें उन्होंने यह कहा है कि हॉ मैं अपनी लड़कियोंको आपको अपर्ण कर सकता हूं, पर इस शर्त पर कि "आप विद्युज्जिह्वको मारकर मेरा राज्य पीछा मुझे दिलवादें।" रुद्रने यह स्वीकार किया। सच है, कामी पुरुष कौन पाप नहीं करता। रुद्रको अपनी इच्छाके अनुकूल देख देवदारु उसे अपने घर पर लिवा लाया। और वहुत ठीक है, राज्य-भ्रष्ट राजा राज्यप्राप्तिके लिए क्या काम नहीं करता।

इसके वाद रुद्र विजयार्द्ध पर्वत पर गया और विद्याओंकी सहायतासे उसने विद्युज्जिह्वको मारकर उसी समय देवदारुको राज्य-सिंहासन पर वैठा दिया। राज्यप्राप्तिके वाद ही देवदारुने भी अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। अपनी सव लड़कियोंका व्याह आनन्द-उत्सवके साथ उसने रुद्रसे कर दिया। इसके सिवा उसने और भी वहुतसी कन्याओंको उसके साथ व्याह दिया। रुद्र तव वहुत ही कामी होगया। उसके इस प्रकार तीव्र कामसेवनका नतीजा यह हुआ कि सैकडों वेचारी राजवालिकाएँ अकालहीमें मर गईं। पर यह पापी तव भी सन्तुष्ट नहीं हुआ। इसने अवकी वार पार्वतीके साथ व्याह किया। उसके द्वारा इसकी कुछ तृप्ति जरूर हुई।

कामी होनेके सिवा इसे अपनी विद्याओंका भी वड़ा घमण्ड होगया था। इसने सव राजाओंको विद्यावलसे वड़ा कष्ट दे रक्खा था–विना ही कारण यह सवको तंग किया करता था। और सच भी है दुष्टसे किसे शान्ति मिल सकती है। इसके द्वारा वहुत तंग आकर

तथा और भी बहुतसे राजाओंने मिलकर इसे मार डालनेका विचार किया। पर इसके पास था विद्याओंका बल, सो उसके सामने होनेकी किसीकी हिम्मत न पड़ती और पड़ती भी तो वे कुछ कर नहीं सकते। तब उन्होंने इस बातका शोध लगाया कि विद्याएँ इससे किस समय अलग रहती हैं। इस उपायसे उन्हें सफलता प्राप्त हुई। उन्हें यह ज्ञात होगया कि कामसेवनके समय सब विद्याएँ रुद्रसे पृथक् हो जाती हैं। सो मौका देखकर पार्वतीके पिता वगैरहने खड्ग द्वारा रुद्रको सस्त्रीक मारडाला। सच है, पापियोंके मित्र भी शत्रु हो जाया करते हैं।

विद्याएँ अपने स्वामीकी मृत्यु देखकर बड़ी दुखी हुईं और साथ ही उन्हें क्रोध भी अत्यन्त आया। उन्होंने तब प्रजाको दुःख देना शुरू किया और अनेक प्रकारकी बीमारियाँ प्रजामें फैलादीं। उससे बेचारी गरीब प्रजा त्राह त्राह कर उठी। इसी समय एक ज्ञानी मुनि इस ओर आ निकले। प्रजाके कुछ लोगोंने जाकर मुनिसे इस उपद्रवका कारण और उपाय पूछा। मुनिने सब कथा कहकर कहा–जिस अवस्थामें रुद्र मारा गया है, उसकी एकवार स्थापना करके उससे क्षमा कराओ। वैसा ही किया गया। प्रजाका उपद्रव शान्त हुआ। पर तब भी लोगोंकी मूर्खता देखो जो एकवार कोई काम किसी कारणको लेकर किया गया सो उसे अब तक भी गडरिया प्रवाहकी तरह करते चले आते हैं और देवताके रूपमें उसकी सेवा-पूजा करते हैं। पर यह ठीक नहीं। सच्चा देव वही हो सकता है जिसमें राग, द्वेष

नहीं, जो सबका जानने और देखनेवाला है और जिसे स्वर्ग-के देव, चक्रवर्ती, विद्याधर, राजा, महाराजा आदि सभी वड़े वड़े लोग मस्तक झुकाते हैं। और ऐसे देव एक अर्हन्त भगवान् ही हैं।

वे जिन भगवान् मुझे शान्ति दें, जो अनन्त उत्तम उत्तम गुणोंके धारक हैं, सब सुखोंके देनेवाले हैं, दुःख, शोक, सन्तापके नाश करनेवाले हैं, केवलज्ञानके रूपमें जो संसा-रका आताप हर कर उसे शीतलता देनेवाले चन्द्रमा हैं और तीनों लोकोंके स्वामियों द्वारा जो भक्तिपूर्वक पूजे जाते हैं।

३८—लौकिक ब्रह्माकी कथा।



संसारके द्वारा पूजे गये भगवान् आदि ब्रह्मा (आदिनाथ स्वामी) को नमस्कार कर, देवपुत्र ब्रह्माकी कथा लिखी जाती है।

कुछ असमझ लोग ऐसा कहते हैं कि एक दिन ब्रह्माजीके मनमें आया कि मैं इंद्रादिकोंका पद छीनकर सर्व श्रेष्ठ हो जाऊँ, और इसके लिए उन्होंने एक भयंकर वनीमें हाथ ऊँचा किये बड़ी घोर तपस्या की। वे कोई साढ़े चार हजार वर्ष पर्यन्त (यह वर्षसंख्या देवोंके वर्षके हिसाबसे है, जो कि मनुष्योंके वर्षोंसे कई गुणी होती है।) एक ही पाँवसे खड़े रहकर तप करते रहे और केवल वायुका आहार करते रहे। ब्रह्माजीकी यह कठिन तपस्या निष्फल न गई।

तीन लोकका स्वामी देव कहा जाता है वह क्या ऐसा नीच-कर्म करेगा? समझदारोंको ये बातें झूठी समझना चाहिए। और जिसमें ऐसी बातें हैं वह कभी ब्रह्मा नहीं हो सकता। जैनशास्त्रोंमें ब्रह्मा उसे कहा है, जो मोक्षमार्गका बतानेवाला, सच्चे ज्ञान और सच्चे चारित्रकी प्राप्ति करानेवाला और आत्माको निजस्वरूपमें स्थिर करनेवाला है। वह अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन अवस्थाओंसे पाँच प्रकारका है। इनके सिवा संसारमें और कोई ब्रह्मा नहीं है। क्योंकि राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ—आदि दोषोंसे युक्त कभी ब्रह्मा—देव हो ही नहीं सकता। किन्तु जो इन रागादि दोषोंसे रहित हैं, लोक और अलोकके जाननेवाले हैं और केवलज्ञान रूपी नेत्रसे युक्त हैं वे ही ऋषभ भगवान् मेरे सच्चे ब्रह्मा हैं।

वे परम पवित्र आदिनाथ जिनेन्द्र मुझे संसारके दुःखोंसे छुटाकर शान्ति प्रदान करें, जो भव्यजनरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिए सूरजके समान हैं, संसार-समुद्रसे पार करनेवाले हैं, गुणोंके समुद्र हैं, स्वर्ग और मोक्षका पवित्र सुख देनेवाले हैं, इंद्रादि देवों द्वारा पूज्य हैं और केवलज्ञान-द्वारा सारे संसारके जानने और देखनेवाले हैं।

३९–परिग्रहसे डरे हुए दो भाइयोंकी कथा।



धन, धान, दास, दासी, सोना, चांदी, आदि, जो संसारके जीवोंको तृष्णाके जालमें फँसाकर कष्ट पर कष्ट देनेवाले हैं, ऐसे परिग्रहसे माया-ममता छोड़ने वाले जो साधु-सन्त हैं, उनसे भी जो ऊँचे हैं–जिनके त्यागसे आगे त्यागकी कोई सीमा नहीं, ऐसे सर्व-श्रेष्ठ जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर परिग्रहसे डरे हुए दो भाइयोंकी कथा लिखी जाती है।

दशार्ण देशमें बहुत सुन्दर एकरथ नामका एक शहर था। उसमें धनदत्त नामका सेठ रहता था। इसकी स्त्रीका नाम धनदत्ता था। इसके धनदेव और धनमित्र ऐस दो पुत्र और धनमित्रा नामकी एक सुन्दर लड़की थी।

धनदत्तकी मृत्युके बाद इन दोनों भाइयोंके कोई ऐसा पाप-कर्मका उदय आया, जिससे इनका सब धन-धन नष्ट होगया—ये महा दरिद्र बन गये। 'कुछ सहायता मिलेगी' इस आशासे ये दोनों भाई अपने मामाके यहाँ कौशाम्बी गये और इन्होंने बड़े दुःखके साथ पिताकी मृत्युका हाल मामाको सुनाया। मामा भी इनकी हालत देखकर बड़ा दुःखी हुआ। उसने अनेक प्रकार समझा-बुझाकर इन्हें धीरज दिया और साथ ही आठ कीमती रत्न दिये, जिससे कि ये अपना संसार

चला सकें। सच है, यही वन्धुपना है, यही दयालुपना है, और यही गंभीरता है जो अपने धन द्वारा याचकोंकी आशा पूरी की जाय।

दोनों भाई उन रत्नोंको लेकर पीछे अपने घरकी ओर रवाना हुए। रास्तेमें आते आते इन दोनोंकी नियत उन रत्नोंके लोभसे विगड़ी। दोनोंहीके मनमें परस्परके मार डालनेकी इच्छा हुई। इतनेमें गांव पास आजानेसे इन्हें सुवुद्धि सूझ गई। दोनोंने अपने अपने नीच विचारों पर वड़ा ही पश्चात्ताप किया और परस्परमें अपना विचार प्रगट कर मनका मैल निकाल डाला। ऐसे पाप विचारोंके मूल कारण इन्हें वे रत्न ही जान पड़े। इस लिए उन रत्नोंको वेत्रवती नदीमें फेंककर ये अपने घर पर चले आये। उन रत्नोंको मांस समझकर एक मछली निगल गई। यही मछली एक धीवरके जालमें आ फँसी। धीवरने मछलीको मारा। उसमेंसे वे रत्न निकले। धीवरने उन्हें वाजारमें वेच दिया। धीरे धीरे कर्मयोगसे वे ही रत्न इन दोनों भाइयोंकी माके हाथ पड़े। माताने उनके लोभसे अपने लड़के लड़कीको ही मार डालना चाहा। परन्तु तत्काल सुवुद्धि उपज जानेसे उसने वहुत पश्चात्ताप किया और रत्नोंको अपनी लड़कीको दे दिये। धनमित्राकी भी यही दशा हुई। उसकी भी लोभके मारे नियत विगड़ गई। उसने माता, भाई—आदिकी जान लेनी चाही। सच है, संसारमें सवसे वड़ा भारी पापका मूल लोभ है। अन्तमें धनमित्राको भी अपने विचार पर वड़ी घृणा हुई और उसने फिर उन रत्नोंको अपने भाइयोंके हाथ दे दिया।

वे उन्हें पहिचान गये। उन्हें रत्नोंके प्राप्त होनेका हाल जानकर बड़ा ही वैराग्य हुआ। उसी समय वे संसारकी सब माया-ममता छोड़कर, जो कि महा दुःखकी कारण है, दमधर मुनिके पास दीक्षा ले-गये। इन्हें साधु हुए देखकर इनकी माता और बहिन भी आर्यिका हो गईं। आगे चलकर ये दोनों भाई बड़े तपस्वी—महात्मा हुए। अपना और दूसरोंका संसारके दुःखोंसे उद्धार करना ही एक मात्र इनका कर्त्तव्य हो गया। स्वर्गके देवता और प्रायः सब ही बड़े बड़े राजा महाराजा इनकी सेवा पूजा करनेको आने लगे।

यह लोभ संसारके दुःखोंका मूल कारण और अनेक कष्टोंका देनेवाला है, माता, पिता, भाई, बहिन, बन्धु, बान्धव-आदिके परस्परमें ठगने और बुरे विचारोंके उत्पन्न करनेका घर है। समझदारोंको, जो कि अपना हित करनेकी इच्छा करते हैं, चाहिए कि वे इस पापके बाप लोभको मनसा वाचा कर्मणा छोड़कर संसारका हित करनेवाले और स्वर्ग तथा मोक्षका सुख देनेवाले जिनेन्द्र भगवान्के उपदेश किये परम पवित्र धर्ममें अपने मनको दृढ़ करनेका यत्न करें।

४०-धनसे डरे हुए सागरदत्तकी कथा।



केवलज्ञानरूपी उज्ज्वल नेत्र द्वारा तीनों लोकोंको देखने और जाननेवाले ऐसे जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर धनके लोभसे डरकर मुनि हो जानेवाले सागरदत्तकी कथा लिखी जाती है।

किसी समय धनमित्र, धनदत्त आदि वहुतसे सेठोंके पुत्र व्यापारके लिए कौशाम्वीसे चलकर राजगृहकी ओर रवाना हुए। रास्तेमें एक गहन वनीमें चोरोंने इन्हें लूट-लिया-इनका सव माल-असवाव छीन-छानकर वे चलते हुए। सच है, जिनके पल्लेमें कुछ पुण्य नहीं होता वे कोई भी काम करें, उन्हें नुकसान ही उठाना पड़ता है।

उधर धन पाकर चोरोंकी नियत विगड़ी। सव परस्परमें यह चाहने लगे कि धन मेरे ही हाथ पड़े और किसीको कुछ न मिले। और इसी लालसासे एक एकके विरुद्ध जान लेनेकी कोशिश करने लगा। रातको जव वे सव खानेको वैठे तो किसीने भोजनमें विष मिला दिया और उसे खाकर सवके सव परलोक सिधार गये। यहाँतक कि जिसने विष मिलाया था, वह भी भ्रमसे उसे खाकर मर गया। उनमें एक सागरदत्त नामक वैश्यपुत्र वच गया। वह इस लिए कि उसे रातमें खाने-पीनेकी प्रतिज्ञा थी। धनके लोभमें फँसनेसे एक साथ सवको मरा देख सागरदत्तको वड़ा वैराग्य हुआ। वह उस सव धनको वहीं छोड़-छाड़कर चल दिया और एक साधुके पास जाकर आप मुनि वन गया।

रात्रिभुक्तत्यागव्रती सागरदत्तने संसारकी सब लीलाओंको दुःखकी कारण और जीवनको बिजलीकी तरह पलभरमें नाश होनेवाला समझ सब धन वहीं पर पड़ा छोड़कर आप एक ऊँचे आचरणका धारक साधु हो गया। वह सागरदत्त मुनि आप सज्जनोंका कल्याण करें।

४१–धनके लोभसे भ्रममें पड़े कुवेरदत्तकी कथा।



नेन्द्र भगवान्को, जो कि सारे संसार द्वारा पूज्य हैं, और सबसे उत्तम गिनी जानेवाली जिनवाणीको तथा गुरुओंको भक्तिपूर्वक नमस्कार कर परिग्रहके सम्बन्धकी कथा लिखी जाती है।

मणिवत देशमें मणिवत ही नामका एक शहर था। उसके राजाका नाम भी मणिवत था। मणिवतकी रानी पृथिवीमती थी। इसके मणिचन्द्र नामका एक पुत्र था। मणिचन्द्र विद्वान्, बुद्धिवान् और अच्छा शूरवीर था। राजकाजमें उसकी बहुत अच्छी गति थी।

राजा पुण्योदयसे राजकाज योग्यताके साथ चलाते हुए सुखसे अपना समय बिताते थे। धर्म पर उनकी पूरी श्रद्धा थी। वे सुपात्रोंको प्रतिदिन दान देते, भगवान्की पूजा करते और दूसरोंकी भलाई करनेमें भरसक यत्न करते।

एक दिन रानी पृथिवीदेवी महाराजके बालोंको सँवार रही थीं कि उनकी नजर एक सफेद बाल पर पड़ी। रानीने उसे निकालकर राजाके हाथमें रख दिया। राजा उस सफेद बालको कालका भेजा दूत समझकर संसार और विषयभोगोंसे बड़े विरक्त होगये। उन्होंने अपने मणिचन्द्र पुत्रको राज्य-का सब कारबार सौंप दिया और आप भगवान्की पूजा-अभिषेक कर तथा याचकोंको दान दे जंगलकी ओर रवाना होगये और दीक्षा लेकर तपस्या करने लगे। वे अब दिनोंदिन आत्माको पवित्र बनाते हुए परमात्म-स्मरणमें लीन रहने लगे।

मणिवत मुनि नाना देशोंमें धर्मोपदेश करते हुए एक दिन उज्जैनके बाहर मसानमें आये। रातके समय वे मृतक शय्या द्वारा ध्यान करते हुए शान्तिके लिए परमात्माका स्मरण-चिन्तन कर रहे थे। इतनेमें वहाँ एक कापालिक वैतालीविद्या साधनके लिए आया। उसे चूल्हा बनानेके लिए तीन मुर्दोंकी जरूरत पड़ी। सो एक तो उसने मुनिको समझ लिया और दो मुर्दोंको वह और घींस लाया। उन तीनोंके सिरका चूल्हा बनाकर उस पर उसने एक नर कपाल रक्खा और आग सुलगाकर कुछ नैवेद्य पकाने लगा। थोड़ी देर बाद जब आग जोरसे चेती और मुनिकी नसें जलने लगीं तब एकदम मुनिका हाथ ऊपरकी ओर उठ जानेसे सिर-परका कपाल गिर पड़ा। कापालिक उससे डरकर भाग खड़ा हुआ। मुनिराज मेरु समान वैसेके वैसे ही अचल बने रहे। सवेरा होने पर किसी आते जाते मनुष्यने मुनिकी यह दशा देख जिनदत्तको यह सब हाल कह सुनाया। जिनदत्त

उसी समय दौड़ा दौड़ा मसानमें गया। मुनिकी दशा देखकर उसे बेहद दुःख हुआ। मुनिको अपने घर पर लाकर उसने एक प्रसिद्ध वैद्यसे उनके इलाजके लिए पूछा। वैद्य महाशयने कहा—सोमशर्मा भट्टके यहाँ लक्षपाक नामका बहुत ही उम्दा तैल है, उसे लाकर लगाओ। उससे बहुत जल्दी आराम होगा—आगका जला उससे फौरन आराम होता है। सेठ सोमशर्माके घर दौड़ा हुआ गया। घर पर भट्ट महाशय नहीं थे, इस लिए उसने उनकी तुकारी नामकी स्त्रीसे तैलके लिए प्रार्थना की। तैलके कई घड़े उसके यहाँ भरे रक्खे थे। तुकारीने उनमेंसे एक घड़ा लेजानेको जिनदत्तसे कहा। जिनदत्त ऊपर जाकर एक घड़ा उठाकर लाने लगा। भाग्यसे सीढ़ियाँ उतरते समय पाँव फिसल जानेसे घड़ा उसके हाथोंसे छूट पड़ा। घड़ा फूट गया और तैल सब रेलम-ठेल होगया। जिनदत्तको इससे बहुत भय हुआ। उसने डरते डरते घड़ेके फूट जानेका हाल तुकारीसे कहा। तब तुकारीने दूसरा घड़ा ले आनेको कहा। उसे पहले घड़ेके फूट जानेका कुछ भी खयाल नहीं हुआ। सच है, सज्जनोंका हृदय समुद्रसे भी कहीं अधिक गंभीर हुआ करता है। जिनदत्त दूसरा घड़ा ले कर आ रहा था। अबकी बार तैलसे चिकनी जगह पर पाँव पड़ जानेसे फिर भी वह फिसल गया और घड़ा फूटकर उसका सब तैल बह गया। इसी तरह तीसरा घड़ा भी फूट गया। अब तो जिनदत्तके देवता कूँच कर गये। भयके मारे वह थर थर काँपने लगा। उसकी यह दशा देखकर तुकारीने उससे कहा कि घबराने और डरनेकी

कोई वात नहीं। तुमने कोई जानकर थोड़े ही फोड़े हैं। तुम किसी तरहकी चिन्ता-फिकर मत करो। जव तक तुम्हें जरूरत पड़े तुम प्रसन्नताके साथ तैल लेजाया करो। देनेसे मुझे कोई उजर न होगा। कोई कैसा ही सहनशील क्यों न हो, पर ऐसे मौके पर उसे भी गुस्सा आये विना नहीं रहता। फिर इस स्त्रीमें इतनी क्षमा कहांसे आई? इसका जिनदत्तको वड़ा आश्चर्य हुआ। जिनदत्तने तुकारीसे पूछा भी, कि मा, मैंने तुम्हारा इतना भारी अपराध किया, उस पर भी तुमको रत्तीभर क्रोध नहीं आया, इसका कारण क्या है? तुकारीने कहा–भाई, क्रोध करनेका फल जैसा चाहिए वैसा मैं भुगत चुकी हूं। इस लिए क्रोधके नामसे ही मेरा जी काँप उठता है। यह सुनकर जिनदत्तका कौतुक और वढ़ा, तव उसने पूछा यह कैसे? तुकारी कहने लगी—

"चन्दनपुरमें शिवशर्मा ब्राह्मण रहता है। वह धनवान् और राजाका आदरपात्र है। उसकी स्त्रीका नाम कमलश्री है। उसके कोई आठ तो पुत्र और एक लड़की है। लड़कीका नाम भट्टा है और वह मैं ही हूं। मैं थी वड़ी सुन्दरी, पर मुझमें एक वड़ा दुर्गुण था। वह यह कि मैं अत्यन्त मानिनी थी। मैं वोलनेमें वड़ी ही तेज थी और इसी लिए मेरे भयका सिक्का लोगोंके मन पर ऐसा जमा हुआ था कि किसीकी हिम्मत मुझे 'तू" कहकर पुकारनेकी नहीं होती थी। मुझे ऐसी अभिमानिनी देखकर मेरे पिताने एकवार शहरमें डौंडी पिटवा दी कि मेरी बेटीको कोई 'तू' कहकर न पुकारे। क्योंकि जहाँ मुझसे किसीने 'तू' कहा कि मैं उससे लड़ने झगड़ने-

को तैयार ही रहा करती थी और फिर जहाँतक मुझमें शक्ति-जोर होता मैं उसकी हजारों पीढ़ियोंको एक पलभरमें अपने सामने ला खड़ा करती और पिताजी इस लड़ाई-झगड़ेसे सौ हाथ दूर भागनेकी कोशिश करते। जो हो, पिताजीने तो अच्छा ही काम किया था, पर मेरे खोटे भाग्यसे उनका डौंडी पिटवाना मेरे लिए बहुत ही बुरा हुआ। उस दिनसे मेरा नाम ही 'तुकारी' पड़ गया और सब ही मुझे इस नामसे पुकार पुकार कर चिढ़ाने लगे। सच है, अधिक मान भी कभी अच्छा नहीं होता। और इसी चिढ़के मारे मुझसे कोई व्याह करने तकके लिए तैयार न होता था। मेरे भाग्यसे इन सोमशर्माजीने इस बातकी प्रतिज्ञा की कि मैं कभी इसे 'तू' कहकर न पुकारूंगा। तब इनके साथ मेरा व्याह हो गया। मैं बड़े उत्साहके साथ उज्जैनमें लाई गई। मैं सच कहूंगी कि इस घरमें आकर मैं बड़े सुखसे रही। भगवान्‌की कृपासे घर सब तरह हरा भरा है। धन सम्पत्ति भी मनमानी है।

पर 'पड़ा स्वभाव जाय जीवसे' इस कहावतके अनुसार मेरा स्वभाव भी सहजमें थोड़े ही मिट जानेवाला था। सो एक दिनकी बात है कि मेरे स्वामी नाटक देखने गये। नाटक देखकर आते हुए उन्हें बहुत देर लग गई। उनकी इस देरी पर मुझे अत्यन्त गुस्सा आया। मैंने निश्चय कर लिया कि आज जो कुछ हो, मैं कभी दरवाजा नहीं खोलूंगी और मैं सो गई। थोड़ी देर बाद वे आये और दरवाजे पर खड़े रहकर किवाड़ खोलनेको बारबार मुझे पुकारने लगे। मैं चुप्पी

साथे पड़ी रही, पर मैंने किवाड़ न खोले। बाहरसे चिल्लाते चिल्लाते वे थक गये, पर उसका मुझ पर कुछ असर न हुआ। आखिर उन्हें भी बड़ा क्रोध हो आया। क्रोधमें आकर वे अपनी प्रतिज्ञा तक भूल बैठे। सो उन्होंने मुझे 'तू' कहकर पुकार लिया। बस, उनका 'तू' कहना था कि मैं सिरसे पाँवतक जल उठी और क्रोधसे अन्धी बनकर किवाड़ खोलती हुई घरसे निकल भागी। मुझे उस समय कुछ न सूझा कि मैं कहाँ जा रही हूं। मैं शहर बाहर होकर जंगलकी ओर चल धरी। रास्तेमें चोरोंने मुझे देख लिया। उन्होंने मेरे सब गहने-दागीने और वस्त्र छीन-छानकर विजयसेन नामके एक भीलको सौंप दिया। मुझे खूबसूरत देखकर इस पापीनें मेरा धर्म बिगाड़ना चाहा, पर उस समय मेरे भाग्यसे किसी दिव्य स्त्रीने आकर मुझे बचाया—मेरे धर्मकी उसने रक्षा की। भीलने उस दिव्य स्त्रीसे डरकर मुझे एक सेठके हाथ सौंप दिया। उसकी नियत भी मुझ पर बिगड़ी। मैंने उसे खूब ही आड़े हाथों लिया। इससे वह मेरा कर तो कुछ न सका, पर गुस्सेमें आकर उस नीचने मुझे एक ऐसे मनुष्यके हाथ सौंप दिया जो जीवोंके खूनसे रँगकर कम्बल बनाया करता था। वह मेरे शरीर पर जौंके लगा-लगाकर मेरा रोज रोज बहुतसा खून निकाल लेता था और उसमें फिर कम्बलको रँगा करता था। सच है, एक तो वैसे ही पापकर्मका उदय और उस पर ऐस[illegible]हा क्रोध, तब उससे मुझ सरीखी हतभागिनियोंको यदि पद पद[illegible]र कष्ट उठाना पड़े तो उसमें आश्चर्य ही क्या ?

इसी समय उज्जैनके राजाने मेरे भाईको यहांके राजा पारसके पास किसी कार्यके लिए भेजा। मेरा भाई अपना काम पूराकर पीछा उज्जैनकी ओर जा रहा था कि अचानक मेरी उसकी भेंट हो गई। मैंने अपने कर्मों पर बड़ा पश्चात्ताप किया। जब मैंने अपना सब हाल उससे कहा तो उसे भी बहुत दुःख हुआ। उसने मुझे धीरज दिया। इसके बाद वह उसी समय राजाके पास गया और सब हाल उनसे कहकर उस कम्बल बनानेवाले पापीसे उसने मेरा पंजा छुड़ाया। वहाँसे लाकर बड़ी आर्जू-मिन्नतके साथ उसने फिर मुझे अपने स्वामीके घर ला रक्खा। सच है, सच्चे बन्धु वे ही हैं जो कष्टके समय काम आवें। यह तो तुम्हें मालूम ही है कि मेरे शरीरका प्रायः खून निकल चुका था। इसी कारण घर पर आते ही मुझे लकवा मार गया। तब वैद्यने यह लक्षपाक तैल बनाकर मुझे जिलाया। इसके बाद मैंने एक वीतरागी साधु द्वारा धर्मोपदेश सुनकर सर्वश्रेष्ठ और सुख देनेवाला सम्यक्त्वव्रत ग्रहण किया और साथ ही यह प्रतिज्ञा की कि आजसे मैं किसी पर क्रोध नहीं करूँगी। यही कारण है कि मैं अब किसी पर क्रोध नहीं करती।" अब आप जाइए और इस तैल द्वारा मुनिराजकी सेवा कीजिए। अधिक देरी करना उचित नहीं है।

जिनदत्त भट्टाको नमस्कार कर घर गया और तैलका मालिश वगैरहसे बड़ी सावधानीके साथ मुनिकी सेवा करने लगा। कुछ दिनोंतक बराबर मालिश करते रहनेसे मुनिको आराम हो गया। सेठने भी अपनी इस सेवा-भक्ति द्वारा

वहुत पुण्यवन्ध किया। चौमासा आगया था। इस लिए मुनि-राजने कहीं अन्यत्र जाना ठीक न समझ यहीं जिनदत्त सेठके जिन मन्दिरमें वर्षायोग ले-लिया और यहीं वे रहने लगे।

जिनदत्तका एक लड़का था। नाम इसका कुवेरदत्त था। इसका चालचलन अच्छा न देखकर जिनदत्तने इसके डरसे कीमती रत्नोंका भरा अपना एक घड़ा जहाँ मुनि सोया करते थे वहाँ खोदकर गाड़ दिया। जिनदत्तने यह कार्य किया तो था वड़ी छुपका-चोरीसे, पर कुवेरदत्तको इसका पता पड़ गया। उसने अपने पिताका सव कर्म देख लिया और मौका पाकर वहाँसे घड़ेको निकाल मन्दिरके आँगनमें दूसरी जगह गाड़ दिया। कुवेरदत्तको ऐसा करते मुनिने देख लिया था, परन्तु तव भी वे चुपचाप रहे और उन्होंने किसीसे कुछ नहीं कहा। और कहते भी कहाँसे जव कि उनका यह मार्ग ही नहीं है।

जव योग पूरा हुआ तव मुनिराज जिनदत्तको सुख-साता पूछकर वहाँसे विहार कर गये। शहर वाहर जाकर वे ध्यान करने वैठे। इधर मुनिराजके चले जाने वाद सेठने वह रत्नोंका घड़ा घर लेजानेके लिए जमीन खोद कर देखा तो वहाँ घड़ा नहीं। घड़ेको एकाएक गायव हो जानेका उसे वड़ा अचंभा हुआ और साथ ही उसका मन व्याकुल भी हुआ। उसने सोचा कि घड़ेका हाल केवल मुनि ही जानते थे, फिर वड़े अचंभेकी वात है कि उनके रहते यहाँसे घड़ा गायव हो जाय? उसे घड़ा गायव करनेका मुनिपर कुछ सन्देह हुआ। तव वह मुनिके पास गया और उनसे

उसने प्रार्थना की कि प्रभो, आप पर मेरा बड़ा ही प्रेम है— आप जबसे चले आये हैं तबसे मुझे सुहाता ही नहीं; इस लिए चल कर आप कुछ दिनों तक और वहीं ठहरें तो बड़ी कृपा हो। इस प्रकार मायाचारीसे जिनदत्त मुनिराज्को पीछा अपने मन्दिर पर लौटा लाया। इसके बाद उसने कहा- स्वामी, कोई ऐसी धर्म-कथा सुनाइए, जिससे मनोरंजन हो। तब मुनि बोले—हम तो रोज ही सुनाया करते हैं, आज तुम ही कोई ऐसी कथा कहो। तुम्हें इतने दिन शास्त्र पढ़ते हो गये, देखें तुम्हें उनका सार कैसा याद रहता है? तब जिनदत्त अपने भीतरी कपट-भावोंको प्रकट करनेके लिए एक ऐसी ही कथा सुनाने लगा। वह बोला—

"एक दिन पद्मरथपुरके राजा वसुपालने अयोध्याके महाराज जितशत्रुके पास किसी कामके लिए अपना एक दूत भेजा। एक तो गर्मीका समय और ऊपरसे चलनेकी थकावट सो इसे बड़े जोरकी प्यास लग आई। पानी इसे कहीं नहीं मिला। आते आते यह एक घनी वनीमें आकर वृक्षके नीचे गिर पड़ा। इसके प्राण कण्ठगत हो गये। इसकी यह दशा देखकर एक बन्दर दौड़ा दौड़ा तालाब पर गया और उसमें डूबकर यह उस वृक्षके नीचे पड़े पथिके पास आया। आते ही इसने अपने शरीरको उस पर छिड़का दिया। जब जल उस पर गिरा और उसकी आँखें खुलीं तब बन्दर आगे होकर उसे इशारेसे तालाबके पास ले गया। जल पीकर इसे बहुत शान्ति मिली। अब इसे आगेके लिए जलकी चिन्ता हुई। पर इसके पास कोई बरतन वगैरह न होनेसे

यह जल लेजा नहीं सकता था। तब इसे एक युक्ति सूझी। इसने उस बेचारे जीवदान देनेवाले बन्दरको बन्दूकसे मारकर उसके चमड़ेकी थैली बनाई और उसमें पानी भरकर यह चल दिया।" अच्छा प्रभो, अब आप बतलाइए कि उस नीच, निर्दयी, अधर्मीको अपने उपकारी बन्दरको मार डालना क्या उचित था? मुनि बोले तुम ठीक कहते हो। उस दूतका यह अत्यन्त कृतघ्नता भरा नीच काम था। इसके बाद अपनेको निर्दोष सिद्ध करनेके लिए मुनिराजने भी एक कथा कहना आरंभ की। वे कहने लगे—

"कौशाम्बीमें किसी समय एक शिवशर्मा ब्राम्हण रहता था। उसकी स्त्रीका नाम कपिला था। इसके कोई लड़का-वाला नहीं था। एक दिन शिवशर्मा किसी दूसरे गांवसे अपने शहरकी ओर लौट रहा था। रास्तेमें एक जंगलमें उसने एक नेवलाके बच्चेको देखा। शिवशर्माने उसे घर उठा लाकर अपनी प्रियासे कहा—ब्राह्मणीजी आज मैंने तुम्हारे लिए एक लड़का लाया है। यह कहकर उसने नेवलेको कपिलाकी गोदमें रख दिया। सच है, मोहसे अन्धे हुए मनुष्य क्या नहीं करते! ब्राह्मणीने उसे ले-लिया और पाल-पोस कर उसे कुछ सिखा-विखा भी दिया। नेवलेमें जितना ज्ञान और जितनी शक्ति थी वह उसके अनुसार ब्राह्मणीका बताया कुछ काम भी कर दिया करता था।

भाग्यसे अब ब्राह्मणीके भी एक पुत्र हो गया। सो एक दिन ब्राह्मणी बच्चेको पलनेमें सुलाकर आप धान खाँडनेको चली गई और जाते समय पुत्ररक्षाका भार वह नेवलेको

सौंपती गई। इतनेमें एक सर्पने आकर उस बच्चेको काट लिया। बच्चा मर गया। क्रोधमें आकर नेवलेने सर्पके टुकड़े टुकड़े कर डाले। इसके बाद वह खूनभरे मुँहसे ही कपिलाके पास गया। कपिला उसे खूनसे लथ-पथ भरा देखकर काँप गई। उसने समझा कि इसने मेरे बच्चेको खा लिया। उसे अत्यन्त क्रोध आया। क्रोधके वेगमें उसने न कुछ सोचा-विचारा और न जाकर देखा ही कि असलमें बात क्या है, किन्तु एक साथ ही पासमें पड़े हुए मूसलेको उठा कर नेवले पर दे मारा। नेवला तड़फड़ा कर मर गया। अब वह दौड़ी हुई बच्चेके पास गई। देखती है तो वहाँ एक काला भुजंग सर्प मरा हुआ पड़ा है। फिर उसे बहुत पछतावा हुआ। ऐसे मूर्खोंको धिक्कार है जो बिना विचारे जल्दीमें आकर हर एक काम कर बैठते हैं।" अच्छा सेठ महाशय, कहिए तो सर्पके अपराध पर बेचारे नेवलेको इस प्रकार निर्दयतासे मार देना ब्राह्मणीको योग्य था क्या? जिनदत्तने कहा—नहीं। यह उसकी बड़ी गलती हुई। यह कहकर उसने फिर एक कथा कहना आरंभ की—

"बनारसके राजा जितशत्रुके यहाँ धनदत्त राज्यवैद्य था। इसकी स्त्रीका नाम धनदत्ता था। वैद्य महाशयके धनमित्र और धनचन्द्र नामके दो लड़के थे। लाड़-प्यारमें रहकर इन्होंने अपनी कुलविद्या भी न पढ़ पाई। कुछ दिनोंबाद वैद्यराज काल कर गये। राजाने इन दोनों भाइयोंको मूर्ख देख इनके पिताकी जीविका पर किसी दूसरेको नियुक्त कर दिया। तब इनकी बुद्धि ठिकाने आई। ये दोनों भाई अब

वैद्यशास्त्र पढ़नेकी इच्छासे चम्पापुरीमें शिवभूति वैद्यके पास गये । इन्होंने वैद्यसे अपनी सब हालत कहकर उनसे वैद्यक पढ़नेकी इच्छा जाहिर की । शिवभूति बड़ा दयावान् और परोपकारी था, इस लिए उसने इन दोनों भाइयोंको अपने ही पास रखकर पढ़ाया । और कुछ ही वर्षोंमें इन्हें अच्छा हुशियार कर दिया । दोनों भाई गुरु महाशयके अत्यन्त कृतज्ञ होकर पीछे बनारसकी ओर रवाना हुए । रास्तेमें आते हुए इन्होंने जंगलमें आँखकी पीड़ासे दुखी एक सिंहको देखा । धनचन्द्रको उस पर दया आई । अपने बड़े भाईके बहुत कुछ मना करने पर भी धनचन्द्रने सिंहकी आँखोंका इलाज किया । उससे सिंहको आराम हो गया । आँख खोलते ही उसने धनचन्द्रको अपने पास खड़ा पाया । वह अपने जन्म स्वभावको न छोड़कर क्रूरताके साथ उसे खा गया ।" मुनि-राज उस दुष्ट सिंहका बेचारे वैद्यको खा जाना क्या अच्छा काम हुआ ? मुनिने 'नहीं' कहकर एक और कथा कहना शुरू की ।

"चम्पापुरीमें सोमशर्मा ब्राह्मणकी दो स्त्रियाँ थीं । एकका नाम सोमिल्या और दूसरीका सोमशर्मा था । सोमिल्या बाँझ थी और सोमशर्माके एक लड़का था । यहीं एक बैल रहता था । लोग उसे 'भद्र' नामसे बुलाया करते थे । बेचारा बड़ा सीधा था । कभी किसीको मारता नहीं था । वह सबके घर पर घूमा-फिरा करता था । उसे इस तरह जहाँ थोड़ी बहुत घास खानेको मिलती वह उसे ही खाकर रह जाता था । एक दिन उस बाँझ पापिनी सोमशर्माने डाहके अपनी सौतके बच्चेको निर्दयतासे मार कर उसका

अपराध बेचारे बैल पर लगा दिया। उसे ब्राह्मण बालकका मारनेवाला समझ कर सब लोगोंने घास खिलाना छोड़ दिया और शहरसे निकाल बाहर कर दिया। बेचारा भूख-प्यासके मारे बड़ा दुःख पाने लगा। बहुत ही दुबला पतला हो गया। पर तब भी किसीने उसे शहर भीतर नहीं घुसने दिया। एक दिन जिनदत्त सेठकी स्त्री पर व्यभिचारका अपराध लगा। वह अपनी निर्दोषता बतलानेके लिए चौराहे पर जाकर खड़ी हुई, जहाँ बहुतसे मनुष्य इकट्ठे हो रहे थे। उसने कोई भयंकर दिव्य लेनेके इरादेसे एक लोहेके टुकड़ेको अग्निमें खूब तपाकर लाल सुर्ख किया। इस मौकेको अपने लिए बहुत अच्छा समझ उस बैलने झट वहाँ पहुँच कर जलते हुए उस लोहेके टुकड़ेको मुँहसे उठा लिया। उसकी यह भयंकर दिव्य देखकर सब लोगोंने उसे निर्दोष समझ लिया।" अच्छा सेठ महाशय, बतलाइए तो क्या उन मूर्ख लोगोंको बिना समझे-बूझे एक निरपराध पशु पर दोष लगाना ठीक था क्या? जिनदत्तने 'नहीं' कहकर फिर एक कथा छेड़ी। वह बोला—

"गंगाके किनारे कीचड़में एकबार एक हाथीका बच्चा फँस गया। विश्वभूति तापसने उसे तड़फते हुए देखा। वह कीचड़से उस हाथीके बच्चेको निकालकर अपने आश्रममें लिवा ले आया। उसने उसे बड़ी सावधानीके साथ पाला-पोसा भी। धीरे धीरे वह बड़ा होकर एक महान् हाथीके रूपमें आगया। श्रेणिकने इसकी प्रशंसा सुनकर इसे अपने यहाँ रख लिया। हाथी जब तक तापसके यहाँ रहा तब तक बड़ी स्वतंत्रतासे

रहा । यहाँ इसे कभी अंकुश वगैरहका कष्ट नहीं सहना पड़ा । पर जब यह श्रेणिकके यहाँ पहुँचा तबसे इसे बन्धन, अंकुश आदिका बहुत कष्ट सहना पड़ता था । इस दुःखके मारे एक दिन यह साँकल तोड़-ताड़ कर तापसके आश्रममें भाग आया । इसके पीछे पीछे राजाके नौकर भी इसे पकड़नेको आया । तापसी मीठे मीठे शब्दोंसे हाथीको समझा कर उसे नौकरोंके सुपुर्द करने लगा । हाथीको इससे अत्यन्त गुस्सा आया । सो इसने उस बेचारे तापसकी ही जान लेली । " तो क्या मुनिराज, हाथीको यह उचित था, कि वह अपनेको बचनेवालेको ही मारडाले ? इसके उत्तरमें मुनि 'ना' कहकर और एक कथा कहने लगे । उन्होंने कहा—

" हस्तिनागपुरकी पूरब दिशामें विश्वसेन राजाका बनाया आमोंका एक बगीचा था । उसमें आम खूब लग रहे थे । एक दिन एक चील मरे साँपको चोंचमें लिए आमके झाड़-पर बैठ गई । उस समय साँपके जहरसे एक आम पक गया—पीलासा पड़ गया । मालीने उस पके फलको ले-जाकर राजाकी भेंट किया । राजाने उसे " प्रेमोपहार " के रूपमें अपनी प्रिय रानी धर्मसेनाको दिया । रानी उसे खाते ही मर गई । राजाको बड़ा गुस्सा आया और उसने एक फलके बदले सारे बगीचेको ही कटवा डाला । " मुनिराजने कहा, तो क्या सेठ महाशय, राजाका यह काम ठीक हुआ ? सेठने भी 'ना' कहकर और एक कथा कहना शुरू की । वह बोला—

" एक मनुष्य जंगलमें चला जा रहा था । रास्तेमें वह सिंहको देखकर डरके मारे एक वृक्ष पर चढ़ गया । जब सिंह

चला गया, तब यह नीचे उतरा और जाने लगा। रास्तेमें इसे राजाके बहुतसे आदमी मिले, जो कि भेरीके लिए एक अच्छे और बड़े झाड़की तलाशमें आये थे। सो इस दुष्ट मनुष्यने वह वृक्ष इन लोगोंको बता दिया, जिस पर चढ़कर कि इसने अपनी जान बचाई थी। राजाके आदमी उस घनी छायावाले सुन्दर वृक्षको काटकर लिवा ले गये।" मुनिराज, जिसने बन्धुकी तरह अपनी रक्षा की-मरनेसे बचाया, उस वृक्षके लिए इस दुष्टको ऐसा करना योग्य था क्या? मुनिराजने 'नहीं' कह कर और एक कथा कही। वे बोले—

"गन्धर्वसेन राजाकी कौशाम्बी नगरीमें एक अंगारदेव सुनार रहता था। जातिका यह ऊँच था। यह रत्नोंकी जड़ाईका काम बहुत ही बढ़िया करता था। एक दिन अंगारदेव राजमुकुटके एक बहुमूल्य मणिको उजाल रहा था। इसी समय उसके घर पर मेदज नामके एक मुनि आहारके लिए आये। वह मुनिको एक ऊँची जगह बैठाकर और उनके सामने उस मणिको रखकर आप भीतर स्त्रीके पास चला गया। इधर मणिको मांसके भ्रमसे क्रुंज पक्षी निगल गया। जब सुनार सब विधि ठीक-ठाककर पीछा आया तो देखता है वहाँ मणि नहीं। मणि न देखकर उसके तो होश उड़ गये। उसने मुनिसे पूछा—मुनिराज, मणिको मैं आपके पास अभी रख कर गया हूँ, इतनेमें वह कहाँ चला गया? कृपा करके बतलाइए। मुनि चुप रहे। उन्हें चुप्पी साधे देखकर अंगारदेवको उन्हीं पर कुछ शक गया। उसने फिर पूछा—

स्वामी, मणिका क्या हुआ ? जल्दी कहिए। राजाको मालूम हो जानेसे वह मेरा और मेरे बाल-बच्चोंतकका बुरा हाल कर डालेगा। मुनि तब भी चुप ही रहे। अब तो अंगारदेवसे न रहा गया। क्रोधसे उसका चेहरा लाल सुर्ख पड़ गया। उसने जान लिया कि मणिको इसीने चुराया है। सो मुनिको बाँधकर उसने उन पर लकड़ेकी मार मारना शुरू की। उन्हें खूब मारा-पीटा सही, पर तब भी मुनि उसी तरह स्थिर बने रहे। ऐसे धनको, ऐसी मूर्खताको धिक्कार है जिससे मनुष्य कुछ भी सोच-समझ नहीं पाता और हर एक कामको जोशमें आकर कर डालता है। अंगारदेव मुनिको लकड़ेसे पीट रहा था तब एक चोंट उस कूंज पक्षीके गले पर भी जाकर लगी। उससे वह मणि बाहर आ गिरा। मणिको देखते ही अंगार-देव आत्मग्लानि, लज्जा और पश्चात्तापके मारे अधमरासा हो गया। उसे काटो तो खून नहीं। वह मुनिके पाँवोंमें गिर पड़ा और रो रो कर उनसे क्षमा कराने लगा।" इतना कह कर मुनिराज बोले—क्यों सेठ महाशय, अब समझे ? मेदज मुनिको उस मणिका हाल मालूम था, पर तब भी दयाके वश हो उन्होंने पक्षीका मणि निगल जाना न बतलाया। इस लिए कि पक्षीकी जान न जाय और न मुनियोंका ऐसा मार्ग ही है। इसी तरह मैं भी यद्यपि तुम्हारे घड़ेका हाल जानता हूँ, तथापि कह नहीं सकता। इस लिए कि संयमीका यह मार्ग नहीं है कि वे किसीको कष्ट पहुँचावें। अब जैसा तुम जानते हो और जो तुम्हारे मनमें हो उसे करो। मुझे उसकी परवा नहीं।

घड़ेका छुपानेवाला कुवेरदत्त अपने पिता और मुनिका यह परस्परका कथोपकथन छुपा हुआ सुन रहा था। मुनिका अन्तिम निश्चय सुन उसकी उन पर बड़ी भक्ति हो गई। वह दौड़ा जाकर झटसे घड़ेको निकाल लाया और अपने पिताके सामने उसे रखकर जरा गुस्सेसे बोला–हाँ देखता हूँ आप मुनिराज पर अब कितना उपसर्ग करते हैं! यह देखकर जिनदत्त बड़ा शरमिन्दा हुआ। उसने अपने भ्रम भरे विचारों पर बड़ा ही पछतावा किया। अन्तमें दोनों पिता पुत्रोंने उन मेरुके समान स्थिर और तपके खजाने मुनिराजके पाँवोंमें पड़कर अपने अपराधकी क्षमा कराई और संसारसे उदासीन होकर उन्हींके पास उन्होंने दीक्षा भी लेली, जो कि मोक्ष-सुखकी देनेवाली है। दोनों पिता पुत्र मुनि होकर अपना कल्याण करने लगे और दूसरेको भी आत्म-कल्याणका मार्ग बतलाने लगे।

वे साधुरत्न मुझे सुख-शान्ति दें, जो भगवान्के उपदेश किये सम्यग्ज्ञानके उमड़े हुए समुद्र हैं, सम्यक्त्व रूपी रत्नोंको धारण किये हैं, और पवित्र शील जिसकी लहरें हैं। ऐसे मुनिराजोंको मैं भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ।

मूलसंघके मुख्य चलानेवाले श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी परम्परामें भट्टारक मल्लिभूपण हुए हैं। वे मेरे गुरु हैं, रत्नत्रय–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धारण किये हैं, और गुणोंकी खान हैं। वे आप लोगोंका कल्याण करें।

४२–पिण्याकगन्धकी कथा ।



सुख देनेवाले और सारे संसारके प्रभु श्रीजिनेंद्र भगवानको नमस्कार कर धन-लोभी पिण्याकगन्धकी कथा लिखी जाती है।

रत्नप्रभ कांपिल्य नगरके राजा थे। उनकी रानी विद्युत्प्रभा थी। वह सुन्दर और गुणवती थी। यहीं एक जिनदत्त सेठ रहता था। जिनधर्म पर इसकी गाढ़ श्रद्धा थी। अपने योग्य आचार-विचार इसके बहुत अच्छे थे। राजदरबारमें भी इसकी पूछ थी–मान-मर्यादा थी। यहीं एक और सेठ था। इसका नाम पिण्याकगंध था। इसके पास कई करोड़का धन था, पर तब भी यह मूर्ख बड़ा ही लोभी था–कृपण था। यह न किसीको कभी एक कौड़ी देता और न स्वयं आप ही अपने धनको खाने-पीने पहरनेमें खर्च करता; और खाया करता था खल। इसके पास सब सुखकी सामग्री थी, पर अपने पापके उदयसे या यों कहो कि अपनी ही कंजूसीसे यह सदा ही दुःख भोगा करता था। इसकी स्त्रीका नाम सुन्दरी था। इसके एक विष्णुदत्त नामका लड़का था।

एक दिन राजाके तालावको खोदती बार उड्ड नामके एक मजूरको सोनेके सलाइयोंकी भरी हुई लोहेकी सन्दूक मिल गई। यह सन्दूक यहाँ कोई हजारों वर्षोंसे गड़ी हुई होगी। यही कारण था कि उसे खूब ही कीट खा गया था। उसके भीतरकी सलाइयोंकी भी यही दशा थी। उन पर भी बहुत मैल

जमा हो गया था। मैलसे यह नहीं जान पड़ता था कि वे सोनेकी हैं। उड्डने उसमेंसे एक सलाई लाकर जिनदत्त सेठको लोहेके भाव वेचा। सेठने उस समय तो उसे ले लिया, पर जब वह ध्यानसे धो-धाकर देखी गई तो जान पड़ा कि वह एक सोनेकी सलाई है। सेठनें उसे चोरीका माल समझ अपने घरमें उसका रखना उचित नहीं समझा। उसने उसकी एक जिनप्रतिमा बनवाली और प्रतिष्ठा कराकर उसे मन्दिरमें विराजमान कर दिया। सच है, धर्मात्मा पुरुष पापसे वड़े डरते हैं। कुछ दिनों वाद उड्ड फिर एक सलाई लिए जिनदत्तके पास आया। पर अवकी वार सेठने उसे नहीं खरीदा। इस लिए कि वह धन दूसरेका है। तब उड्डने उसे पिण्याकगंधको वेच दिया। पिण्याकगंधको भी मालूम हो गया कि वह सलाई सोनेकी है, पर तब भी लोभमें आकर उसने उड्डसे कहा कि यदि तेरे पास ऐसी सलाइयाँ और हों तो उन्हें यहाँ दे जाया करना। मुझे इन दिनों लोहेकी कुछ अधिक जरूरत है। मतलब यह कि पिण्याकगन्धने उड्डसे कोई अट्टानवे सलाइयाँ खरीद करलीं। वेचारे उड्डको उसकी सच्ची कीमत ही मालूम न थी, इस लिए उसने सवकी सव सलाइयाँ लोहेके भाव वेचदीं।

एक दिन पिण्याकगन्ध अपनी वहिनके विशेष कहने-सुननेसे अपने भानजेके व्याहमें दूसरे गांव जाने लगा। जाते समय धनके लोभसे पुत्रको वह सलाई वताकर कह गया कि इसी आकार-प्रकारका लोहा कोई वेचने अपने यहाँ आवे तो तू उसे मोल ले लिया करना। पिण्याकगंधके

पापका घड़ा अब बहुत भर चुका था। अब उसके फूटनेकी तैयारी थी। इसी लिए तो वह पापकर्मकी जबरदस्तीसे दूसरे गांव भेजा गया।

उडुके पास अब केवल एक ही सलाई बची थी। वह उसे भी बेचनेको पिण्याकगंधके पास आया। पर पिण्याकगंध तो वहाँ था नहीं, तब वह उसके लड़के विष्णुदत्तके हाथ सलाई देकर बोला—आपके पिताजीने ऐसी बहुतेरी सलाइयाँ मुझसे मोलली हैं। अब यह केवल एक ही बची है। इसे आप लेकर मुझे इसकी कीमत दे दीजिए। विष्णुदत्तने उसे यह कह-कर टाल दिया, कि मैं इसे लेकर क्या करूंगा? मुझे जरूरत नहीं। तुम पीछी इसे ले जाओ। इस समय एक सिपाहीने उडुको देख लिया। उसने खोदनेको लिए वह सलाई उससे छुड़ाली। एक दिन वह सिपाही जमीन खोद रहा था। उससे सलाई पर जमा हुआ कीट साफ हो जानेसे कुछ लिखा हुआ उसे देख पड़ा। लिखा यह था कि "सोनेकी सौ सलाइयाँ सन्दूकमें हैं।" यह लिखा देखकर सिपाहीने उडुको पकड़ लाकर उससे सन्दूककी बाबत पूछा। उडुने सब बातें ठीक ठीक बत-ला दीं। सिपाही उडुको राजाके पास ले गया। राजाके पूछने पर उसने कहा कि मैंने ऐसी अट्टानवे सलाइयाँ तो पिण्याकगंध सेठको बेची हैं और एक जिनदत्त सेठको। राजाने पहले जिनदत्तको बुलाकर सलाई मोल लेनेकी बाबत पूछा। जिन-दत्तने कहा—महाराज, मैंने एक सलाई खरीदी तो जरूर है, पर जब मुझे यह मालूम पड़ा कि वह सोनेकी है तो मैंने उसकी जिनप्रतिमा बनवाली। प्रतिमा मन्दिरमें मौजूद

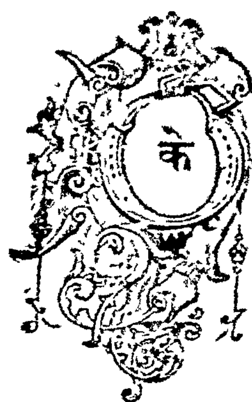
है । राजा प्रतिमाको देखकर बहुत खुश हुआ । उसने जिनदत्तकी इस सचाई पर उसका बहुत मान किया, उसे बहुमूल्य वस्त्राभूषण दिये । सच है, गुणोंकी पूजा सब जगह हुआ करती है ।

इसके बाद राजाने पिण्याकगन्धको बुलवाया । पर वह घर पर न होकर गांव गया हुआ था । राजाको उसके न मिलनेसे और निश्चय होगया कि उसने अवश्य राजधन धोखा देकर ठग लिया है । राजाने उसी समय उसका घर जप्त करवा कर उसके कुटुम्बको कैदखानेमें डाल दिया । इस लिए कि उसने पूछ-ताछ करने पर भी सलाइयोंका हाल नहीं बताया था । सच है, जो आशाके चक्करमें पड़कर दूसरोंका धन मारते हैं, वे अपने हाथों ही अपना सर्व नाश करते हैं ।

उधर ब्याह होजानेके बाद पिण्याकगंध घरकी ओर वापिस आ रहा था । रास्तेमें ही उसे अपने कुटुम्बकी दुर्दशाका समाचार सुन पड़ा । उसे उसका बड़ा दुःख हुआ । उसने अपने इस धन-जनकी दुर्दशाका मूल कारण अपने पाँवोंको ठहाराया । इस लिए कि वह उन्हींके द्वारा दूसरे गांव गया था । पाँवों पर उसे बड़ा गुस्सा आया । और इसी लिए उसने एक बड़ा भारी पत्थर लेकर उससे अपने दोनों पाँवोंको तोड़ लिया । मृत्यु उसके सिर पर खड़ा ही था । वह लोभी आर्त्तध्यान—बुरे भावोंसे मरकर नरक गया। यह कथा शिक्षा देती है कि जो समझदार हैं उन्हें चाहिए कि वे अनीतिके कारण और पापको बढ़ानेवाले इस लोभको दूरहीसे छोड़नेका यत्न करें ।

वे कर्मोंके जीतनेवाले जिन भगवान् संसारमें सदा काल रहें जो संसारके पदार्थोंको दिखलानेके लिए दीपकके समान हैं, सब दोषोंसे रहित हैं, भव्य-जनोंको स्वर्गमोक्षका सुख देने- वाले हैं, जिनके वचन अत्यन्त ही निर्मल या निर्दोष हैं, जो गुणोंके समुद्र हैं, देवों द्वारा पूज्य हैं और सत्पुरुषोंके लिए ज्ञानके समुद्र हैं।

४२–लुब्धक सेठकी कथा।



केवलज्ञानकी शोभाको प्राप्त हुए और तीनों जगत्के गुरु ऐसे जिन भगवान्को नमस्कार कर लुब्धक सेठकी कथा लिखी जाती है।

राजा अभयवाहन चम्पापुरीके राजा हैं। इनकी रानी पुण्डरीका है। नेत्र इसके ठीक पुण्डरीक–कमल जैसे हैं। चम्पापुरीमें लुब्धक नामका एक सेठ रहता है। इसकी स्त्रीका नाम नागवसु है। लुब्धकके दो पुत्र हैं। इनके नाम गरुड़दत्त और नागदत्त हैं। दोनों भाई सदा हँस-मुख रहते हैं।

लुब्धकके पास बहुत धन था। उसने बहुत कुछ खर्च करके यक्ष, पक्षी, हाथी, ऊंट, घोड़ा, सिंह हरिन—आदि पशुओंकी एक एक जोड़ी सोनेकी बनवाई थी। इनके सींग, पूँछ, खुर-आदिमें अच्छे अच्छे बहुमूल्य हीरा, मोती, माणिक

आदि रत्नोंको जड़ाकर लुब्धकने देखनेवालोंके लिए एक नया ही आविष्कार कर दिया था। जो इन जोड़ियोंको देखता वह वहुत खुश होता और लुब्धककी विना तारीफ किये नहीं रहता। स्वयं लुब्धक भी अपनी इस जगमगाती प्रदर्शनीको देखकर अपनेको वड़ा धन्य मानता था। इसके सिवा लुब्धकको थोड़ासा दुःख इस वातका था कि उसने एक वैलकी जोड़ी वनवाना शुरू की थी और एक वैल वन भी चुका था, पर फिर सोना न रहनेके कारण वह दूसरा वैल नहीं वनवा सका। वस, इसीकी उसे एक चिन्ता थी। पर यह प्रसन्नताकी वात है कि वह सदा चिन्तासे घिरा न रहकर इस कमीको पूरी करनेके यत्नमें लगा रहता था।

एकवार सात दिन वरावर पानीकी झड़ लगी रही। नदी-नाले सव पूर आ गये। पर कर्मवीर लुब्धक ऐसे समय भी अपने दूसरे वैलके लिए लकड़ी लेनेको स्वयं नदी पर गया और वहती नदीमेंसे वहुतसी लकड़ी निकालकर उसने उसकी गठरी वाँधी और उसे आप ही अपने सिर पर लादे लाने लगा। सच है, ऐसे लोभियोंकी तृष्णा कहीं कभी किसीसे मिटी है? नहीं।

इस समय रानी पुण्डरीका अपने महल पर वैठी हुई प्रकृतिकी शोभाको देख रही थी। महाराज अभयवाहन भी इस समय यहीं पर थे। लुब्धकको सिर पर एक वड़ा भारी काठका भारा लादकर लाते देख रानीने अभयवाहनसे कहा—प्राणनाथ, जान पड़ता है आपके राजमें यह कोई वड़ा ही दरिद्री है। देखिए, वेचारा सिर पर लकड़ियोंका

कितना भारी गट्ठा लादे हुए आ रहा है। दया करके इसे कुछ आप सहायता दीजिए, जिससे इसका कष्ट दूर हो जाय। यह उचित ही है कि दयावानोंकी बुद्धि दूसरों पर दया करनेकी होती है। राजाने उसी समय नौकरोंको भेजकर लुब्धकको अपने पास बुलवा मँगाया। लुब्धकके आने पर राजाने उससे कहा—जान पड़ता है तुम्हारे घरकी हालत अच्छी नहीं है। इसका मुझे खेद है कि इतने दिनोंसे मेरा तुम्हारी ओर ध्यान न गया। अस्तु, तुम्हें जितने रुपये पैसेकी जरूरत हो, तुम खजानेसे ले जाओ। मैं तुम्हें अपनी सहीका एक पत्र लिखे देता हूं। यह कह कर राजा पत्र लिखनेको तैयार हुए कि लुब्धकने उनसे कहा–महाराज, मुझे और कुछ न चाहिए; किन्तु एक बैलकी जरूरत है। कारण मेरे पास एक बैल तो है, पर उसकी जोड़ी मुझे मिलाना है। राजाने कहा–अच्छी बात है तो, जाओ हमारे बहुतसे बैल हैं, उनमें तुम्हें जो बैल पसन्द आवे उसे अपने घर ले जाओ। राजाके जितने बैल थे उन सबको देख आकर लुब्धकने राजासे कहा–महाराज, उन बैलोंमें मेरे बैल सरीखा तो एक भी बैल मुझे नहीं देख पड़ा। सुनकर राजाको बड़ा अचंभा हुआ। उन्होंने लुब्धकसे कहा–भाई, तुम्हारा बैल कैसा है, यह मैं नहीं समझा। क्या तुम मुझे अपना बैल दिखाओगे? लुब्धक बड़ी खुशीके साथ अपना बैल दिखाना स्वीकार कर महाराजको अपने घर पर लिवा ले गया। राजाको उस सोनेके बने बैलको देखकर बड़ा अचंभा हुआ। जिसे उन्होंने एक महा दरिद्री समझा था,

वही इतना बड़ा धनी है, यह देखकर किसे अचंभा न होगा।

लुब्धककी स्त्री नागवसु अपने घर पर महाराजको आये देखकर बहुत ही प्रसन्न हुई। उसने महाराजकी भेंटके लिए एक सोनेका थाल बहुमूल्य सुन्दर सुन्दर रत्नोंसे सजाया और उसे अपने स्वामीके हाथमें देकर कहा—इस थालको महाराजकी भेंट कीजिए। रत्नोंके थालको देखकर लुब्धककी तो छाती बैठ गई, पर पास ही महाराजके होनेसे उसे वह थाल हाथोंमें लेना पड़ा। जैसे ही थालको उसने हाथोंमें लिया उसके दोनों हाथ थर थर धूजने लगे और ज्यों ही उसने थाल देनेको महाराजके पास हाथ बढ़ाया तो लोभके मारे उसकी अंगुलियाँ महाराजको साँपके फणकी तरह देख पड़ीं। सच है, जिस पापीने कभी किसीको एक कौड़ी तक नहीं दी, उसका मन क्या दूसरेकी प्रेरणासे भी कभी दानकी ओर झुक सकता है? नहीं। राजाको उसके ऐसे बुरे बरताव पर बड़ी नफरत हुई। फिर एक पल पर भी उन्हें वहाँ ठहरना अच्छा न लगा। वे उसका नाम 'फणहस्त' रखकर अपने महल पर आ गये।

लुब्धककी दूसरा बैल बनानेकी उच्चाकांक्षा अभी पूरी नहीं हुई। वह उसके लिए धन कमानेको सिंहलद्वीप गया। लगभग चार करोड़का धन उसने वहाँ रहकर कमाया भी। जब वह अपना धन, माल-असबाब जहाज पर लाद कर लौटा तो रास्तेमें आते आते कर्मयोगसे हवा उलटी वह चली। समुद्रमें तूफान पर तूफान आने लगे। एक जोरकी आँधी आई। उसने जहाजको एक ऐसा जोरका धक्का मारा

कि जहाज उलट कर देखते देखते समुद्रके विशाल गर्भमें समा गया। लुब्धक, उसका धन-असबाब, इसके सिवा और भी बहुतसे लोग जहाजके संगी हुए। लुब्धक आर्त्त-ध्यानसे मरकर अपने धनका रक्षक साँप हुआ। तब भी वह उसमेंसे एक कौड़ी भी किसीको नहीं उठाने देता था।

एक सर्पको अपने धन पर बैठा देखकर लुब्धकके बड़े लड़के गरुड़दत्तको बहुत क्रोध आया और इसी लिए उसने उसे ठार मार डाला। यहांसे वह बड़े बुरे भावोंसे मरकर चौथे नरक गया, जहाँ कि पापकर्मोंका बड़ा ही दुस्सह फल भोगना पड़ता है। इस प्रकार धर्मरहित जीव क्रोध, मान, माया, लोभ–आदिके वश होकर पापके उदयसे इस दुःखोंके समुद्र संसारमें अनन्त कालतक दुःख-कष्ट उठाया करता है। इस लिए जो सुख चाहते हैं–जिन्हें सुख प्यारा है, उन्हें चाहिए कि वे इन क्रोध, लोभ, मान, मायादिकोंको संसारमें दुःख देनेवाले मूल कारण समझकर इनका मन, वचन और शरीरसे त्याग करें और साथ ही जिनेन्द्र भगवान्के उपदेश किये धर्मको भक्ति और शक्तिके अनुसार ग्रहण करें, जो परमशान्ति–मोक्षका प्राप्त करानेवाला है।

४४–वसिष्ठतापसीकी कथा।



भूख, प्यास, रोग, शोक, जनम, मरण, भय, माया, चिन्ता, मोह, राग, द्वेष–आदि अठारह दोषोंसे जो रहित हैं, ऐसे जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर वसिष्ठ तापसीकी कथा लिखी जाती है।

उग्रसेन मथुराके राजा थे। उनकी रानीका नाम रेवती था। रेवती अपने स्वामीकी बड़ी प्यारी थी। यहीं एक जिनदत्त सेठ रहता था। जिनदत्तके यहाँ प्रियंगुलता नामकी एक नौकरानी थी।

मथुरामें यमुना किनारे पर वशिष्ठ नामका एक तापसी रहता था। वह रोज नहा-धोकर पञ्चाग्नि तप किया करता था। लोग उसे बड़ा भारी तपस्वी समझकर उसकी खूब सेवा-भक्ति करते थे। सो ठीक ही है, असमझ लोग प्रायः देखा देखी हर एक काम करने लग जाते हैं। यहां तक कि शहरकी दासियाँ पानी भरनेको कुए पर जब आतीं तो वे भी तापस महाराजकी बड़ी भक्तिसे प्रदक्षिणा करतीं, उनके पाँवों पड़तीं और उनकी सेवा-शुश्रूषा कर फिर वे घर जातीं। प्रायः सभीका यही हाल था। पर हाँ प्रियंगुलता इससे बरी थी। उसे ये बातें बिलकुल नहीं रुचती थीं। इस लिए कि वह बचपनसे ही जैनीके यहाँ काम करती रही। उसके साथकी और और स्त्रियोंको प्रियंगुलताका

यह हट अच्छा नहीं जान पड़ा और इसी लिए मौका पाकर वे एक दिन प्रियंगुलताको उस तापसीके पास जबरदस्ती लिवा ले गईं और इच्छा न रहते भी उन्होंने उसका सिर तापसीके पाँवों पर रख दिया। अब तो प्रियंगुलतासे न रहा गया। उसने गुस्सा होकर साफ साफ कह दिया कि यदि इस ढोंगीके ही मैं हाथ जोडूं, तब फिर मुझे एक धीवर (भोई) के ही क्यों न हाथ जोड़ना चाहिए? इससे तो वही बहुत अच्छा है। एक दासीके द्वारा अपनी निन्दा सुनकर तापसजीको बड़ा गुस्सा आया। वे उन दासियों पर भी बहुत बिगड़े, जिन्होंने जबरदस्ती प्रियंगुलताको उनके पाँवों पर पटका था। दासियाँ तो तापसीजीकी लाल-पीली आँखें देखकर उसी समय वहाँसे नौ-दो-ग्यारह हो गईं। पर तापस महाराजकी क्रोधाग्नि तब भी न बुझी। उसने उग्रसेन महाराजके पास पहुँचकर शिकायत की कि प्रभो, जिनदत्त सेठने मुझे धीवर बतलाकर मेरा बड़ा अपमान किया। उसे एक साधुकी इस तरह बुराई करनेका क्या अधिकार था? उग्रसेनको भी एक दूसरे धर्मके साधुकी बुराई करना अच्छा नहीं जान पड़ा। उन्होंने जिनदत्तको बुलाकर पूछा। जिनदत्तने कहा–महाराज यदि यह तपस्या करता है तो यह तापसी है ही, इसमें विवाद किसको है। पर मैंने तो इसे धीवर नहीं बतलाया। और सचमुच जिन-दत्तने उससे कुछ कहा भी नहीं था। जिनदत्तको इंकार करते देख तापसी घबड़ाया। तब उसने अपनी सचाई बतला-नेके लिए कहा–ना प्रभो, जिनदत्तकी दासीने ऐसा कहा था।

तापसीकी बात पर महाराजको कुछ हँसीसी आ गई। उन्होंने तब प्रियंगुलताको बुलवाया। वह आई। उसे देखते ही तापसीके क्रोधका कुछ ठिकाना न रहा। वह कुछ न सोचकर एक साथ ही प्रियंगुलता पर बिगड़ खड़ा हुआ। और गाली देते हुए उसने कहा—रांड, तूने मुझे धीवर बतलाया है। तेरे इस अपराधकी सजा तो तुझे महाराज देंगे ही। पर देख, मैं धीवर नहीं हूं; किन्तु केवल हवाके आधार पर जीवन रखनेवाला एक परम तपस्वी हूं। बतला तो, तूने मुझे क्या समझकर धीवर कहा? प्रियंगुलताने तब निर्भय होकर कहा—हाँ, बतलाऊं कि मैंने तुझे क्यों मल्लाह बतलाया था? ले सुन, जब कि तू रोज रोज मच्छियाँ मारा करता है तब तू मल्लाह तो है ही! तुझे ऐसी दशामें कौन समझदार तापसी कहेगा? तू यह कहे कि इसके लिए सुबूत क्या? तू जैनीके यहाँ रहती है, इस लिए दूसरे धर्मोंकी या उनके साधु-सन्तोंकी बुराई करना तो तेरा स्वभाव होना ही चाहिए। पर सुन, मैं तुझे आज यह बतला देना चाहती हूं कि जैनधर्म सत्यका पक्षपाती है। उसमें सच्चे साधु-सन्त ही पुजते हैं। तेरेसे ढोंगी, बेचारे भोले लोगोंको धोखा देनेवालोंकी उसके सामने दाल नहीं गल पाती। ऐसा ही ढोंगी देखकर तुझे मैंने मल्लाह बतलाया और न मैं तुझमें मछली मारनेवाले मल्लाहोंसे कोई अधिक बात ही पाती हूं। तब बतला मैंने इसमें कौन तेरी बुराई की? अच्छा, यदि तू मल्लाह नहीं ही है तो जरा अपनी इन जटाओंको तो झाड़ दे! अब तो तापस महाराज बड़े घबराये और उन्होंने बातें बनाकर इस बातको ही उड़ा देना चाहा। पर प्रियंगुलता

ऐसे कैसे रास्ते पर आजानेवाली थी ! उसने तापसीसे जटा झड़वा कर ही छोड़ा । जटा झाड़ने पर सचमुच कोई हजारों छोटी छोटी मछलियाँ उसमेंसे गिरीं । सब देख-कर दंग रह गये । उग्रसेनने तब जैनधर्मकी खूब तारीफ कर तापसीसे कहा–महाराज, जाइए जाइए आपके इस भेषसे पूरा पड़े । मेरी प्रजाको आपसे हृदयके मैले साधुओंकी जरू-रत नहीं । तापसीको भरी सभामें अपमानित होनेसे बहुत ही नीचा देखना पड़ा । वह अपनासा मुँह लिए वहाँसे अपने आश्रममें आया । पर लज्जा, अपमान, आत्मग्लानिसे वह मरा जाता था । जो उसे देख पाता वही उसकी ओर अंगुली उठाकर बतलाने लगता । तब इसने यहाँका रहना छोड़ देना ही अच्छा समझ कूच कर दिया । यहाँसे यह गंगा और गंधवतीके मिलाप होनेकी जगह आया और अब यहीं आश्रम बनाकर रहने लगा । एक दिन जैनतत्वके परम जानकार वीरभद्राचार्य अपने संघको लिए इस ओर आ गये । वशिष्ठतापसको पंचाग्नि तप करते देख एक मुनिने अपने गुरुसे कहा–महाराज, यह तापसी तो बड़ा ही कठिन और असह तप करता है । आचार्य बोले–हाँ यह ठीक है कि ऐसे तपमें भी शरीरको बेहद कष्ट बिना दिये काम नहीं चलता, पर अज्ञानियोंका तप कोई प्रशंसाके लायक नहीं । भला, जिनके मनमें दया नहीं, जो संसारकी सब माया-ममता, और आरंभ-सारंभ छोड़-छाड़कर योगी हुए और फिर वे ऐसा दयाहीन, जिसमें हजारों लाखों जीव रोज रोज जलते हैं, तप करें तो इससे और अधिक दुःखकी बात कौन

होगी। वसिष्ठके कानोंमें भी यह आवाज गई। वह गुस्सा होकर आचार्यके पास आया और बोला—आपने मुझे अज्ञानी कहा, यह क्यों? मुझमें आपने क्या अज्ञानता देखी, बतलाइए? आचार्यने कहा—भाई, गुस्सा मत हो। तुम्हें लक्षकर तो मैंने कोई बात नहीं कही है। फिर क्यों इतना गुस्सा करते हो? मेरी धारणा तो ऐसे तप करनेवाले सभी तापसोंके सम्बन्धमें है कि वे बेचारे अज्ञानसे ठगे जाकर ही ऐसे हिंसामय तपको तप समझते हैं। यह तप नहीं है, किन्तु जीवोंका होम करना है। और जो तुम यह कहते हो कि मुझे आपने अज्ञानी क्यों बतलाया, तो अच्छा एक बात तुम ही बतलाओ कि तुम्हारे गुरु, जो सदा ऐसा तप किया करते थे, मरकर तपके फलसे कहाँ पैदा हुए हैं? तापस बोला—हाँ, क्यों नहीं कहूंगा? मेरे गुरुजी स्वर्गमें गये हैं। वीरभद्राचार्यने कहा—नहीं तुम्हें इसकी मालूम ही नहीं हो सकती। सुनो, मैं बतलाता हूं कि तुम्हारे गुरुकी मरे बाद क्या दशा हुई। आचार्यने अवधिज्ञान जोड़कर कहा—तुम्हारे गुरु स्वर्गमें नहीं गये, किन्तु साँप हुए हैं और इस लकड़ेके साथ साथ जल रहे हैं। तापसको विश्वास नहीं हुआ; बल्कि उसे गुस्सा भी आया कि इन्होंने क्यों मेरे गुरुको साँप हुआ बतलाकर उनकी बुराई की। पर आचार्यकी बात सच है या झूठ, इसकी परिक्षा कर देखनेके लिए यही उपाय था कि वह उस लकड़ेको चीरकर देखे। तापसीने वैसा ही किया। लकड़ेको चीरा। वीरभद्राचार्यका कहा सत्य हुआ। सर्प उसमेंसे निकला। देखते ही तापसको बड़ा

उसका सब अभिमान चूर चूर हो गया। उसकी आचार्य पर बहुत ही श्रद्धा हो गई। उसने प्रार्थना कर उनसे जैनधर्मका उपदेश सुना। सुनकर उसके ह्रियेकी आँखें, जो इतने दिनोंसे बन्द थीं, एकदम खुल गईं। हृदयमें पवित्रताका सोता फूट निकला। बहुत दिनोंका कूट-कपट मायाचार रूपी मैला-पन देखते देखते न जाने कहा बहकर चला गया। वह उसी समय वीरभद्राचार्यसे मुनिदीक्षा लेकर अबसे सच्चा तापसी बन गया।

यहांसे घूमते-फिरते और धर्मोपदेश करते वशिष्ठ मुनि एकबार मथुराकी ओर फिर आये। तपस्याके लिए इन्होंने गोवर्द्धन पर्वत बहुत पसन्द किया। वहीं ये तपस्या किया करते थे। एकबार इन्होंने महीना भरके उपवास किये। तपके प्रभावसे इन्हें कई विद्याएँ सिद्ध हो गईं। विद्याओंने आकर इनसे कहा—प्रभो, हम आपकी दासियाँ हैं। आप हमें कोई काम बतलाइए। वसिष्ठने कहा—अच्छा, इस समय तो मुझे कोई काम नहीं, पर जब होगा तब मैं तुम्हें याद करूंगा। उस समय तुम उपस्थित होना। इस लिए इस समय तुम जाओ। जिन्होंने संसारकी सब माया-ममता छोड़ रक्खी है, सच-पूछो तो उनके लिए ऐसी ऋद्धि-सिद्धिकी कोई जरूरत नहीं। पर वशिष्ठ मुनि लोभमें पड़कर विद्याओंको अपनी आज्ञामें रहेनेको कह दिया। पर यह उनके पदस्थ योग्य न था।

महीना भरके उपवासे वशिष्ठमुनि पारणाको शहरमें आये। उग्रसेनको उनके उपवास करनेकी पहलेहीसे

मालूम थी । इस लिए तभीसे उन्होंने भक्तिके वश हो सारे शहरमें डौंडी पिटवादी थी कि तपस्वी वसिष्ठमुनिको मैं ही पारणा कराऊंगा—उन्हें आहार दूंगा, और कोई न दे। सच है, कभी कभी मूर्खतासे की गई भक्ति भी दुःखकी कारण बनजाया करती है। वसिष्ठ मुनिके प्रति उग्रसेन राजाकी थी तो भक्ति, पर उसमें स्वार्थका भाग होनेसे उसका उलटा परिणाम हो गया। बात यह हुई कि जब वसिष्ठमुनि पारणाके लिए आये, तब अचानक राजाका खास हाथी उन्मत्त होगया। वह साँकल तुड़ाकर भाग खड़ा हुआ, और लोगोंको कष्ट देने लगा। राजा उसके पकड़वानेका प्रबन्ध करनेमें लग गये। उन्हें मुनिके पारणेकी बात याद न रही। सो मुनि शहरमें इधर उधर घूम-घामकर वापिस वनमें लौट गये। शहरके और किसी गृहस्थने उन्हें इस लिए आहार न दिया कि राजाने उन्हें सख्त मना कर दिया था। दूसरे दिन कर्मसंयोगसे शहरके किसी मुहल्लेमें भयंकर आग लग गई, सो राजा इसके मारे व्याकुल हो उठे। मुनि आज भी सब शहरमें तथा राजमहलमें भिक्षाके लिए चक्कर लगाकर लौट गये। उन्हें कहीं आहार न मिला। तीसरे दिन जरासंध राजाका किसी विषयको लिए आज्ञापत्र आ गया, सो आज इसकी चिन्ताके मारे उन्हें स्मरण न आया। सच है, अज्ञानसे किया काम कभी सिद्ध नहीं हो पाता। मुनि आज भी अन्तराय कर लौट गये। शहर बाहर पहुँचते न पहुँचते वे गश खाकर जमीन पर गिर पड़े। मुनिकी यह दशा देखकर एक बुढ़ियाने गुस्सा होकर कहा—यहाँका राजा बड़ा ही

दुष्ट है। न तो मुनिको आप ही आहार देता है और न दूसरोंको देने देता है। हाय! एक निरपराध तपस्वीकी उनसे व्यर्थ ही जान लेली। बुढ़ियाकी बातें मुनिने सुनलीं। राजाकी इस नीचता पर उन्हें अत्यन्त क्रोध आया। वे उठकर सीधे पर्वत पर गये। उन्होंने विद्याओंको बुलाकर कहा–मथुराका राजा बड़ा पापी है, तुम जाकर उसे फौरन ही मार डालो! मुनिको इस प्रकार क्रोधकी आग उगलते देख विद्याओंने कहा–प्रभो, आपको कहनेका हमें कोई अधिकार नहीं, पर तब भी आपके अच्छेके लिहाजसे और धर्म पर कोई कलंक न लगे कि एक जैनमुनिने ऐसा अन्याय किया, हम निःसंकोच होकर कहेंगी कि इस वेषके लिए आपकी यह आज्ञा सर्वथा अनुचित है और इसी लिए हम उसका साथ देनेके लिए भी हिचकती हैं। आप क्षमाके सागर हैं, आपके लिए शत्रु और मित्र एकहीसे हैं। मुनि पर देवियोंकी इस शिक्षाका कुछ असर नहीं हुआ। उन्होंने यह कहते हुए प्राण छोड़ दिये कि अच्छा, तुम मेरी आज्ञाका दूसरे जन्ममें तो पालन करना ही। मैं दानमें विघ्न करनेवाले इस उग्रसेन राजाको मारकर अपना बदला अवश्य चुकाऊंगा। मुनिने तपस्या नाश करनेवाले निदानको–तपका फल पर जन्ममें मुझे इस प्रकार मिले, ऐसे संकल्पको–करके रेवतीके गर्भमें जन्म लिया। सच है, क्रोध सब कामोंको नष्ट करनेवाला और पापका मूल कारण है। एक दिन रेवतीको दुर्बल देखकर उग्रसेनने उससे पूछा–प्रिये, दिनों दिन तुम ऐसी दुबली क्यों होती जाती हो? मुझे तुम्हें चिन्ता–

तुर देख बड़ा खेद होता है। रेवतीने कहा—नाथ, क्या कहूं, कहते हृदय काँपता है। नहीं जान पड़ता कि होनहार कैसा है? स्वामी, मुझे बड़ा ही भयंकर दोहला हुआ है। मैं नहीं कह सकती कि अपने यहाँ अबकी बार किस अभागेने जन्म लिया है। नाथ, कहते हुए आत्मग्लानिसे मेरा हृदय फटा पड़ता है। मैं उसे कहकर आपको और अधिक चिन्तामें डालना नहीं चाहती। उग्रसेनको अधिकाधिक आश्चर्य और उत्कण्ठा बढ़ी। उन्होंने बड़े हठके साथ पूछा। आखिर रानीको कहना ही पड़ा। वह बोली—अच्छा नाथ, यदि आपका आग्रह ही है तो सुनिए, जी कड़ा करके कहती हूं। मेरी अत्यन्त इच्छा होती है कि "मैं आपका पेट चीरकर खून पान करूं।" मुझे नहीं जान पड़ता कि ऐसा दुष्ट दोहला क्यों होता है? भगवान् जाने! यह प्रसिद्ध है कि जैसा गर्भमें बालक आता है, दोहला भी वैसा ही होता है। सुनकर उग्रसेनको भी चिन्ता हुई, पर उसके लिए इलाज क्या था? उन्होंने सोचा, दोहला बुरा है या भला, इसका निश्चय होना तो अभी असंभव है। पर उसके अनुसार रानीकी इच्छा तो पूरी होनी ही चाहिए। तब इसके लिए उन्होंने यह युक्ति की कि अपने आकारका एक पुतला बनवाकर उसमें कृत्रिम खून भरवाया और रानीको उसकी इच्छा पूरी करनेके लिए उन्होंने कहा। रानीने अपनी इच्छा पूरी करनेके लिए उस पापकर्मको किया। वह सन्तुष्ट हुई।

थोड़े दिनों बाद रेवतीने एक पुत्र जना। वह देखनेमें बड़ा भयंकर था। उसकी आँखोंसे क्रूरता टपकी पड़ती थी।

उग्रसेनने उसके मुँहकी ओर देखा तो वह मुट्ठी बाँधे बड़ी क्रूर दृष्टिसे उनकी ओर देखने लगा। उन्हें विश्वास हो गया कि जैसे बाँसोंकी रगड़से उत्पन्न हुई आग सारे वनको जलाकर खाक कर देती है ठीक इसी तरह कुलमें उत्पन्न हुआ दुष्ट पुत्र भी सारे कुलको जड़मूलसे उखाड़ फेंक देता है। मुझे इस लड़केकी क्रूरताको देखकर भी यही निश्चय होता है कि अब इस कुलके भी दिन अच्छे नहीं है। यद्यपि अच्छा-बुरा होना दैवाधीन है, तथापि मुझे अपने कुलकी रक्षाके निमित्त कुछ न कुछ यत्न करना ही चाहिए। हाथ पर हाथ रखे बैठे रहनेसे काम नहीं चलेगा। यह सोचकर उग्रसेनने एक छोटासा सुन्दर सन्दूक मँगवाया और उस बालकको अपने नामकी एक अँगूठी पहराकर हिफाजतके साथ उस सन्दूकमें रख दिया। इसके बाद सन्दूकको उन्होंने यमुना नदीमें छुड़वा दिया। सच है, दुष्ट किसीको भी प्रिय नहीं लगता।

कौशाम्बीमें गंगाभद्र नामका एक माली रहता था। उसकी स्त्रीका नाम राजोदरी था। एक दिन वह जल भरनेको नदी पर आई हुई थी। तब नदीमें बहती हुई एक सन्दूक उसकी नजर पड़ी। वह उसे बाहर निकाल अपने घर ले आई। सन्दूकको राजोदरीने खोला। उसमेंसे एक बालक निकला। राजोदरी उस बालकको पाकर बड़ी खुश हुई। कारण कि उसके कोई लड़का-बाला नहीं था। उसने बड़े प्रेमसे इसे पाला-पोसा। यह बालक काँसेकी सन्दूकमें निकला था, इस लिए राजोदरीने इसका नाम भी 'कंस' रख दिया।

कंसका स्वभाव अच्छा न होकर क्रूरता लिए हुए था। यह अपने साथके बालकोंको बड़ा मारा-पीटा करता और बात-बात पर उन्हें तंग किया करता था। इससे अड़ोस-पड़ोसके लोग बड़े ही दुखी रहा करते थे। राजोदरीके पास दिनभरमें कंसकी कोई पचासों शिकायतें आया करती थीं। उस बेचारीने बहुत दिन तक तो उसका उत्पात-उपद्रव सहा, पर फिर उससे भी यह दिन रातका झगड़ा-टंटा न सहा गया। सो उसने कंसको घरसे निकाल दिया। सच है, पापी पुरुषोंसे किसे भी कभी सुख नहीं मिलता। कंस अब सौरीपुर पहुँचा। यहाँ यह वसुदेवका शिष्य बनकर शास्त्राभ्यास करने लगा। थोड़े दिनोंमें यह साधारण अच्छा लिख-पढ़ गया। वसुदेवकी इस पर अच्छी कृपा हो गई। इस कथाके साथ एक और कथाका सम्बन्ध है, इस लिए वह कथा यहाँ लिखी जाती है—

सिंहरथ नामका एक राजा जरासन्धका शत्रु था। जरासन्धने इसे पकड़ लानेका बड़ा यत्न किया, पर किसी तरह यह इसके काबूमें नहीं आता था। तब जरासन्धने सारे शहरमें डौंडी पिटवाई कि जो वीर-शिरोमणि सिंहरथको पकड़कर मेरे सामने ला उपस्थित करेगा, उसे मैं अपनी जीवंजसा लड़कीको ब्याह दूंगा और अपने देशका कुछ हिस्सा भी मैं उसे दूंगा। इसके लिए वसुदेव तैयार हुआ। वह अपने बड़े भाईकी आज्ञासे सब सैनाको साथ लिए सिंहरथके ऊपर जा चढ़ा। उसने जाते ही सिंहरथकी राजधानी पोदनपुरके चारों ओर घेरा डाल दिया। और आप एक व्यापारीके वेषमें

राजधानीके भीतर घुसा। कुछ खास खास लोगोंको धनका खूब लोभ देकर उसने उन्हें फोड़ लिया। हाथीके महावत, रथके सारथी, आदिको उसने पैसेका गुलाम बनाकर अपनी मुट्ठीमें कर लिया। सिंहरथको इसका समाचार लगते ही उसने भी उसी समय रणभेरी बजवाई और बड़ी वीरताके साथ वह लड़नेके लिए अपने शहरसे बाहर हुआ। दोनों ओरसे युद्धके झुझारु बाजे बजने लगे। उनकी गंभीर आवाज अनन्त आकाशको भेदती हुई स्वर्गोंके द्वारोंसे जाकर टकराई। सुखी देवोंका आसन हिल गया। अमरांगनाओंने समझा कि हमारे यहाँ मेहमान आते हैं, सो वे उनके सत्कारके लिए हाथोंमें कल्पवृक्षोंके फूलोंकी मनोहर मालाएँ ले-लेकर स्वर्गोंके द्वार पर उनकी अगवानीके लिए आडटीं। स्वर्गोंके दरवाजे उनसे ऐसे खिल उठे मानों चन्द्रमाओंकी प्रदर्शनी की गई है। थोड़ी ही देरमें दोनों ओरसे युद्ध छिड़ गया। खूब मारकाट हुई। खूनकी नदी बहने लगी। मृतकोंके सिर और धड़ उसमें तैरने लगे। दोनों ओरकी वीरसेनाने अपने अपने स्वामीके नमकका जी खोलकर परिचय कराया। जिसे न्यायकी जीत कहते हैं, वह किसीको प्राप्त न हुई। पर वसुदेवने जो पोदनपुरके कुछ लोगोंको अपने मुट्ठीमें कर लिया था, उन स्वार्थियों–विश्वासघातियोंने अन्तमें अपने मालिकको दगा दे दिया। सिंहरथको उन्होंने वसुदेवके हाथ पकड़वा दिया। सिंहरथका रथ मौकेके समय बे-कार हो गया। उसी समय वसुदेवने उसे घेरकर कंससे कहा–जो कि उसके रथका सारथी था, कंस, देखते क्या हो ? उतर कर शत्रुको

बाँधलो। कंसने गुस्सेके साथ रथसे उतर कर सिंहरथको बाँध लिया और रथमें रखकर उसी समय वे वहाँसे चल दिये। सच है, अग्नि एक तो वैसे ही तपी हुई होती है और ऊपरसे यदि वायु बहने लगे तब तो उसके तपनेका पूछना ही क्या? सिंहरथको बांध लाकर वसुदेवने जरासंधके सामने उसे रख दिया। देखकर जरासंध बहुत ही प्रसन्न हुआ। अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिए उसने वसुदेवसे कहा—मैं आपका बहुत ही कृतज्ञ हूं। अब आप कृपाकर मेरी कुमारीका पाणिग्रहण कर मेरी इच्छा पूरी कीजिए। और मेरे देशके जिस प्रदेशको आप पसन्द करें मैं उसे भी देनेको तैयार हूं। वसुदेवने कहा—प्रभो, आपका इस कृपाका मैं पात्र नहीं। कारण मैंने सिंहरथको नहीं बाँधा है। इसे बाँधा है मेरे प्रिय शिष्य इस कंसने, सो आप जो कुछ देना चाहें इसे देकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिए। जरासंधने कंसकी ओर देखकर उससे पूछा—भाई, तुम्हारी जाति-कुल क्या है? कंसको अपने विषयमें जो बात ज्ञात थी, उसने वही स्पष्ट बतला दी कि प्रभो, मैं तो एक मालिनका लड़का हूं। जरासंधको कंसकी सुन्दरता और तेजस्विता देखकर यह विश्वास नहीं हुआ कि वह सचमुच ही एक मालिनका लड़का होगा। इसका निश्चय करनेके लिए जरासंधने उसकी माको बुलवाया। यह ठीक है कि राजा लोग प्रायः बुद्धिमान् और चतुर हुआ करते हैं। कंसकी माको जब यह खबर मिली कि उसे राजदरबारमें बुलाया है, तब तो उसकी छाती धड़कने लग गई। वह कंसकी शैतानीका हाल तो जानती ही थी, सो उसने सोचा

कि जरूर कंसने कोई बड़ा भारी गुना किया है और इसीसे वह पकड़ा गया है। अब उसके साथ मेरी भी आफत आई। वह घबराई और पछताने लगी कि हाय ! मैंने क्यों इस दुष्टको अपने घर लाकर रक्खा ? अब न जाने राजा मेरा क्या हाल करेगा ? जो हो, बेचारी रोती-झींकती राजाके पास गई और अपने साथ उस सन्दूकको भी लिवा ले गई, जिसमें कि कंस निकला था। इसने राजाके सामने होते ही काँपते काँपते कहा–दुहाई है महाराजकी ! महाराज, यह पापी मेरा लड़का नहीं है, मैं सच कहती हूं। इस सन्दूकमेंसे यह निकला है। सन्दूकको आप लीजिए और मुझे छोड़ दीजिए। मेरा इसमें कोई अपराध नहीं। मालिनको इतनी घबराई देखकर राजाको कुछ हँसीसी आ गई। उसने कहा–नहीं, इतने डरने-घबरानेकी कोई बात नहीं। मैंने तुम्हें कोई कष्ट देनेको नहीं बुलाया है। बुलाया है सिर्फ कंसकी खरी खरी हकीगत जान-नेके लिए। इसके बाद राजाने सन्दूक उठाकर खोला तो उसमें एक कम्बल और एक अँगूठी निकली। अँगूठी पर खुदा हुआ नाम बाँचकर राजाको कंसके सम्बन्धमें अब कोई शंका न रह गई। उसने उसे एक अच्छे राजकुलमें जन्मा समझ उस-के साथ अपनी जीवंजसा कुमारीका ब्याह बड़े ठाटबाटसे कर दिया। जरासंधने उसे अपना राजका कुछ हिस्सा भी दिया। कंस अब राजा हो गया।

राजा होनेके साथ ही अब उसे अपनी राज्यसीमा और प्रभुत्व बढ़ानेकी महत्वाकांक्षा हुई। मथुराके राजा उग्रसेनके साथ उसकी पूर्व जन्मकी शत्रुता है। कंस जानता था कि

उग्रसेन मेरे पिता हैं, पर तब भी उन पर वह जला करता है और उसके मनमें सदा यह भावना उठती है कि मैं उग्रसेनसे लड़ूं और उनका राज्य छीनकर अपनी आशा पूरी करूं। यही कारण था कि उसने पहली चढ़ाई अपने पितापर ही की। युद्धमें कंसकी विजय हुई। उसने अपने पिताको एक लोहेके पींजरेमें बंदकर और शहरके दरवाजेके पास उस पींजरेको रखवा दिया। और आप मथुराका राजा बनकर राज्य करने लगा। कंसको इतने पर भी सन्तोप न हुआ सो अपना वैर चुकानेका अच्छा मौका समझ वह उग्रसेनको बहुत कष्ट देने लगा। उन्हें खानेके लिए वह केवल कोदूकी रोटियाँ और छाछ देता। पीनेके लिए गन्दा पानी और पहरनेके लिए बड़े ही मैले-कुचेले और फटे-पुराने चिथड़े देता। मतलब यह कि उसने एक बड़ेसे बड़े अपराधीकी तरह उनकी दशा कर रक्खी थी। उग्रसेनकी इस हालतको देखकर उनके कट्टर दुश्मनकी भी छाती फटकर उसकी आँखोंसे सहानुभूतिके आँसू गिर सकते थे, पर पापी कंसको उनके लिए रत्तीभर भी दया या सहानुभूति नहीं थी। सच है, कुपुत्र कुलका काल होता है। अपने भाईकी यह नीचता देखकर कंसके छोटे भाई अतिमुक्तकको संसारसे बड़ी घृणा हुई। उन्होंने सब मोह-माया छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर ली। वसुदेव कंसके गुरु थे। इसके सिवा उन्होंने उसका बहुत कुछ उपकार किया था; इस लिए कंसकी उन पर बड़ी श्रद्धा थी। उसने उन्हें अपने ही पास बुलाकर रख लिया।

मृतकावती पुरीके राजा देवकीके एक कन्या थी। वह बड़ी सुन्दर थी। राजाका उस पर बहुत प्यार था। इस लिए उसका

नाम उन्होंने अपने ही नाम पर देवकी रख दिया था। कंसने उसे अपनी वहिन करके मानी थी, सो वसुदेवके साथ उसने उसका व्याह कर दिया। एक दिनकी बात है कि कंसकी स्त्री जीवंजसा देवकीके और अपने देवर अतिमुक्तककी स्त्री पुष्पवतीके वस्त्रोंको आप पहरकर नाच रही थी-हँसी-मजाक कर रही थी। इसी समय कंसके भाई अतिमुक्तक मुनि आहारके लिए आये। जीवंजसाने हँसते हँसते मुनिसे कहा-अजी ओ देवरजी, आइए! आइए!! मेरे साथ साथ आप भी नाचिये। देखिए, फिर वड़ा ही आनन्द आवेगा। मुनिने गंभीरतासे उत्तर दिया—वहिन, मेरा यह मार्ग नहीं है। इस लिए अलग हो जा और मुझे जाने दे। पापिनी जीवंजसाने मुनिको जाने न देकर उलटा हठ पकड़ लिया और वोली-नहीं, मैं तव तक आपको कभी न जाने दूंगी जब तक कि आप मेरे साथ न नाचेंगे। मुनिको इससे कुछ कष्ट हुआ और इसीसे उन्होंने आवेगमें आ उससे कह दिया कि मूर्खे, नाचती क्या है! जाकर अपने स्वामीसे कह कि आपकी मौत देवकीके लड़के द्वारा होगी और वह समय वहुत नजदीक आ रहा है। सुनकर जीवंजसाको वड़ा गुस्सा आया। उसने गुस्सेमें आकर देवकीके वस्त्रको, जिसे कि वह पहरे हुए थी, फाड़कर दो टुकड़े कर दिये। मुनिने कहा-मूर्ख स्त्री, कपड़ेको फाड़ देनेसे क्या होगा? देख और सुन, जिस तरह तूने इस कपड़ेके दो टुकड़े कर दिये हैं उसी तरह देवकीके होनेवाला वीर पुत्र तेरे वापके दो टुकड़े करेगा। जीवंजसाको वड़ा ही दुःख हुआ। वह नाचना-

गाना सब भूल गई। अपने पतिके पास दौड़ी जाकर वह रोने लगी। सच है यह जीव अज्ञानदशामें हँसता हँसता जो पाप कमाता है उसका फल भी इसे बड़ा ही बुरा भोगना पड़ता है। कंस जीवंजसाको रोती देखकर बड़ा घबराया। उसने पूछा—प्रिये, क्यों रोती हो? बतलाओ, क्या हुआ? संसारमें ऐसा कौन धृष्ट होगा जो कंसकी प्राणप्यारीको रुला सके! प्रिये, जल्दी बतलाओ, तुम्हें रोती देखकर मैं बड़ा दुखी हो रहा हूँ! जीवंजसाने मुनि द्वारा जो जो बातें सुनी थीं, उन्हें कंससे कह दिया। सुनकर कंसको भी बड़ी चिन्ता हुई। वह जीवंजसासे बोला—प्रिये, घबरानेकी कोई बात नहीं, मेरे पास इस रोगकी भी दवा है। इसके बाद ही वह वसुदेवके पास पहुँचा और उन्हें नमस्कार कर बोला—गुरुमहाराज, आपने मुझे पहले एक 'वर' दिया था। उसकी मुझे अब जरूरत पड़ी है। कृपा कर मेरी आशा पूरी कीजिए। इतना कहकर कंसने कहा—मेरी इच्छा देवकीके होनेवाले पुत्रके मार डालनेकी है। इस लिए कि मुनिने उसे मेरा शत्रु बतलाया है। सो कृपाकर देवकीकी प्रसूति मेरे महलमें हो, इसके लिए अपनी अनुमति दीजिए। कंसकी—अपने एक शिष्यकी इस प्रकार नीचता—गुरुद्रोह देखकर वसुदेवकी छाती धड़क उठी। उनकी आँखोंमें आँसू भर आये। पर करते क्या? वे क्षत्रिय थे और क्षत्रिय लोग इस व्रतके व्रती होते हैं कि "प्राण जाँहि पर वचन न जाँहि।" तब उन्हें लाचार होकर कंसका कहना बिना कुछ कहे-सुने मान लेना पड़ा। क्योंकि सत्पुरुष अपने वचनोंका पालन करनेमें कभी

कपट नहीं करते। देवकी ये सब बातें खड़ी खड़ी सुन रही थी। उसे अत्यन्त दुःख हुआ। वह वसुदेवसे बोली—प्राणनाथ, मुझसे यह दुःसह पुत्र-दुःख नहीं सहा जायगा। मैं तो जाकर जिनदीक्षा ले लेती हूं। वसुदेवने कहा—प्रिये, घबरानेकी कोई बात नहीं है। चलो, हम चलकर मुनिराजसे पूछें कि बात क्या है? फिर जैसा कुछ होगा विचार करेंगे। वसुदेव अपनी प्रियाके साथ वनमें गये। वहाँ अतिमुक्तक मुनि एक फले हुए आमके झाड़के नीचे स्वाध्याय कर रहे थे। उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार कर वसुदेवने पूछा—हे जिनेन्द्रभगवान्के सच्चे भक्त योगिराज, कृपा कर मुझे बतलाइए कि मेरे किस पुत्र द्वारा कंस और जरासंधकी मौत होगी? इस समय देवकी आमकी एक डाली पकड़े हुए थी। उसपर आठ आम लगे थे। उनमें छह आम तो दो-दोकी जोड़ीसे लगे थे और उनके ऊपर दो आम जुदा जुदा लगे थे। इन दो आमोंमेंसे एक आम इसी समय पृथिवी पर गिर पड़ा और दूसरा आम थोड़ी ही देर बाद पक गया। इस निमित्त ज्ञान पर विचार कर अवधिज्ञानी मुनि बोले—भव्य वसुदेव, सुनों, मैं तुम्हें सब खुलासा समझाये देता हूं। देखो, देवकीके आठ पुत्र होंगे। उनमें छह तो नियमसे मोक्ष जायँगे। रहे दो, सो इनमें सातवाँ तो जरासंध और कंसका मारनेवाला होगा और आठवाँ कर्मोंका नाश कर मुक्ति-महिलाका पति होगा। मुनिराजसे इस सुख-समाचारको सुनकर वसुदेव और देवकीको बहुत आनन्द हुआ। वसुदेवको विश्वास था कि मुनिका कहा कभी झूंठ नहीं हो सकता। मेरे

पुत्र द्वारा कंस और जरासंधकी होनेवाली मौतको कोई नहीं टाल सकता। इसके बाद वे दोनों भक्तिसे मुनिको नमस्कार कर अपने घर लौट आये। सच है, जिनभगवान्‌के धर्म पर विश्वास करना ही सुखका कारण है।

देवकीके जबसे सन्तान होनेकी संभावना हुई तबसे उसके रहनेका प्रबन्ध कंसके ही महल पर हुआ। कुछ दिनों बाद पवित्रमना देवकीने दो पुत्रोंको एक साथ जना। इसी समय कोई ऐसा पुण्य-योग मिला कि भद्रिलापुरमें श्रुतदृष्टि सेठकी स्त्री अलकाके भी पुत्र-युगल हुआ। पर यह युगल मरा हुआ था। सो देवकीके पुत्रोंके पुण्यसे प्रेरित होकर एक देवता इस मृत-युगलको उठा कर तो देवकीके पास रख आई और उसके जीते पुत्रोंको अलकाके पास ला रक्खा। सच है, पुण्यवानोंकी देव भी रक्षा करते हैं। इस लिए कहना पड़ेगा कि जिन भगवान्‌ने जो पुण्यमार्गमें चलनेका उपदेश दिया है वह वास्तवमें सुखका कारण है। और पुण्य भगवानकी पूजा करनेसे होता है, दान देनेसे होता है और व्रत, उपवासादि करनेसे होता है। इस लिए इन पवित्र कर्मों द्वारा निरन्तर पुण्य कमाते रहना चाहिए। कंसको देवकीकी प्रसूतिका हाल मालूम होते ही उसने उस मरे हुए पुत्र-युगलको उठा लाकर बड़े जोरसे शिलापर दे मारा। ऐसे पापियोंके जीवनको धिक्कार है। इसी तरह देवकीके जो दो और पुत्र-युगल हुए, उन्हें देवता वहीं अलका सेठानीके यहाँ रख आई और उसके मरे पुत्र-युगलोंको उसने देवकीके पास ला रक्खा। कंसने इन दोनों युगलोंकी भी पहले युगलकीसी

दशा की। देवकीके ये छहों पुत्र इसी भवसे मोक्ष जायँगे, इस लिए इनका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। ये सुखपूर्वक यहीं रहकर बढ़ने लगे।

अब सातवें पुत्रकी प्रसूतिका समय नजदीक आने लगा। अबकी वार देवकीके सातवें महीनेमें ही पुत्र हो गया। यही शत्रुओंका नाश करनेवाला था; इस लिए वसुदेवको इसकी रक्षाकी अधिक चिन्ता थी। समय कोई दो तीन बजे रातका था। पानी वरस रहा था। वसुदेव उसे गोदमें लेकर चुपकेसे कंसके महलसे निकल गये। वलभद्रने इस होनहार वच्चेके ऊपर छत्री लगाई। चारों ओर गाढ़ान्धकारके मारे हाथसे हाथ तक भी न देख पड़ता था। पर इस तेजस्वी वालकके पुण्यसे वही देवता, जिसने कि इसके छह भाइयोंकी रक्षा की है, वैलके रूपमें सींगो पर दीया रक्खे आगे आगे हो चली। आगे चलकर इन्हें शहर वाहर होनेके दरवाजे वन्द मिले, पर भाग्यकी लीला अपरम्पार है। उससे असंभव भी संभव हो जाता है। वही हुआ। बच्चेके पाँवोंका स्पर्श होते ही दरवाजा भी खुल गया। आगे चले तो नदी अथाह वह रही थी। उसे पार करनेका कोई उपाय न था। वड़ी कठिन समस्या उपस्थित हुई। उन्होंने होना-करना सब भाग्यके भरोसे पर छोड़कर नदीमें पांव दिया। पुण्यकी कैसी महिमा जो यमुनाका अथाह जल घुटनों प्रमाण हो गया। पार होकर ये एक देवीके मन्दिरमें गये। इतनेमें इन्हें किसीके आनेकी आहट सुनाई दी। ये देवीके पीछे छुप गये।

इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक और घटनाका हाल सुनिये। एक नन्द नामका गुवाल यहीं पासके गांवमें रहता है। उसकी स्त्रीका नाम यशोदा है। यशोदाके प्रसूति होनेवाली थी, सो वह पुत्रकी इच्छासे देवीकी पूजा वगैरह कर गई थी। आज ही रातको उसके प्रसूति हुई। पुत्र न होकर पुत्री हुई। उसे बड़ा दुःख हुआ कि मैंने पुत्रकी इच्छासे देवीकी इतनी तो आराधना-पूजा की और फिर भी लड़की हुई। मुझे देवीके इस प्रसादकी जरूरत नहीं। यह विचार कर वह उठी और गुस्सामें आकर उस लड़कीको लिए देवीके मन्दिर पहुंची। लड़कीको देवीके सामने रखकर वह बोली—देवीजी, लीजिए आपकी पुत्रीको ? मुझे इसकी जरूरत नहीं है। यह कहकर यशोदा मन्दिरसे चली गई। वसुदेवने इस मौकेको बहुत ही अच्छा समझ पुत्रको तो देवीके सामने रख दिया और लड़कीको आप उठाकर चल दिये। जाते हुए वे यशोदासे कहते गये कि अरी, जिसे तू देवताके पास रख आई है वह लड़की नहीं है; किन्तु एक बहुत ही सुन्दर लड़का है। जा उसे जल्दी लेआ; नहीं तो और कोई उठा ले जायगा। यशोदाको पहले तो आश्चर्यसा हुआ। पर फिर वह अपनेपर देवीकी कृपा समझ झटपट दौड़ी गई और जाकर देखती है तो सचमुच ही वह एक बहुत सुन्दर बालक है। यशोदाके आनन्दका अब कुछ ठिकाना न रहा। वह पुत्रको गोदमें लिए उसे चूमती हुई घर पर आ गई। सच है, पुण्यका कितना वैभव है इसका कुछ पार नहीं। जिसकी स्वप्नमें भी आशा न हो वही पुण्यसे सहज मिल जाता है।

इधर वसुदेव और बलभद्रने घर पहुँचकर उस लड़कीको देवकीको सौंप दिया। सबेरा होते ही जब लड़कीके होनेका हाल कंसको मालूम हुआ तो उस पापीने आकर बेचारी उस लड़कीकी नाक काटली।

यशोदाके यहां वसुदेव सुखसे रहकर दिनों दिन बढ़ने लगा। जैसे जैसे वह उधर बढ़ता है कंसके यहाँ वैसे ही अनेक प्रकारके अशुकन होने लगे। कभी आकाशसे तारा टूटकर पड़ता, कभी विजली गिरती, कभी उल्का गिरती और कभी और कोई भयानक उपद्रव होता। यह देख कंसको बड़ी चिन्ता हुई। वह बहुत घबराया। उसकी समझमें कुछ न आया कि यह सब क्या होता है? एक दिन विचार कर उसने एक ज्योतिषीको बुलाया और उसे सब हाल कहकर पूछा कि पंडितजी, यह सब उपद्रव क्यों होते हैं? इसका कारण क्या आप मुझे कहेंगे? ज्योतिषीने निमित्त विचार कर कहा–महाराज, इन उपद्रवोंका होना आपके लिए बहुत ही बुरा है। आपका शत्रु दिनों दिन बढ़ रहा है। उसके लिए कुछ प्रयत्न कीजिए। और वह कोई बड़ी दूर न होकर यहीं गोकुलमें है। कंस बड़ी चिन्तामें पड़ा। वह अपने शत्रुके मारनेका क्या यत्न करे, यह उसकी समझमें न आया। उसे चिन्ता करते हुए अपनी पूर्व सिद्ध हुई विद्याओंकी याद हो उठी। एकदम चिन्ता मिटकर उसके मुँह पर प्रसन्नताकी झलक देख पड़ी। उसने उन विद्याओंको बुलाकर कहा–इस समय तुमने बड़ा काम दिया। जाओ, अब पलभरकी भी देरी न कर जहाँ मेरा शत्रु हो उसे

ठार मारकर मुझे बहुत जल्दी उसकी मौतके शुभ समाचार दो। विद्याएँ वासुदेवको मारनेको तैयार हो गई। उनमें पहली पूतना विद्याने धायके वेषमें जाकर वासुदेवको दूधकी जगह विष पिलाना चाहा। उसने जैसे ही उसके मुँहमें स्तन दिया, वासुदेवने उसे इतने जोरसे काटा कि पूतनाके होश गुम हो गये। वह चिल्लाकर भाग खड़ी हुई। उसकी यहाँतक दुर्दशा हुई कि उसे अपने जीनेमें भी सन्देह होने लगा। दूसरी विद्या कौएके वेषमें वासुदेवकी आँखें निकाल लेनेके यत्नमें लगी, सो उसने उसकी चोंच, पींख वगैरहको नोंच नाचकर उसे भी ठीक कर दिया। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवी, छटी, और सातवीं देवी जुदा जुदा वेषमें वासुदेवको मारनेका यत्न करने लगीं, पर सफलता किसीको भी न हुई। इसके विपरीत देवियोंको ही बहुत कष्ट सहना पड़ा। यह देख आठवीं देवीको बड़ा गुस्सा आया। वह तब कालिकाका वेष लेकर वासुदेवको मारनेके लिए तैयार हुई। वासुदेवने उसे भी गोवर्द्धन पर्वत उठाकर उसके नीचे दाब दिया। मतलब यह कि विद्याओंने जितनी भी कुछ वासुदेवके मारनेकी चेष्टा की वह सब व्यर्थ गई। वे सब अपनासा मुँह लेकर कंसके पास पहुँची और उससे बोलीं—देव, आपका शत्रु कोई ऐसा वैसा साधारण मनुष्य नहीं। वह बड़ा बलवान है। हम उसे किसी तरह नहीं मार सकतीं। देवियाँ इतना कहकर चल दीं। उनकी इस विभीषिकाको सुनकर कंस हतबुद्धि हो गया। वह इस बातसे बड़ा घबराया कि जिसे देवियाँ तक जब न मार सकीं तब तो उसका मारना कठिन ही नहीं किन्तु असंभव

है। तब क्या मैं उसीके हाथों मारा जाऊंगा ? नहीं, जब तक मुझमें दम है, मैं उसे बिना मारे कभी नहीं छोड़ूँगा। देवियाँ आखिर थीं तो स्त्री-जाति ही न ? जो स्वभावसे ही कायर-डरपोंक होती हैं, वे बेचारी एक वीर पुरुषको क्या मार सकेंगीं ! अस्तु, अब मैं स्वयं उसके मारनेका यत्न करता हूँ। फिर देखता हूँ कि वह कहाँ तक मुझसे बचता है ! आखिर वह है एक गुवालका छोकरा और मैं वीर राजपूत ! तब क्या मैं उसे न मार सकूँगा ? यह असंभव है। उद्यमसे सब काम सिद्ध हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

कंसने अपने मनकी खूब समझौती कर वासुदेवके मारनेकी एक नई योजना की। उसके यहाँ दो बड़े प्रसिद्ध पहिलवान थे। उनके साथ कुश्ती लड़कर जीतनेवालेको एक बड़ा भारी पारितोषिक देना उसने प्रसिद्ध किया। कंसने सोचा था कि पहले तो मेरे ये पहिलवान ही उसे मच्छरकी तरह पीस डालेंगे और कोई दैवयोगसे इनके हाथसे वह बच भी गया तो मैं तो उसकी छाती पर ही तलवार लिये खड़ा रहूँगा, सो उस समय उसका सिर धड़से जुदा करनेमें मुझे बार ही क्या लगेगी ? इससे बढ़कर और कोई उपाय शत्रुके मारनेका नहीं है। कंसको इस विचारसे बड़ा धीरज बँधा।

कुश्तीका जो दिन नियत था, उस दिन नियत किये स्थान पर हजारों आलम ठसाठस भर गये। सारी मथुरा उस वीरके देखनेको उमड़ पड़ी कि देखें इन पहिलवानोंके साथ कौन वीर लड़ेगा। सबके मन बड़े उत्सुक हो उठे। आँखें उस वीर पुरुषकी बाट जोने लगीं। पर उन्हें अब तक कोई लड़नेको

तैयार नहीं देख पड़ा। कंसका मन कुछ निराश होने लगा। कुश्तीका समय भी बहुत नजदीक आ गया। पर अभी-तक उसने किसीको अखाड़ेमें उतरते नहीं देखा। यह देख उसकी छाती धड़की। लोग जानेकी तैयारीहीमें होंगे कि इतनेमें एक चौबीस पच्चीस वर्षका जवान भीड़को चीरता हुआ आया और गर्जकर बोला–हाँ जिसे कुश्ती लड़ना हो वह अखाड़ेमें उतर कर अपना बल बतावे! उपस्थित मंडली इस आये हुए युवा पुरुषकी देव-दुर्लभ सुन्दरता और वीरताको देखकर दंग रह गई। बहुतोंको उसकी छोटी उमर और सुन्दरता तथा उन पहिलवानोंका भीम काय देखकर नाना तरहकी कुशंका भी होने लगी। और साथ ही उनका हृदय सहानुभूतिसे भर आया। पर उसे रोक देने-का उनके पास कोई उपाय न था। इस लिए उन्हें दुःख भी हुआ। जो हो, आगन्तुक युवाकी उस हृदय हिलानेवाली गर्जनाको सुनकर एक भीमकाय पहिलवानने अखाड़ेमें उतर-कर खम ठोका और सामनेवाले वीरको अखाड़ेमें उतरनेके लिए ललकारा। युवा भी बिजलीकी तरह चपलतासे झटसे अखाड़ेमें दाखिल हो गया। इशारा होते ही दोनोंकी मुठभेड़ हुई। युवाकी वीरश्री और चंचलता इस समय देख-नेके ही योग्य थी। उस मूर्तिमान् वीरश्रीने कुछ देर तक तो उस पहिलवानको खेल खिलाया और अन्तमें उठाकर ऐसा पछाड़ा कि उसे आसमानके तारे देख पड़ने लगे। इतनेमें ही उसका साथी दूसरा पहिलवान अखाड़ेमें उतरा। वासुदेवने उसकी भी यही दशा की। उपस्थित मंडलीके

आनन्दकी सीमा न रही। तालियोंसे उसका खूब जयजयकार मनाया गया। अब तो कंससे किसी तरह न रहा गया। उसके हृदयमें ईर्षा, द्वेष, प्रतिहिंसा और मत्सरताकी आग भड़क उठी। वह तलवार हाथमें लिये ललकार कर बोला, हाँ ठहरो! अभी लड़ाई बाकी है। यह कहकर वह स्वयं हाथमें शमशेर लिये अखाड़ेमें उतरा। उसे देखकर सब भौंचकसे रहे गये। किसीकी समझमें न आया कि यह रहस्य क्या है? क्यों ऐसा किया जा रहा है? किसीको कुछ कहने विचारनेका अधिकार न था। इस लिए वे सब लाचार होकर उस भयंकर समयकी प्रतिक्षा करने लगे कि अन्तमें देखें ऊँट किस करवट बैठता है। जो हो, पर इतना अवश्य है कि प्रकृतिको अधिक अन्याय, अत्याचार सहन नहीं होता, और इस लिए वह फिर एक ऐसी शक्ति पैदा करती है जो उन अत्याचारोंके अंकुरको जड़मूलसे ही अखाड़ फैंक देती है। कंसके भयानक अत्याचारोंसे सारी प्रजा त्राह त्राह कर उठी थीं। शान्ति–सुखका कहीं नाम निशान भी न रह गया था। इसी लिए प्रकृतिने वासुदेव सरीखी एक महाशक्तिको उत्पन्न किया। कंसको अखाड़ेमें उतरा देखकर वासुदेव भी तलवार उठा उसके सामने हुआ। दोनोंने अपनी अपनी तलवारको सम्हाला। कंसका हृदय क्रोधकी आगसे जल ही रहा था, सो उसने झपट कर वासुदेव पर पहला वार किया। श्रीकृष्णने उसके वारको बड़ी बुद्धिमानीसे बचाकर उस पर एक ऐसा जोरका वार किया कि पहला ही वार कंससे सम्हालते न बना और देखते देखते वह धड़ामसे गिरकर सदाके लिए

पृथिवीकी गोदमें सो गया। प्रकृतिको सन्तोष हुआ। उसने अपना कर्त्तव्य पूरा कर लोगोंको भी यह शिक्षा देदी कि देखो, निर्बलों पर अत्याचार करनेका तुम्हें कोई अधिकार नहीं। मैं ऐसे पापियोंका पृथिवी पर नाम निशान भी नहीं रहने देता। यदि तुम सुखी रहना पसन्द करते हो तो दूसरोंको भी सुखी करनेका यत्न करो। यह मेरा आदेश है।

कंसको निरीह प्रजा पर अत्याचार करनेका उपयुक्त प्रायश्चित्त मिल गया। अशान्तिका छत्र भंग होकर फिरसे शान्तिके पवित्र शासनकी स्थापना हुई। वासुदेवने उसी समय कंसके पिता उग्रसेनको लाकर पीछा राज्यसिंहासन पर अधिष्ठित किया। इसके बाद ही श्रीकृष्णने जरासन्ध पर चढ़ाई करके उसे भी कंसका रास्ता बतलाया और आप फिर अर्धचक्रवर्त्ती होकर प्रजाका नीतिके साथ शासन करने लगा।

यह कथा प्रसंगवश यहाँ संक्षेपमें लिख दी गई है, जिन्हें विस्तारके साथ पढ़ना हो उन्हें हरिवंशपुराणका स्वाध्याय करना चाहिए।

जो क्रोधी, मायाचारी, ईर्षा करनेवाले, द्वेष करनेवाले और मानी थे, धर्मके नामसे जिन्हें चिढ़ थी, जो धर्मसे उलटा चलते थे, अत्याचारी थे, जड़बुद्धि थे, और खोटे कर्मोंकी जालमें सदा फँसे रह कर कोई पाप करनेसे नहीं डरते थे, ऐसे कितने मनुष्य अपने ही कर्मोंसे कालके मुँहमें नहीं पड़े ? अर्थात् कोई बुरा काम करे या अच्छा, कालके हाथ तो सभीको पड़ना ही पड़ता है। पर दोनोंमें विशेषता यह होती है कि एक मरे बाद भी जन साधारणकी श्रद्धाका पात्र होता

है और सुगति लाभ करता है। और दूसरा जीतेजी ही अनेक तरहकी निन्दा, बुराई, तिरस्कार आदि दुर्गुणोंका पात्र बनकर अन्तमें कुगतिमें जाता है। इस लिए जो विचारशील हैं— सुख प्राप्त करना जिनका ध्येय है, उन्हें तो यही उचित है कि वे संसारके दुःखोंका नाश कर स्वर्ग या मोक्षका सुख देनेवाले जिनभगवान्‌का उपदेश किया पवित्र जिनधर्मका सेवन करें।

४५—लक्ष्मीमतीकी कथा।



न जगद्बन्धुका ज्ञान लोक और अलोकका प्रकाशित करनेवाला है—जिनके ज्ञान द्वारा सब पदार्थ जाने जा सकते हैं, अपने हितके लिए उन जिनेन्द्रभगवान्‌को नमस्कार कर मान करनेके सम्बन्धकी कथा लिखी जाती है।

मगधदेशके लक्ष्मी नामके सुन्दर गाँवमें एक सोमशर्मा ब्राह्मण रहता था। इसकी स्त्रीका नाम लक्ष्मीमती था। लक्ष्मीमती सुन्दरी थी। अवस्था इसकी जवान थी। इसमें सब गुण थे, पर एक दोष भी था। वह यह कि इसे अपनी जातिका बड़ा अभिमान था और यह सदा अपनेको सिंगारने-सजानेमें मस्त रहती थी।

एक दिन पन्द्रह दिनके उपवास किये हुए श्रीसमाधिगुप्त मुनिराज आहारके लिए इसके यहाँ आये। सोमशर्मा उन्हें आहार करानेके लिए भक्तिसे ऊँचे आसन पर विराज-

मान कर और अपनी स्त्रीको उन्हें आहार करा देनेके लिए कहकर आप कहीं बाहर चला गया। उसे किसी कामकी जल्दी थी।

इधर ब्राह्मणी बैठी बैठी काचमें अपना मुँह देख रही थी। उसने अभिमानमें आकर मुनिको बहुतसी गालियाँ दीं, उनकी निन्दा की और किवाड बन्द कर लिए। हाय ! इससे अधिक और क्या पाप होगा ? मुनिराज शान्त-स्वभावी थे, तपके समुद्र थे, सबका हित करनेवाले थे, अनेक गुणोंसे युक्त थे, और उच्च चारित्रके धारक थे; इस लिए ब्राह्मणीकी उस दुष्टता पर कुछ ध्यान देकर वे लौट गये। सच है, पापियोंके यहाँ आई हुई निधि भी चली जाती हैं। मुनि-निन्दाके पापसे लक्ष्मीमतीके सातवें दिन कोढ़ निकल आया। उसकी दशा बड़ी बिगड़ गई। सच है, साधु-सन्तोंकी निन्दा-बुराईसे कभी शान्ति नहीं मिलती। लक्ष्मीमतीकी बुरी हालत देखकर घरके लोगोंने उसे घर-बाहर कर दिया। यह कष्ट पर कष्ट उससे न सहा गया, सो वह आगमें पैठकर जल मरी। उसकी मौत बड़े बुरे भावोंसे हुई। उस पापसे वह इसी गांवमें एक धोबीके यहाँ गधी हुई। इस दशामें इसे दूध पीनेको नहीं मिला। यह मरकर सूअरी हुई। फिर दो बार कुत्तीकी पर्याय इसने ग्रहण की। इसी दशामें यह वनमें दवाग्निसे जल मरी। अब वह नर्मदा नदीके किनारे पर बसे हुए भृगुकच्छ गाँवमें एक मल्लाहके यहाँ काणा नामकी लड़की हुई। शरीर इसका जन्मसे ही बड़ा दुर्गन्धित था। किसीकी इच्छा इसके पास तक बैठनेकी

नहीं होती थी। देखिये अभिमानका फल, कि लक्ष्मीमती ब्राह्मणी थी, पर उसने अपनी जातिका अभिमान कर अब मल्लाहके यहाँ जन्म लिया। इस लिए बुद्धिमानोंको कभी जातिका गर्व न करना चाहिए।

एक दिन काणा लोगोंको नाव द्वारा नदी पार कर रही थी। इसने नदी किनारे पर तपस्या करते हुए उन्हीं मुनिको देखा, जिनकी कि लक्ष्मीमतीकी पर्यायमें इसने निन्दा की थी। उन ज्ञानी मुनिको नमस्कार कर इसने पूछा–प्रभो, मुझे याद आता है कि मैंने कहीं आपको देखा है? मुनिने कहा–बच्ची, तू पूर्वजन्ममें ब्राह्मणी थी, तेरा नाम लक्ष्मीमती था, और सोमशर्मा तेरा भर्त्ता था। तूने अपने जातिके अभिमानमें आकर मुनि-निन्दा की। उसके पापसे तेरे कोढ़ निकल आया। तू उस दुःखको न सहकर आगमें जल मरी। इस आत्महत्याके पापसे तुझे गधी, सूअरी और दो वार कुत्ती होना पड़ा। कुत्तीके भवसे मरकर तू इस मल्लाहके यहाँ पैदा हुई है। अपना पूर्व भवका हाल सुनकर काणाको जातिस्मरण ज्ञान हो गया–पूर्वजन्मकी सब बातें उसे याद हो उठीं। वह मुनिको नमस्कार कर बड़े दुःखके साथ बोली–प्रभो, मैं बड़ी पापिनी हूं। मैंने साधु-महात्माओंकी बुराई कर बड़ा ही नीच काम किया है। मुनिराज, मेरी पापसे अब रक्षा करो–मुझे कुगतियोंमें जानेसे बचाओ। तब मुनिने उसे धर्मका उपदेश दिया। काणा सुनकर बड़ी सन्तुष्ट हुई। उसे बहुत वैराग्य हुआ। वह वहीं मुनिके पास दीक्षा लेकर क्षुल्लिकिनी हो गई। उसने फिर अपनी शक्तिके अनुसार खूब तपस्या की।

अन्तमें शुभ भावोंसे मरकर वह स्वर्ग गई। यही काणा फिर स्वर्गसे आकर कुण्ड नगरके राजा भीष्मकी महारानी यशस्वतीके रूपिणी नामकी बहुत सुन्दर कन्या हुई। रूपिणीका ब्याह वासुदेवके साथ हुआ। सच है, पुण्यके उदयसे जीवोंको सब धन-दौलत मिलती है।

जैनधर्म सबका हित करनेवाला सर्वोच्च धर्म है। जो इसे पालते हैं वे अच्छे कुलमें जन्म लेते हैं, उन्हें यश-सम्पत्ति प्राप्त होती है, वे कुगतिमें न जाकर उच्च गतिमें जाते हैं, और अन्तमें मोक्षका सर्वोच्च सुख लाभ करते हैं।

४६—पुष्पदत्ताकी कथा।



अनन्त सुखके देनेवाले और तीनों जगत्के स्वामी श्रीजिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर मायाको नाश करनेके लिए मायाविनी पुष्पदत्ताकी कथा लिखी जाती है।

प्राचीन समयसे प्रसिद्ध अजितावर्त नगरके राजा पुष्पचूलकी रानीका नाम पुष्पदत्ता था। राजसुख भोगते हुए पुष्पचूलने एक दिन अमरगुरु मुनिके पास जिनधर्मका स्वरूप सुना, जो धर्म स्वर्ग और मोक्षके सुखकी प्राप्तिका कारण है। धर्मोपदेश सुनकर पुष्पचूलको संसार, शरीर, भोगादिकोंसे बड़ा वैराग्य हुआ। वे दीक्षा लेकर मुनि हो गये। उनकी रानी पुष्पदत्ताने भी उनकी देखा-देखी

ब्रह्मिला नामकी आर्यिकाके पास आर्यिकाकी दीक्षा लेली। दीक्षा ले-लेने पर भी इसे अपने बड़प्पनका—राजकुलका अभिमान जैसाका तैसा ही बना रहा। धार्मिक आचार-व्यवहारसे यह विपरीत चलने लगी। और और आर्यिकाओंको नमस्कार, विनय करना इसे अपने अपमानका कारण जान पड़ने लगा। इस लिए यह किसीको नमस्कारादि नहीं करती थी। इसके सिवा इस योग अवस्थामें भी यह अनेक प्रकारकी सुगन्धित वस्तुओं द्वारा अपने शरीरको सिंगारा करती थी। इसका इस प्रकार बुरा—धर्मविरुद्ध आचार विचार देखकर एक दिन धर्मात्मा ब्रह्मिलाने इसे समझाया कि इस योगदशामें तुझे ऐसा शरीरका सिंगार आदि करना उचित नहीं है। ये बातें धर्मविरुद्ध और पापकी कारण है। इस लिए कि इनसे विषयोंकी इच्छा बढ़ती है। पुष्पदत्ताने कहा—नहीं जी, मैं कहाँ सिंगार-विंगार करती हूँ! मेरा तो शरीर ही जन्मसे ऐसी सुगन्ध लिये है। सच है, जिनके मनमें स्वभावसे धर्म-वासना न हो उन्हें कितना भी समझाया जाय, उन पर उस समझानेका कुछ असर नहीं होता। उनकी प्रवृत्ति और अधिक बुरे कामोंकी ओर जाती है। पुष्पदत्ताने यह मायाचार कर ठीक न किया। इसका फल इसके लिए बुरा हुआ। वह मरकर इस मायाचारके पापसे चम्पापुरीमें सागरदत्त सेठके यहां दासी हुई। इसका नाम जैसा पूतिमुखी था, इसके मुँहसे भी सदा वैसी दुर्गन्ध निकलती रहती थी। इस लिए बुद्धिमानोंको चाहिए कि वे मायाको पापकी कारण जानकर उसे दूरसे ही छोड़दें।

यही-माया पशु-गतिके दुःखोंकी कारण है और कुल, सुन्द-रता, यश, माहात्म्य, सुगति, धन-दौलत तथा सुख आदि-का नाश करनेवाली है और संसारके बढ़ानेवाली लता है। यह जानकर मायाको छोड़े हुए जैनधर्मके अनुभवी विद्वा-नोंको उचित है कि वे धर्मकी ओर अपनी बुद्धिको लगावें।

४७–मरीचिकी कथा।

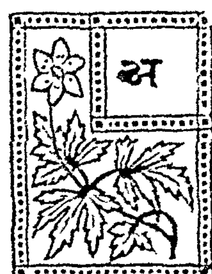


सुख रूपी धानको हरा-भरा करनेके लिए जो मेघ समान हैं, ऐसे जिनभगवान्‌के चरणोंको नमस्कार कर भरत-पुत्र मरीचिकी कथा लिखी जाती है, जैसी कि वह और शास्त्रोंमें लिखी है।

अयोध्यामें रहनेवाले सम्राट् भारतेश्वर भरतके मरीचि नामका पुत्र हुआ। मरीचि भव्य था और सरलमना था। जब आदिनाथ भगवान्, जो कि इन्द्र, धरणेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्त्ती आदि सभी महापुरुषों द्वारा सदा पूजा किये जाते थे, संसार छोड़कर योगी हुए तब उनके साथ कोई चार हजार राजा और भी साधु हो गये। इस कथाका नायक मरीचि भी इन साधुओंमें था।

भरत राज एक दिन भगवान् आदिनाथ तीर्थंकरका उपदेश सुननेको समवसरणमें गये। भगवान्‌को नमस्कार कर उन्होंने पूछा–भगवन्, आपके बाद तेईस तीर्थंकर और होंगे, ऐसा मुझे आपके उपदेशसे जान पड़ा। पर इस सभामें भी कोई

४८–गन्धमित्रकी कथा।



अनन्त गुण-विराजमान और संसारका हित करनेवाले जिनेद्र भगवान्को नमस्कार कर गन्धमित्र राजाकी कथा लिखी जाती है, जो घ्राणेन्द्रियके विषयमें फँसकर अपनी जान गँवा बैठा है।

अयोध्याके राजा विजयसेन और रानी विजयवतीके दो पुत्र थे। इनके नाम थे जयसेन और गन्धमित्र। इनमें गन्धमित्र बड़ा लम्पटी था। भौंरेकी तरह नाना प्रकारके फूलोंके सूँघनेमें वह सदा मस्त रहता था।

इनके पिता विजयसेन एक दिन कोई कारण देखकर संसारसे विरक्त हो गये। इन्होंने अपने बड़े लड़के जयसेनको राज्य देकर और गन्धमित्रको युवराज बनाकर सागरसेन मुनिराजसे योग ले लिया। सच है, जो अच्छे पुरुष होते हैं उनकी धर्मकी ओर स्वभावहीसे रुचि होती है।

जयसेनके छोटे भाई गन्धमित्रको युवराज पद अच्छा नहीं लगा। इस लिये कि उसकी महत्वाकांक्षा राजा होनेकी थी तब उसने राज्यके लोभमें पड़कर अपने बड़े भाईके विरुद्ध षड्यंत्र रचा। कितने ही बड़े बड़े कर्मचारियोंको उसने धनका लोभ देकर उभारा, प्रजामेंसे भी बहुतोंको उल्टी-सीधी सुझाकर बहकाया। गन्धमित्रको इसमें सफलता प्राप्त हुई। उसने मौका पाकर बड़े भाई जयसेनको सिंहासनसे उतार

राज्य बाहर कर दिया और आप राजा बन बैठा। राजवैभव सचमुच ही महापापका कारण है। देखिये न, इस राजवैभवके लोभमें पड़कर मूर्खजन अपने सगे भाईकी तक जान लेनेकी कोशिशमें रहते हैं।

राज्य-भ्रष्ट जयसेनको अपने भाईके इस अन्यायसे बड़ा दुःख हुआ। इसका उसे ठीक बदला मिले, इस उपायमें अब वह भी लगा। प्रतिहिंसासे अपने कर्त्तव्यको वह भूल बैठा। उस दिनका रास्ता वह बड़ी उत्सुकतासे देखने लगा जिस दिन गन्धमित्रको वह ठार मारकर अपने हृदयको सन्तुष्ट करे।

गन्धमित्र लम्पटी तो था ही, सो वह रोज रोज अपनी स्त्रियोंको साथ लिए जाकर सरयू नदीमें उनके साथ जलक्रीड़ा हँसी दिल्लगी किया करता था। जयसेनने इस मौकेको अपना बदला चुकानेके लिए बहुत ही अच्छा समझा। एक दिन उसने जहरके पुट दिये अनेक प्रकारके अच्छे अच्छे मनोहर फूलोंको ऊपरकी ओरसे नदीमें बहा दिया। फूल गन्धमित्रके पास होकर बहे जा रहे थे। गन्धमित्र उन्हें देखते ही उनके लेनेके लिए झपटा। कुछ फूलोंको हाथमें ले वह सूँघने लगा। फूलोंके विपका उस पर बहुत जल्दी असर हुआ और देखते देखते वह चल बसा। मरकर गन्धमित्र घ्राणेन्द्रियके विपयकी अत्यन्त लालसासे नरक गया। सो ठीक है, इन्द्रियोंके आधीन हुए लोगोंका नाश होता ही है।

देखिये, गन्धमित्र केवल एक विपयका सेवन कर नरकमें गया, जो कि अनन्त दुःखोंका स्थान है। तब जो लोग

पाँचो इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करनेवाले हैं, वे क्या नरकोंमें न जायँगे ? अवश्य जायँगे। इस लिए जिन बुद्धिवानोंको दुःख सहना अच्छा नहीं लगता या वे दुःखोंको चाहते ही नहीं, तो उन्हें विषयोंकी ओरसे अपने मनको खींचकर जिनधर्मकी ओर लगाना चाहिए।

४९–गन्धर्वसेनाकी कथा।



ब सुखोंके देनेवाले जिनभगवान्‌के चरणोंको नमस्कार कर मूर्खिणी गन्धर्वसेनाका चरित लिखा जाता है। गन्धर्वसेना भी एक ही विषय की अत्याशक्तिसे मौतके पंजेमें फँसी थी।

पाटलीपुत्र (पटना) के राजा गन्धर्वदत्तकी रानी गन्धर्वदत्ताके गन्धर्वसेना नामकी एक कन्या थी। गन्धर्वसेना गान विद्याकी बड़ी अच्छी जानकार थी। और इसी लिए उसने प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि जो मुझे गानेमें जीत लेगा वही मेरा स्वामी होगा–उसीकी मैं अंकशायिनी बनूँगी। गन्धर्वसेनाकी खूब सूरतीकी मनोहारी सुगन्धकी लालसासे अनेक क्षत्रिय-कुमार भौंरेकी तरह खिंचे हुए आते थे, पर यहाँ आकर उन सबको निराश-मुँह लौट जाना पड़ता था। गन्धर्वसेनाके सामने गानेमें कोई नहीं ठहरने पाता था।

एक पांचाल नामका उपाध्याय गानशास्त्रका बहुत अच्छा अभ्यासी था। उसकी इच्छा भी गन्धर्वसेनाको

देखनेकी हुई। वह अपने पाँचसौ शिष्योंको साथ लिये पटना आकर एक वगीचेमें ठहरा। समय गर्मीका था और वहुत दूरकी मंजिल करनेसे पाँचाल थक भी गया था। इस लिए वह अपने शिष्योंसे यह कहकर, कि कोई यहाँ आये तो मुझे जगा देना, एक वृक्षकी ठंडी छायामें सो गया। इधर तो यह सोया और उधर इसके वहुतसे विद्यार्थी शहर देखनेको चल दिये।

गन्धर्वसेनाको पांचालके आने और उसके पाण्डित्यकी खवर लगी। वह इसे देखनेको आई। उसने इसे वहुतसी वीणाओंको आस-पास रखे सोया देख कर समझा तो सही कि यह विद्वान् तो वहुत भारी है, पर जव उसके लाल वहते हुए मुँह पर उसकी नजर गई, तो उसे पांचालसे वड़ी नफरत हुई। उसने फिर उसकी ओर ऑख उठाकर भी न देखा और जिस झाड़के नीचे पांचाल सोया हुआ था, उसकी चन्दन, फूल वगैरहसे पूजा कर वह उसी समय अपने महल लौट आई। गन्धर्वसेनाके जाने वाद जव पांचालकी नींद खुली और उसने वृक्षको गन्ध-पुष्पादिसे पूजा हुआ पाया तो उसे कुछ सन्देह हुआ। एक विद्यार्थीसे इसका कारण पूछा तो उसने एक स्त्रीके आने और इस वृक्षकी पूजा कर उसके चले जानेका हाल पांचालसे कहा। पांचालने समझ लिया कि गंधर्वसेना आकर चली गई। तव उसने सोचा यह तो ठीक नहीं हुआ। सोनेने सव वना-वनाया खेल विगाड़ दिया। खैर, जो हुआ, अव पीछे लौट जाना भी ठीक नहीं। चलकर प्रयत्न जरूर करना चाहिए। इसके वाद वह राजाके

पास गया और प्रार्थना कर अपने रहनेको एक स्थान उसने माँगा। स्थान उसकी प्रार्थनाके अनुसार गन्धर्वसेनाके महलके पास ही मिला। कारण राजासे पांचालने कह दिया था कि आपकी राजकुमारी गानेमें बड़ी हुशियार है, ऐसा मैं सुनता हूँ। और मैं भी आपकी कृपासे थोड़ा बहुत गाना जानता हूँ। इस लिए मेरी इच्छा राजकुमारीका गाना सुनकर यह बात देखनेकी है कि इस विषयमें उसकी कैसी गति है। यही कारण था कि राजाने कुमारीके महलके समीप ही उसे रहनेकी आज्ञा देदी। अस्तु।

एक दिन पांचाल कोई रातके तीन चार बजेके समय वीणाको हाथमें लिए बड़ी मधुरतासे गाने लगा। उसके मधुर मनोहर गानेकी आवाज शान्त रात्रिमें आकाशको भेदती हुई गन्धर्वसेनाके कानोंसे जाकर टकराई। गन्धर्वसेना इस समय भरनींदमें थी। पर इस मनोमुग्ध करनेवाली आवाजको सुनकर वह सहसा चौंक कर उठ बैठी। न केवल उठ बैठनेहीसे उसे सन्तोष हुआ। वह उठकर उधर दौड़ी भी गई जिधरसे आवाज गूँजती हुई आ रही थी। इस बे-भान अवस्थामें दौड़ते हुए उसका पाँव खिसक गया और वह धड़ामसे आकर जमीन पर गिर पड़ी। देखते देखते उसका आत्माराम उसे छोड़ कर चला गया। इस विषयासक्तिसे उसे फिर संसारमें चिर समय तक रुलना पड़ा।

गन्धर्वसेना एक कर्णेन्द्रियके विषयकी लम्पटतासे जब अथाह संसार-सागरमें डूबी, तब जो पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें सदा काल मस्त रहते हैं, वे यदि डूबें तो इसमें नई

त्रात क्या ? इस लिए बुद्धिमानोंका कर्त्तव्य है कि वे इन दुःखोंके कारण विषयभोगोंको छोड़कर सुखके सच्चे स्थान जिनधर्मका आश्रय लें।

५०—भीमराजकी कथा।



केवलज्ञानरूपी नेत्रोंकी अपूर्व शोभाको धारण किये हुए श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर भीमराजकी कथा लिखी जाती है, जिसे सुनकर सत्पुरुषोंको इस दुःखमय संसारसे वैराग्य होगा।

कांपिल्य नगरमें भीम नामका एक राजा हो गया है। वह दुर्बुद्धि बड़ा पापी था। उसकी रानीका नाम सोमश्री था। इसके भीमदास नामका एक लड़का था। भीमने कुल-क्रमके अनुसार नन्दीश्वर पर्वमें मुनादी पिटवाई कि कोई इस पर्वमें जीवहिंसा न करे। राजाने मुनादी तो पिटवा दी, पर वह स्वयं महा लम्पटी था। मांस खाये बिना उसे एक दिन भी चैन नहीं पड़ता था। उसने इस पर्वमें भी अपने रसोइयेसे मांस पकानेको कहा। पर दूकानें सब बन्द थीं, अतः उसे बड़ी चिन्ता हुई। वह मांस लाये कहाँसे ? तब उसने एक युक्ति की। वह मसानसे एक बच्चेकी लाश उठा लाया और उसे पकाकर राजाको खिलाया। राजाको वह मांस बड़ा ही अच्छा लगा। तब उसने रसोइयेसे कहा— क्यों रे, आज यह मांस

और और दिनोंकी अपेक्षा इतना स्वादिष्ट क्यों है ? रसोइयेने डरकर सच्ची बात राजासे कह दी। राजाने तब उससे कहा—आजसे तू बालकोंका ही मांस पकाया करना।

राजाने तो झटसे कह दिया कि अबसे बालकोंका ही मांस खानेके लिए पकाया करना। पर रसोइयेको इसकी बड़ी चिन्ता हुई कि वह रोज रोज बालकोंको लाये कहाँसे ? और राजाज्ञाका पालन होना ही चाहिए। तब उसने यह प्रयत्न किया कि रोज शामके वक्त शहरके मुहल्लोंमें जाना और जहाँ बच्चे खेल रहे हों उन्हें मिठाईका लोभ देकर झटसे किसी एकको पकड़ कर उठा लाना। इसी तरह वह रोज रोज एक बच्चेकी जान लेने लगा। सच है, पापी लोगोंकी संगति दूसरोंको भी पापी बना देती है। जैसे भीमराजकी संगतिसे उसका रसोइया भी उसीके सरीखा पापी हो गया।

बालकोंको प्रतिदिन इस प्रकार एकाएक गायब होनेसे शहरमें बड़ी हलचल मच गई। सब इसका पता लगानेकी कोशिशमें लगे। एक दिन इधर तो रसोइया चुपकेसे एक गृहस्थके बालकको उठाकर चला कि पीछेसे उसे किसीने देख लिया। रसोइया झट-पट पकड़ लिया गया। उससे जब पूछा गया तो उसने सब बातें सच्ची सच्ची बतलादीं। यह बात मंत्रियोंके पास पहुँची। उन्होंने सलाह कर भीमदासको तो अपना राजा बनाया और भीमको रसोइयेके साथ शहरसे निकाल बाहर किया। सच है, पापियोंका कोई साथ नहीं देता। माता, पुत्र, भाई, बहिन, मित्र, मंत्री, प्रजा—आदि सब ही विरुद्ध होकर उसके शत्रु बन जाते हैं।

भीम यहाँसे चलकर अपने रसोइयेके साथ एक जंगलमें पहुँचा। यहाँ इसे बहुत ही भूख लगी। इसके पास खानेको कुछ नहीं था। तब यह अपने रसोइयेको ही मारकर खा गया। यहाँसे घूमता-फिरता यह मेखलपुर पहुँचा और वहाँ वासुदेवके हाथ मारा जाकर नरक गया।

अधर्मी पुरुष अपने ही पापकर्मोंसे संसार-समुद्रमें रुलते हैं। इस लिए सुखकी चाह करनेवाले बुद्धिवानोंको चाहिए कि वे सुखके स्थान जैनधर्मका पालन करें।

५१—नागदत्ताकी कथा।



देवों, विद्याधरों, चक्रवर्त्तियों और राजों महाराजों द्वारा पूजा किये गये जिनभगवान्के चरणोंको नमस्कार कर नागदत्ताकी कथा लिखी जाती है।

आभीर देशके नासक्य नगरमें सागरदत्त नामका एक सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम नागदत्ता था। इसके एक लड़का और एक लड़की थी। दोनोंके नाम थे श्रीकुमार और श्रीषेणा। नागदत्ताका चाल-चलन अच्छा न था। अपनी गौएँको चरानेवाले नन्द नामके गुवालके साथ उसकी आश्नाई थी। नागदत्ताने उसे एक दिन कुछ सिखा-सुझा दिया। सो वह बीमारीका बहाना बनाकर गौएँ चरानेको नहीं आया। तब बेचारे सागरदत्तको

स्वयं गौएँ चरानेको जाना पड़ा। जंगलमें गौओंको चरते छोड़कर वह एक झाड़के नीचे सो गया। पीछेसे नन्द गुवालने आकर उसे मार डाला। बात यह थी कि नागदत्ताने ही अपने पतिको मार डालनेके लिए उसे उसकाया था। और फिर परस्त्री-लम्पटी पुरुष अपने सुखमें आनेवाले विघ्नको नष्ट करनेके लिए कौन बुरा काम नहीं करता।

नागदत्ता और पापी नन्द इस प्रकार अनर्थ द्वारा अपने सिर पर एक बड़ा भारी पापका बोझा लादकर अपनी नीच मनोवृत्तियोंको प्रसन्न करने लगे। श्रीकुमार अपनी माताकी इस नीचतासे बे-हद कष्ट पाने लगा। उसे लोगोंको मुँह दिखाना तक कठिन हो गया। उसे बड़ी लज्जा आने लगी और इसके लिए उसने अपनी माताको बहुत कुछ कहा सुना भी। पर नागदत्ताके मन पर उसका कुछ असर नहीं हुआ। वह पिचली हुई नागिनकी तरह उसी पर दाव खाने लगी। उसने नाराज होकर श्रीकुमारको भी मार डालनेके लिए नन्दको उभारा। नन्द फिर बीमारीका बहाना बनाकर गौएँ चरानेको नहीं आया। तब श्रीकुमार स्वयं ही जानेको तैयार हुआ। उसे जाता देखकर उसकी बहिन श्रीषेणाने उसे रोककर कहा—भैया, तुम मत जाओ। मुझे माताका इसमें कुछ कपट दिखता है। उसने जैसे नन्द द्वारा अपने पिताजीको मरवा डाला है, वह तुम्हें भी मरवा डालनेके लिए दाँत पीस रही है। मुझे जान पड़ता है नन्द इसी लिए बहाना बनाकर आज गौएँ चरानेको नहीं आया। श्रीकुमार बोला—बहिन, तुमने मुझे

आज सावधान कर दिया यह बड़ा ही अच्छा किया। तुम मत घबराओ। मैं अपनी रक्षा अच्छी तरह कर सकूँगा। अब मुझे रंचमात्र भी डर नहीं रहा। और मैं तुम्हारे कहनेसे नहीं भी जाता, पर इससे माताको अधिक सन्देह होता और वह फिर कोई दूसरा ही यत्न मुझे मरवानेका करती। क्योंकि वह चुप तो कभी बैठी ही न रहती। आज बहुत ही अच्छा मौका हाथ लगा है। इस लिए मुझे जाना ही उचित है। और जहाँ तक मेरा बस चलेगा मैं जड़मूलसे उस अंकुरको ही उखाड़कर फेंक दूँगा, जो हमारी माताके अनर्थका मूल कारण है। बहिन, तुम किसी तरहकी चिन्ता मनमें न लाओ। अनाथोंका नाथ अपना भी मालिक है।

श्रीकुमार बहिनको समझा कर जंगलमें गाँएँ चरानेको गया। उसने वहाँ एक बड़े लकड़ेको वस्त्रोंसे ढककर इस तरह रख दिया कि वह दूसरोंको सोया हुआ मनुष्य जान पड़ने लगे और आप एक ओर छिप गया। श्रीषेणाकी बात सच निकली। नन्द नंगी तलवार लिए दबे पाँव उस लकड़के पास आया और तलवार उठा कर उसने उस पर दे मारी। इतनेमें पीछेसे आकर श्रीकुमारने उसकी पीठमें इस जोरकी एक भालेकी जमाई कि भाला आर-पार हो गया और नन्द देखते देखते तड़फड़ाकर मर गया। इधर श्रीकुमार गौओंको लेकर घर लौट आया। आज गाँएँ दोहनेके लिए भी श्रीकुमार ही गया। उसे देखकर नागदत्ताने उससे पूछा—क्यों कुमार, नन्द नहीं आया? मैंने तो तेरे ढूँढ़नेके लिए उसे जंगलमें भेजा था। क्या तूने उसे देखा है कि वह

कहाँ पर है? श्रीकुमारसे तब न रहा गया और गुस्सेमें आकर उसने कह डाला-माता, मुझे तो मालूम नहीं कि नन्द कहाँ है। पर मेरा यह भाला अवश्य जानता है। नागदत्ताकी आँखें जैसे ही उस खूनसे भरे हुए भाले पर पड़ीं तो उसकी छाती धड़क उठी। उसने समझ लिया कि इसने उसे मार डाला है। अब तो क्रोधसे वह भी भर्रा गई। उसके सामने एक मूसला रक्खा था। उस पापिनीने उसे ही उठाकर श्रीकुमारके सिर पर इस जोरसे मारा कि सिर फटकर तत्काल वह भी धराशायी हो गया। अपने भाईकी इस प्रकार हत्या हुई देखकर श्रीषेणा दौड़ी हुई आई और नागदत्ताके हाथसे झटसे मूसला छुड़ाकर उसने उसके सिर पर एक जोरकी मार जमाई, जिससे वह भी अपने कियेकी योग्य सजा पा गई। नागदत्ता मरकर पापके फलसे नरक गई। सच है, पापीको अपना जीवन पापमें ही बिताना पड़ता है। नागदत्ता इसका उदाहरण है। उस दुराचारको धिक्कार, उस कामको धिक्कार, जिसके वश मनुष्य महा पापकर्म कर और फिर उसके फलसे दुर्गतिमें जाता है। इस लिए सत्पुरुषोंको उचित है कि वे जिनेन्द्र भगवान्‌के उपदेश किये, सबको प्रसन्न करनेवाले और सुख-प्राप्तिके साधन ब्रह्मचर्य व्रतका सदा पालन करें।

५२-द्वीपायन मुनिकी कथा।



संसारके स्वामी और अनन्त सुखोंके देनेवाले श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर द्वीपायन मुनिका चरित लिखा जाता है, जैसा पूर्वाचार्योंने उसे लिखा है।

सोरठदेशमें द्वारका प्रसिद्ध नगरी है। नेमिनाथ भगवान्‌का जन्म यहीं हुआ है। इससे यह बड़ी पवित्र समझी जाती है। जिस समयकी यह कथा लिखी जाती है उस समय द्वारकाका राज्य नवमे नारायण बलभद्र और वासुदेव करते थे। एक दिन ये दोनों राज-राजेश्वर गिरनार पर्वत पर नेमिनाथ भगवान्‌की पूजा-वन्दना करनेको गये। भगवान्‌की इन्होंने भक्तिपूर्वक पूजा की और उनका उपदेश सुना। उपदेश सुनकर इन्हें बहुत प्रसन्नता हुई। इसके बाद बलभद्रने भगवान्‌से पूछा—हे संसारके अकारण बन्धो, हे केवलज्ञानरूपी नेत्रके धारक, हे तीन जगत्के स्वामी, हे करुणाके समुद्र, और हे लोकालोकके प्रकाशक, कृपाकर कहिए, कि वासुदेवको पुण्यसे जो संपत्ति प्राप्त है वह कितने समय तक ठहरेगी? भगवान् बोले—बारह वर्ष पर्यन्त वासुदेवके पास रहकर फिर नष्ट हो जायगी। इसके सिवा मद्य-पानसे यदुवंशका समूल नाश होगा, द्वारका द्वीपायन मुनिके सम्बन्धसे जलकर खाक हो जायगी, और बलभद्र, तुम्हारी इस पुरी द्वारा जरत्कुमारके हाथोंसे श्रीकृ-

ष्णकी मृत्यु होगी। भगवान्के द्वारा यदुवंश, द्वारका और वासुदेवका भविष्य सुनकर बलभद्र द्वारका आये। उस समय द्वारकामें जितनी शराब थी, उसे उन्होंने गिरनार पर्वतके जंगलोंमें डलवा दिया। उधर द्वीपायन अपने सम्बन्धसे द्वारकाका भस्म होना सुन मुनि हो गये और द्वारकाको छोड़कर कहीं अन्यत्र चल दिये। मूर्ख लोग न समझकर कुछ यत्न करें, पर भगवान्का कहा कभी झूठ नहीं होता। बलभद्रने शराबको तो फिकवा ही दिया था। अब एक छुरी और उनके पास रह गई थी, जिसके द्वारा भगवान्ने श्रीकृष्णकी मौत होना बतलाई थी। बलभद्रने उसे भी खूब घिस-घिसाकर समुद्रमें फिकवा दिया। कर्मयोगसे उस छुरीको एक मच्छ निगल गया और वही मच्छ फिर एक मल्लाहकी जालमें आ फँसा। उसे मारने पर उसके पेटसे वह छुरी निकली और धीरे धीरे वह जरत्कुमारके हाथ तक भी पहुँच गई। जरत्कुमारने उसका बाणके लिए फला बनाकर उसे अपने बाण पर लगा लिया।

बारह वर्ष हुए नहीं, पर द्वीपायनको अधिक महीनोंका खयाल न रहनेसे बारह वर्ष पूरे हुए समझ वे द्वारकाकी ओर लौट आकर गिरनार पर्वतके पास ही कहीं ठहरे और तपस्या करने लगे। पर तपस्या द्वारा कर्मोंका ऐसा योग कभी नष्ट नहीं किया जा सकता। एक दिनकी बात है कि द्वीपायन मुनि आतापन योग द्वारा तपस्या कर रहे थे। इसी समय मानों पापकर्मों द्वारा उभारे हुए यादवोंके कुछ लड़के गिरनार पर्वतसे खेल-कूद कर लौट रहे थे। रास्तेमें इन्हें

वहुत जोरकी प्यास लगी। यहाँ तक कि ये वेचैन.हो गये। इनके लिए घर आना मुश्किल पड़ गया। आते आते इन्हें पानीसे भरा एक गढ़ा देख पड़ा। पर वह पानी नहीं था; किन्तु वलभद्रने जो शराव ढुलवा दी थी वही वहकर इस गढ़ेमें इकट्ठी हो गई थी। इस शरावको ही उन लड़कोंने पानी समझ पी लिया। शराव पीकर थोड़ी देर हुई होगी कि उसने इन पर अपना रंग जमाना शुरू किया। नशेसे ये सुध-वुध भूलकर उन्मत्तकी तरह कूदते-फाँदते आने लगे। रास्तेमें इन्होंने द्वीपायन मुनिको ध्यान करते देखा। मुनिकी रक्षाके लिए वलभद्रने उनके चारों ओर एक पत्थरोंका कोटसा वनवा दिया था। एक ओर उसके आने-जानेका दरवाजा था। इन शैतान लड़कोंने मजाकमें आ उस जगहको पत्थरोंसे पूर दिया। सच है, शराव पीनेसे सव सुध-वुध भूलकर वड़ी वुरी हालत हो जाती है। यहाँ तक कि उन्मत्त पुरुष अपनी माता वहिनोंके साथ भी वुरी वासनाओंको प्रगट करनेमें नहीं लजाता है। शराव पीनेवाले पापी लोगोंको हित अहितका कुछ ज्ञान नहीं रहता। इन लड़कोंकी शैतानीका हाल जव वलभद्रको मालूम हुआ तो वे वासुदेवको लिये दौड़े दौड़े मुनिके पास आये और उन पत्थरोंको निकाल कर उनसे उन्होंने क्षमाकी प्रार्थना की। इस क्षमा करानेका मुनि पर कुछ असर नहीं हुआ। उनके प्राण निकलनेकी तैयारी कर रहे थे। मुनिने सिर्फ दो उँगुलियाँ उन्हें वतलाईं। और थोड़ी ही देरवाद वे मर गये। क्रोधसे मर कर तपस्याके फलसे वे व्यन्तर हुए। इन्होंने कुअवधि द्वारा अपने व्यन्तर होनेका कारण

जाना तो इन्हें उन लड़कोंके उपद्रवकी सब बातें ज्ञात हो गईं। यह देख व्यन्तरको बड़ा क्रोध आया। उसने उसी समय द्वारकामें आकर आग लगा दी। सारी द्वारका धन-जन सहित देखते देखते खाक हो गई। सिर्फ वलभद्र और वासुदेव ही बच पाये, जिनके लिए कि द्वीपायनने दो उँगुलियाँ बतलाईं थीं। सच है, क्रोधके वश हो मूर्ख पुरुष सब कुछ कर बैठते हैं। इस लिए भव्यजनोंको शान्ति-लाभके लिए क्रोधको कभी पास भी न फटकने देना चाहिए। उस भयंकर अग्नि लीला-को देखकर वलभद्र और वासुदेवका भी जी ठिकाने न रहा। ये अपना शरीर मात्र लेकर भाग निकले। यहाँसे निकल कर ये एक घोर जंगलमें पहुँचे। सच है, पापका उदय आने पर सब धन-दौलत नष्ट होकर जी बचाना तक मुश्किल पड़ जाता है। जो पलभर पहले सुखी रहा हो वह दूसरे ही पलमें पापके उदयसे अत्यन्त दुखी हो जाता है। इस लिए जिन लोगोंके पास बुद्धिरूपी धन है, उन्हें चाहिए कि वे पापके कारणोंको छोड़कर पुण्यके कामोंमें अपने हाथोंको बटावें। पात्र-दान, जिन-पूजा, परोपकार, विद्या-प्रचार, शील, व्रत, संयम आदि ये सब पुण्यके कारण हैं। वलभद्र और वासुदेव जैसे ही उस जंगलमें आये, वासुदेवको यहाँ अत्यन्त प्यास लगी। प्यासके मारे वे गश खाकर गिर पड़े। वलभद्र उन्हें ऐसे ही छोड़कर जल लाने चले गये। इधर जरत्कुमार न जाने कहाँसे इधर ही आ निकला। उसने श्रीकृष्णको हरिणके भ्रमसे वाण द्वारा वेध दिया। पर जब उसने आकर देखा कि वह हरिण नहीं, किन्तु श्रीकृष्ण है तब तो उसके

दुःखका कोई पार न रहा। पर अब वह कुछ करने-धरनेको लाचार था। वह बलभद्रके भयसे फिर उसी समय वहाँसे भाग दिया। इधर बलभद्र जब पानी लेकर लौटे और उन्होंने श्रीकृष्णकी यह दशा देखी तब उन्हें जो दुःख हुआ वह लिखकर नहीं बताया जा सकता। यहाँ तक कि वे भ्रातृ-प्रेमसे सिड़ीसे हो गये और श्रीकृष्णको कन्धों पर उठाये महीनों पर्वतों और जंगलोंमें घूमते फिरे। बलभद्रकी यह हालत देख उनके पूर्व जन्मके मित्र एक देवको बहुत खेद हुआ। उसने आकर इन्हें समझा-बुझा कर शान्त किया और इनसे भाईका दहन-संस्कार करवाया। संस्कार कर जैसे ही ये निवृत्त हुए, इन्हें संसारकी दशा पर बड़ा वैराग्य हुआ। ये उसी समय सब दुःख, शोक, माया-ममता छोड़-कर योगी हो गये। इन्होंने फिर पर्वतों पर खूब दुस्सह तप किया। अन्तमें धर्मध्यान सहित मरण कर ये माहेन्द्र स्वर्गमें देव हुए। वहाँ ये प्रति दिन नित नये और मूल्यवान् सुन्दर सुन्दर वस्त्राभूषण पहरते हैं, अनेक देव-देवी इनकी आज्ञामें सदा हाजिर रहते हैं, नाना प्रकारके उत्तमसे उत्तम स्वर्गीय भोगोंको ये भोगते हैं, विमान द्वारा कैलास, सम्मेद-शिखर, हिमालय, गिरनार, आदि पर्वतोंकी यात्रा करते हैं, और विदेह क्षेत्रमें जाकर साक्षाज्जिनभगवान्की पूजा-भक्ति करते हैं। मतलब यह कि पुण्यके उदयसे उन्हें सब कुछ सुख प्राप्त है और वे आनन्द-उत्सवके साथ अपना समय विताते हैं।

जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप इन तीन महान रत्नोंसे भूषित हैं, जो जिन भगवान्के चर-

णोंके सच्चे भक्त हैं, चारित्र धारण करनेवालोंमें जो सबसे ऊँचे हैं, जिनकी परम पवित्र बुद्धि गुणरूपी रत्नोंसे शोभाको धारण किये हैं, और जो ज्ञानके समुद्र हैं, ऐसे बलभद्र मुनिराज मुझे वह सुख, वह शांति और वह मंगल दें, जिससे मन सदा प्रसन्न रहे।

५३-शराब पीनेवालेकी कथा।



व सुखोंके देनेवाले सर्वज्ञ भगवान्को नमस्कार कर शराब पीकर नुकसान उठानेवाले एक ब्राह्मणकी कथा लिखी जाती है। वह इस लिए कि इसे पढ़कर सर्व साधारण लाभ उठावें।

वेद और वेदांगोंका अच्छा विद्वान् एकपात नामका एक संन्यासी एकचक्रपुरसे चलकर गंगानदीकी यात्रार्थ जा रहा था। रास्तेमें जाता हुआ यह दैवयोगसे विन्ध्याटवीमें पहुँच गया। यहाँ जवानीसे मस्त हुए कुछ चाण्डाल लोग दारु पी-पीकर एक अपनी जातिकी स्त्रीके साथ हँसी-मजाक करते हुए नाच-कूद रहे थे, गा रहे थे और अनेक प्रकारकी कुचेष्टाओंमें मस्त हो रहे थे। अभागा संन्यासी इस टोलीके हाथ पड़ गया। इन लोगोंने उसे आगे न जाने देकर कहा—अहा! आप भले आये! आपहीकी हम लोगोंमें कसर थी। आइए, मांस खाइए, दारु पीजिए और जिन्दगीका सुख देनेवाली इस खूब सूरत औरतका मजा लूटिए।

महाराजजी, आज हमारे लिए बड़ी खुशीका दिन है और ऐसे समयमें जब आप स्वयं यहाँ आ गये तब तो हमारा यह सब करना-धरना सफल हो गया। आप सरीखे महात्माओंका आना सहजमें थोड़े ही होता है और फिर ऐसे खुशीके समयमें! लीजिए, अब देर न कर हमारी प्रार्थनाको पूरी कीजिए। इनकी बातें सुनकर बचारे संन्यासीके तो होश उड़ गये। वह इन शराबियोंको कैसे समझावे, क्या कहे, और यह कुछ कहे-सुने भी तो वे माननेवाले कब? यह बड़े संकटमें पड़ गया। तब भी उसने इन लोगोंसे कहा—भाइयो, सुनो—एक तो मैं ब्राह्मण और उस पर संन्यासी, फिर बतलाओ मैं मांस-मदिरा कैसे खा-पी सकता हूँ? इस लिए तुम मुझे जाने दो। उन चाण्डालोंने कहा—महाराज कुछ हो, हम तो आपको कभी बिना कुछ प्रसाद पाये नहीं जाने देंगे। आपसे हम यहाँ तक कहे देते हैं, कि यदि आप अपनी खुशीसे खायँगे तब तो अच्छा ही है, नहीं तो फिर जिस-तरह बनेगा हम आपको खिलाकर ही छोड़ेंगे। बिना हमारा कहना किये आप जीतेजी गंगाजी नहीं देख सकते। अब तो संन्यासीजी घबराये। वे कुछ विचारमें थे, इतनेमें उन्हें स्मृतियोंके कुछ नीचे लिखे प्रमाण-वाक्य याद आ गये—

"जो मनुष्य तिल या सरसोंके बराबर मांस खाता है वह नरकोंमें तब तक दुःख भोगा करेगा, जब तक कि पृथिवी पर चन्द्र और सूर्य रहेंगे। अर्थात् अधिक मांस खानेवाला नहीं। ब्राह्मण लोग यदि चाण्डालीके साथ विषय-सेवन करें तो उनकी 'काष्ठभक्षण' नामके प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि हो

ओर वत्सकावती नामका एक देश है। वत्सकावतीकी वहुत पुरानी राजधानी पृथिवीनगरके राजाका नाम जयसेन था। जयसेनकी रानी जयसेना थी। इसके दो लड़के हुए। इनके नाम थे रतिपेण और धृतिपेण। दोनों भाई बड़े सुन्दर और गुणवान् थे। कालकी कराल गतिसे रतिपेण अचानक मर गया। जयसेनको इसके मरनेका वड़ा दुःख हुआ। और इसी दुःखके मारे वे धृतिपेणको राज्य देकर मारुत और मिथुन नामके राजोंके साथ यशोधर मुनिके पास दीक्षा ले साधु हो गये। वहुत दिनों तक इन्होंने तपस्या की। फिर संन्यास सहित शरीर छोड़ स्वर्गमें ये महावल नामके देव हुए। इनके साथ दीक्षा लेनेवाला मारुत भी इसी स्वर्गमें मणिकेतु नामक देव हुआ, जो कि भगवान्के चरण-कमलोंका भौंरा था—अत्यन्त भक्त था। ये दोनों देव स्वर्गकी सम्पत्ति प्राप्त कर वहुत प्रसन्न हुए। एक दिन इन दोनोंने विनोद करते करते धर्म-प्रेमसे एक प्रतिज्ञा की कि जो हम दोनोंमें पहले मनुष्य-जन्म धारण करे तव स्वर्गमें रहनेवाले देवका कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह मनुष्य-लोकमें जाकर उसे समझावे और संसारसे उदासीनता उत्पन्न करा कर जिनदीक्षाके सन्मुख करे।

महावलकी आयु वाईस सागरकी थी। तव तक उसने खूव मनमाना स्वर्गका सुख भोगा। अन्तमें आयु पूरी कर वचे हुए पुण्य-प्रभावसे वह अयोध्याके राजा समुद्रविजयकी रानी सुवलाके सगर नामका पुत्र हुआ। इसकी उमर सत्तरलाख पूर्व वर्षोंकी थी। इसके सोनेके समान चमकते

हुए शरीरकी ऊँचाई साढ़े चारसौ धनुष्य अर्थात् १५७५ हाथोंकी थी। संसारकी सुन्दरताने इसीमें आकर अपना डेरा दिया था—यह बड़ा ही सुन्दर था। जो इसे देखता उसके नेत्र बड़े आनन्दित होते। सगरने राज्यश्री प्राप्त कर छहों खण्ड पृथिवी विजय की। अपनी भुजाओंके बल इसने दूसरे चक्रवर्त्तीका मान प्राप्त किया। सगर चक्रवर्त्ती हुआ, पर इसके साथ वह अपना धर्म-कर्म भूल न गया था। इसके साठ हजार पुत्र हुए। इसे कुटुम्ब, धन-दौलत, शरीर-सम्पत्ति आदि सभी सुख प्राप्त थे। समय इसका खूब ही सुखके साथ बीतता था। सच है, पुण्यसे जीवोंको सभी उत्तम उत्तम सम्पदायें प्राप्त होती हैं। इस लिए बुद्धिमानोंको उचित है कि वे जिनभगवान्के उपदेश किये पुण्यमार्गका पालन करें।

इसी अवसरमें सिद्धवनमें चतुर्मुख महामुनिको केवलज्ञान हुआ। स्वर्गके देव, विद्याधर और राजे-महाराजे उनकी पूजाके लिए आये। सगर भी भगवान्के दर्शन करनेको आया था। सगरको आया देख मणिकेतुने उससे कहा—क्यों राजराजेश्वर, क्या अच्युत स्वर्गकी बात याद है? जहाँ कि तुमने और मैंने प्रेमके वश हो प्रतिज्ञा की थी कि जो हम दोनोंमेंसे पहले मनुष्य जन्म ले उसे स्वर्गका देव जाकर समझावे और संसारसे उदासीन कर तपस्याके सम्मुख करे। अब तो आपने बहुत समय तक राज्य-सुख भोग लिया। अब तो इसके छोड़नेका यत्न कीजिए। क्या आप नहीं जानते कि ये विषय-भोग दुःखके कारण और

संसारमें घुमानेवाले हैं? राजन्, आप तो स्वयं बुद्धिमान् हैं। आपको मैं क्या अधिक समझा सकता हूँ। मैंने तो सिर्फ अपनी प्रतिज्ञा-पालनके लिए आपसे इतना निवेदन किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप इन क्षण-भंगुर विषयोंसे अपनी लालसाको कम करके जिनभगवान्‌का परम पवित्र तपो-मार्ग ग्रहण करेंगे और बड़ी सावधानीके साथ मुक्ति कामिनीके साथ ब्याहकी तैयारी करेंगे। मणिकेतुने उसे बहुत कुछ समझाया। पर पुत्रमोही सगरको संसारसे नाममात्रके लिए भी उदासीनता न हुई। माणिकेतुने जब देखा कि अभी यह पुत्र, स्त्री, धन-दौलतके मोहमें खूब फँस रहा है। अभी इसे संसारसे—विषयभोगोंसे उदासीन बना देना कठिन ही नहीं किन्तु एक प्रकार असंभवको संभव करनेका यत्न है। अस्तु, फिर देखा जायगा। यह विचार कर मणिकेतु अपने स्थान चला गया। सच है, काललब्धिके बिना कल्याण हो भी तो नहीं सकता।

कुछ समयके बाद मणिकेतुके मनमें फिर एक बार तरंग उठी कि अब किसी दूसरे प्रयत्न द्वारा सगरको तपस्याके सम्मुख करना चाहिए। तब वह चारण मुनिका वेष लेकर, जो कि स्वर्ग-मोक्षके सुखका देनेवाला है, सगरके जिन मन्दिरमें आया और भगवान्‌के दर्शन कर वहीं ठहर गया। उसकी नई उमर और सुन्दरताको देखकर सगरको बड़ा अचंभा हुआ। उसने मुनिरूप धारण करनेवाले देवसे पूछा, मुनिराज, आपकी इस नई उमरने, जिसने कि संसारका अभी कुछ सुख नहीं देखा, ऐसे कठिन योगको किस लिए

धारण किया? मुझे तो आपको योगी हुए देखकर बड़ा ही आश्चर्य हो रहा है। तब देवने कहा—राजन्, तुम कहते हो, वह ठीक है। पर मेरा विश्वास है कि संसारमें सुख है ही नहीं। जिधर मैं आँखें खोलकर देखता हूँ मुझे दुःख या अशान्ति ही देख पड़ती है। यह जवानी बिजलीकी तरह चमककर पलभरमें नाश होनेवाली है। यह शरीर, जिसे कि तुम भोगोंमें लगानेको कहते हो, महा अपवित्र है। ये विषय-भोग, जिन्हें तुम सुखरूप समझते हो, सर्पके समान भयंकर हैं, और यह संसाररूपी समुद्र अथाह है, नाना तरहके दुःखरूपी भयंकर जलजीवोंसे भरा हुआ है और मोह जालमें फँसे हुए जीवोंके अत्यन्त दुस्तर है। तब जो पुण्यसे यह मनुष्य देह मिला है, इसे इस अथाह समुद्रमें बहने देना या जिनेन्द्रभगवान्के द्वारा बतलाये इस अथाह समुद्रके पार होनेके साधन तपरूपी जहाज द्वारा उसके पार पहुँचा देना। मैं तो इसके लिए यही उचित समझता हूँ कि, जब संसार असार है और उसमें सुख नहीं है, तब संसारसे पार होनेका उपाय करना ही कर्त्तव्य और दुर्लभ मनुष्य-देहके प्राप्त करनेका फल है। मैं तो तुम्हें भी यही सलाह दूँगा कि तुम इस नाशवान् माया-ममताको छोड़ छाड़कर कभी नाश न होनेवाली लक्ष्मीकी प्राप्तिके लिए यत्न करो। माणिकेतुने इसके सिवा और भी बहुत कहने सुनने या समझानेमें कोई कसर न की। पर सगर सब कुछ जानता हुआ भी पुत्र-प्रेमके वश हो संसारको न छोड़ सका। मणिकेतुको इससे बड़ा दुःख हुआ कि सगरकी दृष्टिमें अभी संसारकी तुच्छता नजर न

आई और वह उलटा उसीमें फँसता जाता है। लाचार हो वह स्वर्ग चला गया।

एक दिन सगर राजसभामें सिंहासन पर बैठे हुए थे। इतनेमें उनके पुत्रोंने आकर उनसे सविनय प्रार्थना की—पूज्यपाद पिताजी, उन वीर क्षत्रिय-पुत्रोंका जन्म किसी कामका नहीं—व्यर्थ है, जो कुछ काम न कर पड़े पड़े खाते-पीते और ऐशोआराम उड़ाया करते हैं। इस लिए आप कृपाकर हमें कोई काम बतलाइए। फिर वह कितना ही कठिन या एक बार वह असाध्य ही क्यों न हो, उसे हम करेंगे। सगरने उन्हें जवाब दिया—पुत्रो, तुमने कहा वह ठीक है और तुमसे वीरोंको यही उचित भी है। पर अभी मुझे कोई कठिन या सीधा ऐसा काम नहीं देख पड़ता जिसके लिए मैं तुम्हें कष्ट दूँ। और न छहों खण्ड पृथिवीमें मेरे लिए कुछ असाध्य ही है। इस लिए मेरी तो तुमसे यही आज्ञा है कि पुण्यसे जो यह धन-सम्पत्ति प्राप्त है, इसे तुम भोगो। इस दिन तो ये सब लड़के पिताकी बातका कुछ जवाब न देकर चुपचाप इस लिए चले गये कि पिताकी आज्ञा तोड़ना ठीक नहीं। परन्तु इनका मन इससे रहा अप्रसन्न ही।

कुछ दिन बीतने पर एक दिन ये सब फिर सगरके पास गये और उन्हें नमस्कार कर बोले—पिताजी, आपने जो आज्ञा की थी, उसे हमने इतने दिनों उठाई, पर अब हम अत्यन्त लाचार हैं। हमारा मन यहाँ बिलकुल नहीं लगता। इस-लिए आप अवश्य कुछ काममें हमें लगाइए। नहीं तो

हमें भोजन न करनेको भी बाध्य होना पड़ेगा। सगरने जब इनका अत्यन्त ही आग्रह देखा तो उसने इनसे कहा— मेरी इच्छा नहीं कि तुम किसी कष्टके उठानेको तैयार हो। पर जब तुम किसी तरह माननेके लिए तैयार ही नहीं हो, तो अस्तु, मैं तुम्हें यह काम बताता हूँ कि श्रीमान् भरत सम्राटने कैलास पर्वत पर चौवीस तीर्थंकरोंके चौवीस मन्दिर बनवाये हैं। वे सब सोनेके हैं। उनमें बे-सुमार धन खर्च किया गया है। उनमें जो अर्हन्त भगवान्‌की पवित्र प्रतिमाएँ हैं वे रत्नमयी हैं। उनकी रक्षा करना बहुत जरूरी है। इस लिए तुम जाओ और कैलासके चारों ओर एक गहरी खाई खोदकर उसे गंगाका प्रवाह लाकर भरदो। जिससे कि फिर दुष्ट लोग मन्दिरोंको कुछ हानि न पहुँचा सके। सगरके सब ही पुत्र पिताजीकी इस आज्ञासे बहुत खुश हुए। वे उन्हें नमस्कार कर आनन्द और उत्साहके साथ अपने कामके लिए चल पड़े। कैलास पर पहुँच कर कई वर्षोंके कठिन परिश्रम द्वारा उन्होंने चक्रवर्त्तीके दण्डरत्नकी सहायतासे अपने कार्यमें सफलता प्राप्त करली।

अच्छा, अब उस मणिकेतुकी बात सुनिए—उसने सगरको संसारसे उदासीन कर योगी बनानेके लिए दोबार यत्न किया, पर दोनों ही बार उसे निराश हो जाना पड़ा। अबकी बार उसने एक बड़ा ही भयंकर काण्ड रचा। जिस समय सगरके ये साठ हजार लड़के खाई खोदकर गंगाका प्रवाह लानेको हिमवान पर्वत पर गये और इन्होंने दण्ड-रत्न द्वारा पर्वत फोड़नेके लिए उस पर एक चोट मारी उस समय माणिकेतुने

एक बड़े भारी और महाविषधर सर्पका रूप धर, जिसकी कि फुंकार मात्रसे कोसोंके जीव-जन्तु भस्म हो सकते थे, अपनी विषैली हवा छोड़ी। उससे देखते देखते वे सब ही जलकर खाक हो गये। सच है, अच्छे पुरुष दूसरेका हित करनेके लिए कभी कभी तो उसका अहित कर उसे हितकी ओर लगाते हैं। मंत्रियोंको इनके मरनेकी बात मालूम हो गई। पर उन्होंने राजासे इस लिए नहीं कहा कि वे ऐसे महान् दुःखको न सह सकेंगे। तब मणिकेतु ब्राह्मणका रूप लेकर सगरके पास पहुँचा और बड़े दुःखके साथ रोता रोता बोला—राजाधिराज, आप सरीखे न्यायी और प्रजाप्रिय राजाके रहते मुझे अनाथ हो जाना पड़े, मेरी आँखोंके एक मात्र तारेको पापी लोग जबरदस्ती मुझसे छुड़ा लेजायँ, मेरी सब आशाओं पर पानी फेर कर मुझे द्वार द्वारका भिखारी बना जायँ और मुझे रोता छोड़ जायँ तो इससे बढ़कर दुःखकी और क्या बात होगी! प्रभो, मुझे आज पापियोंने बे-मौत मार डाला है। मेरी आप रक्षा कीजिए—अशरण-शरण, मुझे बचाइए! सगरने उसे इस प्रकार दुःखी देखकर धीरज दिया और कहा—ब्राह्मण देव, घबराइए मत, वास्तवमें बात क्या है उसे कहिए। मैं तुम्हारे दुःख दूर करनेका यत्न करूँगा। ब्राह्मणने कहा—महाराज क्या कहूँ? कहते छाती फटी जाती है, मुहँसे शब्द नहीं निकलता। यह कहकर वह फिर रोने लगा। चक्रवर्त्तीको इससे बड़ा दुःख हुआ। उसके अत्यन्त आग्रह करने पर मणिकेतु बोला—अच्छा तो महाराज, मेरी दुःख कथा सुनिए—मेरे एक मात्र लड़का था।

मेरी सब आशा उसी पर थी। वही मुझे खिलाता-पिलाता था। पर मेरे भाग्य आज फूट गये। उसे एक काल नामका लुटेरा मेरे हाथोंसे जबरदस्ती छीन भागा। मैं बहुत रोया-कलपा, दयाकी मैंने उससे भीक माँगी, बहुत आर्जू-मिन्नत की, पर उस पापी चाण्डालने मेरी ओर आँख उठा कर भी न देखा। राजराजेश्वर, आपसे मेरी हाथ जोड़कर प्रार्थना है कि आप मेरे पुत्रको उस पापीसे छुड़ा ला दीजिए। नहीं तो मेरी जान न बचेगी। सगरको काल-लुटेरेका नाम सुनकर कुछ हँसी आ गई। उसने कहा—महाराज, आप बड़े भोले हैं। भला, जिसे काल ले जाता है—जो मर जाता है—वह फिर कभी जीता हुआ है क्या? ब्राह्मण देव, काल किसीसे नहीं रुस सकता। वह तो अपना काम किये ही चला जाता है। फिर चाहे कोई बूढ़ा हो, या जवान हो, या बालक, सबके प्रति उसके समान भाव हैं। आप तो अभी अपने लड़केकें लिए रोते हैं, पर मैं कहता हूँ, कि वह तुम पर भी बहुत जल्दी सवारी करनेवाला है। इस लिए यदि आप यह चाहते हों कि मैं उससे रक्षा पा सकूं, तो इसके लिए यह उपाय कीजिए कि आप दीक्षा लेकर मुनि हो जायँ और अपना आत्म-हित करें। इसके सिवा काल पर विजय पानेका और कोई दूसरा उपाय नहीं है। सब कुछ सुन-सुनाकर ब्राह्मणने कुछ लाचारी बतलाते हुए कहा कि यदि यह बात सच है और वास्तवमें कालसे कोई मनुष्य विजय नहीं पा सकता तो लाचारी है। अस्तु, हाँ एक बात तो राजाधिराज, मैं आपसे कहना ही भूल गया और वह बड़ी ही जरूरी बात थी। महा-

राज, इस भूलकी मुझ गरीब पर क्षमा कीजिए। बात यह है कि मैं रास्तेमें आता आता सुनता आ रहा हूँ, लोग परस्परमें बातें करते हैं कि हाय! बड़ा बुरा हुआ जो अपने महाराजके लड़के कैलास पर्वतकी रक्षाके लिए खाई खोदनेको गये थे, वे सबके सब ही एक साथ मर गये! ब्राह्मणका कहना पूरा भी न हुआ था कि सगर एक दम गश खाकर गिर पड़े। सच है, ऐसे भयंकर दुःख-समाचारसे किसे गश न आ जायगा–कौन मूर्छित न होगा। उसी समय उपचारों द्वारा सगर होशमें लाये गये। इसके बाद मौका पाकर मणिकेतुने उन्हें संसारकी दशा बतलाकर खूब उपदेश किया। अबकी बार वह सफल प्रयत्न हो गया। सगरको संसारकी इस क्षण-भंगुर दशा पर बड़ा ही वैराग्य हुआ। उन्होंने भगीरथको राज देकर और सब माया-ममता छुड़ाकर दृढधर्म केवली द्वारा दीक्षा ग्रहण करली, जो कि संसारका भटकना मिटानेवाली है।

सगरको दीक्षा लिए बाद ही मणिकेतु कैलास पर्वत पर पहुँचा और उन लड़कोंको माया-मौतसे सचेत कर बोला—सगर सुतो, जब आपकी मृत्युका हाल आपके पिताने सुना तो उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ। और इसी दुःखके मारे वे संसारकी विनाशीक लक्ष्मीको छोड़-छाड़कर साधु हो गये। मैं आपके कुलका ब्राह्मण हूँ। महाराजके दीक्षा लेजानेकी खबर पाकर आपको ढूँढ़नेको निकला था। अच्छा हुआ जो आप मुझे मिल गये। अब आप राजधानीमें जल्दी चलें। ब्राह्मणरूपधारी मणिकेतु द्वारा पिताका अपने लिए दीक्षित

हो जाना सुनकर सगरसुतोंने कहा-महाराज, आप जायें। हम लोग अब घर नहीं जायँगे। जिस लिए पिताजी सब राज्य-पाठ छोड़कर साधु हो गये तब हम किस मुँहसे उस राजको भोग सकते हैं? हमसे इतनी कृतघ्नता न होगी, जो पिताजीके प्रेमका बदला हम ऐशोआराम भोगकर दें। जिस मार्गको हमारे पूज्य पिताजीने उत्तम समझकर ग्रहण किया है वही हमारे लिए भी शरण है। इस लिए कृपाकर आप हमारे इस समाचारको भैया भगीरथसे जाकर कह दीजिए कि वह हमारे लिए कोई चिन्ता न करे। ब्राह्मणसे इस प्रकार कहकर वे सब भाई दृढ़धर्म भगवान्‌के समवशरणमें आये और पिताकी तरह दीक्षा लेकर साधु बन गये।

भगीरथको भाइयोंका हाल सुनकर बड़ा वैराग्य हुआ। उसकी इच्छा भी योग लेजानेकी हुई, पर राज्य-प्रबन्ध उसी पर निर्भर रहनेसे वह दीक्षा न ले सका। परन्तु उसने उन मुनियों द्वारा जिनधर्मका उपदेश सुनकर श्रावककोंके व्रत ग्रहण किये। मणिकेतुका सब काम जब अच्छी तरह सफल हो गया तब वह प्रगट हुआ और उन सब मुनियोंको नमस्कार कर बोला-भगवन्, आपका मैंने बड़ा भारी अपराध जरूर किया है। पर आप जैनधर्मके तत्त्वको यथार्थ जाननेवाले हैं। इस लिए सेवक पर क्षमा करें। इसके बाद मणिकेतुने आदिसे इति पर्यन्त सबकी सब घटना कह सुनाई। मणिकेतुके द्वारा सब हाल सुनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उससे बोले-देवराज, इसमें तुम्हारा अपराध क्या हुआ, जिसके लिए क्षमा की जाय? तुमने तो उलटा हमारा उप-

कार किया है। इस लिए हमें तुम्हारा कृतज्ञ होना चाहिए। मित्रपनेके नातेसे तुमने जो कार्य किया है वैसा करनेके लिए तुम्हारे विना और समर्थ ही कौन था? इस लिए देवराज, तुम ही सच्चे धर्म-प्रेमी हो, जिन भगवान्के भक्त हो, और मोक्ष-लक्ष्मीकी प्राप्तिके कारण हो। सगर-सुतोंका इस प्रकार सन्तोष-जनक उत्तर पा मणिकेतु बहुत प्रसन्न हुआ। वह फिर उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार कर स्वर्ग चला गया। यह मुनिसंघ विहार करता हुआ सम्मेदशिखर पर आया और यहीं कठिन तपस्या कर शुक्लध्यानके प्रभावसे इसने निर्वाण लाभ किया।

उधर भगीरथने जब अपने भाइयोंका मोक्ष प्राप्त करना सुना तो उसे भी संसारसे बड़ा वैराग्य हुआ। वह फिर अपने वरदत्त पुत्रको राज्य सौंप आप कैलास पर शिवगुप्त मुनिराजके पास दीक्षा ग्रहण कर मुनि हो गया। भगीरथने मुनि होकर गंगाके सुन्दर किनारों पर कभी प्रतिमा-योगसे, कभी आतापन योगसे और कभी और किसी आसनसे खूब तपस्या की। देवता लोग उसकी तपस्यासे बहुत खुश हुए। और इसी लिए उन्होंने भक्तिके वश हो भगीरथके चरणोंका क्षीर-समुद्रके जलसे अभिषेक किया, जो कि अनेक प्रकारके सुखोंका देनेवाला है। उस अभिषेकके जलका प्रवाह बहता हुआ गंगामें गया। तभीसे गंगा तीर्थके रूपमें प्रसिद्ध हुई और लोग उसके स्नानको पुण्यका कारण समझने लगे। भगीरथने फिर कहीं अन्यत्र विहार न किया। वह वहीं तपस्या करता रहा और अन्तमें कर्मोंका नाशकर उसने जन्म, जरा, मरणादि रहित मोक्षका सुख भी यहींसे प्राप्त किया।

केवलज्ञानरूपी नेत्र द्वारा संसारके पदार्थोंको जानने और देखनेवाले, देवों द्वारा पूजा किये गये और मुक्तिरूप रमणी-रत्नके स्वामी श्रीसगरमुनि तथा जैनतत्वके परम विद्वान् वे सगरसुत मुनिराज मुझे वह लक्ष्मी दें, जो कभी नाश होने-वाली नहीं है और सर्वोच्च सुखकी देनेवाली है।

५५–मृगध्वजकी कथा।



सारे संसार द्वारा भक्ति सहित पूजा किये गये जिन भगवान्को नमस्कार कर प्राचीनाचार्योंके कहे अनुसार मृगध्वज राजकुमारकी कथा लिखी जाती है।

सीमन्धर अयोध्याके राजा थे। उनकी रानीका नाम जिनसेना था। इनके एक मृगध्वज नामका पुत्र था। यह मांसका बड़ा लोलुपी था। इसे विना मांस खाये एक दिन भी चैन न पड़ता था। यहाँ एक राजकीय भैंसा था। वह बुलानेसे पास चला आता, लौट जानेको कहनेसे चला जाता और लोगोंके पाँवोंमें लौटने लगता। एक दिन यह भैंसा एक तालावमें क्रीड़ा कर रहा था। इतनेमें राजकुमार मृगध्वज, मंत्री और सेठके लड़कोंको साथ लिए यहाँ आया। इस भैंसेके पाँवोंको देखकर मृगध्वजके मनमें न जाने क्या धुन समाई सो इसने अपने नौकरसे कहा–देखो, आज इस भैंसेका पिछला पाँव काट कर इसका मांस खानेको पकाना। इतना कहकर मृगध्वज चल

दिया। नौकर उसके कहे अनुसार भैंसेका पाँव काटकर ले गया। उसका मांस पका। उसे खाकर राजकुमार और उसके साथी बड़े प्रसन्न हुए।

इधर बेचारा भैंसा बड़े दुःखके साथ लँगड़ाता हुआ राजाके सामने जाकर गिर पड़ा। राजाने देखा कि उसकी मौत आलगी है। इस लिए उस समय उसने विशेष पूछ-पाछ न कर, कि किसने उसकी ऐसी दशा की है, दयाबुद्धिसे उसे संन्यास देकर नमस्कार मंत्र सुनाया। सच है, संसारमें बहुतसे ऐसे भी गुणवान् परोपकारी हैं, जो चन्द्रमा, सूर्य, कल्पवृक्ष, पानी–आदि उपकारक वस्तुओंसे भी कहीं बढ़कर हैं। भैंसा मरकर नमस्कार मंत्रके प्रभावसे सौधर्म स्वर्गमें जाकर देव हुआ। सच है, जिनेन्द्रभगवान्का उपदेश किया पवित्र धर्म जीवोंका वास्तवमें हित करनेवाला है।

इसके बाद राजाने इस बातका पता लगाया कि भैंसेकी यह दशा किसने की? उन्हें जब यह नीच काम अपने और मंत्री तथा सेठके पुत्रोंका जान पड़ा तब तो उनके गुस्सेका कुछ ठिकाना न रहा। उन्होंने उसी समय तीनोंको मरवा डालनेके लिए मंत्रीको आज्ञा की। इस राजाज्ञाकी खबर उन तीनोंको भी लग गई। तब उन्होंने झटपट मुनिदत्त मुनिके पास जाकर उनसे जिन दीक्षा लेली। इनमें मृगध्वज महामुनि बड़े तपस्वी हुए। उन्होंने कठिन तपस्या कर ध्यानाग्नि द्वारा घातिया कर्मोंका नाश किया और केवलज्ञान प्राप्त कर संसार द्वारा वे पूज्य हुए। सच है, जैनधर्मका प्रभाव ही कुछ ऐसा अचिन्त्य है जो महापापीसे पापी भी उसे

धारण कर त्रिलोक-पूज्य हो जाता है। और ठीक भी है, धर्मसे और उत्तम है ही क्या ?

वे मृगध्वज मुनि मुझे और आप भव्य-जनोंको महा मंगलमय मोक्ष-लक्ष्मी दें, जो भव्य-जनोंका उद्धार करनेवाले हैं, केवलज्ञानरूपी अपूर्व नेत्रके धारक है, देवों, विद्याधरों और बड़े बड़े राजों–महाराजोंसे पूज्य हैं, संसारका हित करनेवाले हैं, बड़े धीर हैं, और अनेक प्रकारका उत्तमसे उत्तम सुख देनेवाले हैं।

५६—परशुरामकी कथा।



संसार-समुद्रसे पार करनेवाले जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार कर परशुरामका चरित्र लिखा जाता है। जिसे सुनकर आश्चर्य होता है।

अयोध्याका राजा कार्तवीर्य अत्यन्त मूर्ख था। उसकी रानीका नाम पद्मावती था। अयोध्याके जंगलमें यमदग्नि नामके एक तपस्वीका आश्रम था। इस तपस्वीकी स्त्रीका नाम रेणुका था। इसके दो लड़के थे। इसमें एकका नाम श्वेतराम था और दूसरेका महेन्द्रराम। एक दिनकी बात है कि रेणुकाके भाई वरदत्त मुनि उस ओर आ निकले। वे एक वृक्षके नीचे ठहरे। उन्हें देखकर रेणुका बड़े प्रेमसे उनसे मिलनेको आई और उनके

सीको जानसे मारकर गौको ले गया। सच है, दुर्जनोंका स्वभाव ही ऐसा होता है कि जो उनका उपकार करते हैं, वे दूध पिलाये सर्पकी तरह अपने उन उपकारककी ही जानके लेनेवाले हो उठते हैं।

राजाके जानेके थोड़ी देर बाद ही रेणुकाके दोनों लड़के जंगलसे लकड़ियाँ वगैरह लेकर आ गये। माताको रोती हुई देखकर उन्होंने उसका कारण पूछा। रेणुकाने सब हाल उनसे कह दिया। माताकी दुःखभरी बातें सुनकर श्वेतरामके क्रोधका कुछ ठिकाना न रहा। वह कार्त्तवीर्यसे अपने पिताका बदला लेनेके लिए उसी समय मातासे 'परशु' नामकी विद्याको लेकर अपने छोटे भाईको साथ लिए चल पड़ा। राजाके नगरमें पहुँच कर उसने कार्त्तवीर्यको युद्धके लिए ललकारा। यद्यपि एक ओर कार्त्तवीर्यकी प्रचण्डसेना थी और दूसरी ओर सिर्फ ये दो ही भाई थे; पर तब भी परशुविद्याके प्रभावसे इन दोनों भाइयोंने ही कार्त्तवीर्यकी सारी सेनाको छिन्न-भिन्न कर दिया और अन्तमें कार्तवीर्यको मारकर अपने पिताका बदला लिया। मरकर पापके फलसे कार्त्तवीर्य नरक गया। सो ठीक ही है, पापियोंकी ऐसी गति होती ही है। उस तृष्णाको धिक्कार है जिसके वश हो लोग न्याय अन्यायको कुछ नहीं देखते और फिर अनेक कष्टोंको सहते हैं। ऐसे ही अन्यायों द्वारा तो पहले भी अनेक राजों-महाराजोंका नाश हुआ। और ठीक भी है जिस वायुसे बड़े बड़े हाथी तक उड़ जाते हैं तब उसके सामने बेचारे कीट-पतंगादि छोटे छोटे जीव तो ठहर ही कैसे सकते

हैं। श्वेतरामने कार्त्तवीर्यको परशु विद्यासे मारा था, इस लिए फिर अयोध्यामें वह 'परशुराम' इस नामसे प्रसिद्ध हुआ।

संसारमें जो शूरवीर, विद्वान्, सुखी, धनी हुए देखे जाते हैं वह पुण्यकी महिमा है। इस लिए जो सुखी, विद्वान्, धनवान्, वीर-आदि बनना चाहते हैं, उन्हें जिनभगवान्का उपदेश किया पुण्य-मार्ग ग्रहण करना चाहिए।

५७—सुकुमाल मुनिकी कथा।



जिनके नाम मात्रहीका ध्यान करनेसे हर प्रकारकी धन-सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है, उन परम पवित्र जिनभगवान्को नमस्कार कर सुकुमाल मुनिकी कथा लिखी जाती है।

अतिबल कौशाम्बीके जब राजा थे, तबहीका यह आख्यान है। यहाँ एक सोमशर्मा पुरोहित रहता था। इसकी स्त्रीका नाम काश्यपी था। इसके अग्निभूत और वायूभूति नामके दो लड़के हुए। मा-बापके अधिक लाड़ले होनेसे ये कुछ पढ़-लिख न सके। और सच है पुण्यके विना किसीको विद्या आती भी तो नहीं। कालकी विचित्र गतिसे सोमशर्माकी असमयमें ही मौत हो गई। ये दोनों भाई तब निरे मूर्ख थे। इन्हें मूर्ख देखकर अतिबलने इनके पिताका पुरोहित-पद, जो इन्हें मिलता, किसी औरको दे दिया। यह ठीक है कि मूर्खोंका कहीं आदर-सत्कार नहीं होता। अपना अपमान

हुआ देखकर इन दोनों भाइयोंको बड़ा दुःख हुआ। तब इन की कुछ अकल ठिकाने आई। अब इन्हें कुछ लिखने पढ़नेकी सूझी। ये राजगृहमें अपने काका सूर्यमित्रके पास गये और अपना सब हाल इन्होंने उनसे कहा। इनकी पढ़नेकी इच्छा देखकर सूर्यमित्रने स्वयं इन्हें पढ़ाना शुरू किया और कुछ ही वर्षोंमें इन्हें अच्छा विद्वान् बना दिया। दोनों भाई जब अच्छे विद्वान् हो गये तब ये पीछे अपने शहर लौट आये। आकर इन्होंने अतिबलको अपनी विद्याका परिचय कराया। अतिबल इन्हें विद्वान् देखकर बहुत खुश हुआ और इनके पिताका पुरोहित-पद उसने पीछा इन्हें ही दे दिया। सच है सरस्वतीकी कृपासे संसारमें क्या नहीं होता!

एक दिन सन्ध्याके समय सूर्यमित्र सूर्यको अर्घ चढ़ा रहा था। उसकी उँगुलीमें राजकीय एक रत्नजड़ी बहुमूल्य अँगूठी थी। अर्घ चढ़ाते समय वह अँगूंठी उँगुलीमेंसे निकलकर महलके नीचे तालावमें जा गिरी। भाग्यसे वह एक खिले हुए कमलमें पड़ी। सूर्य अस्त होने पर कमल मुँद गया। अँगूठी कमलके अन्दर बन्द हो गई। जब वह पूजा-पाठ करके उठा और उसकी नजर उँगुली पर पड़ी तब उसे मालूम हुआ कि अँगूठी कहीं गिर पड़ी। अब तो उसके डरका कुछ ठिकाना न रहा। राजा जब अँगूठी माँगेगा तब उसे क्या जवाब दूँगा, इसकी उसे बड़ी चिंता होने लगी। अँगूठीकी शोधके लिए इसने बहुत कुछ यत्न किया, पर इसे उसका कुछ पता न चला। तब किसीके कहनेसे यह अवधिज्ञानी सुधर्म मुनिके पास गया और हाथ जोड़कर इसने

उनसे अँगूठीके बावत पूछा कि प्रभो, क्या कृपाकर मुझे आप यह वतलावेंगे कि मेरी अँगूठी कहाँ चली गई और हे करुणाके समुद्र, वह कैसे प्राप्त होगी? मुनिने उत्तरमें यह कहा कि सूर्यको अर्घ देते समय तालावमें एक खिले हुए कमलमें अँगूठी गिर पड़ी है। वह सवेरे मिल जायगी। वही हुआ। सूर्योदय होते ही जैसे कमल खिला सूर्यमित्रको उसमें अँगूठी मिली। सूर्यमित्र बड़ा खुश हुआ। उसे इस बातका बड़ा अचंभा होने लगा कि मुनिने यह बात कैसे बतलाई? हो न हो, उनसे अपनेको भी यह विद्या सीखनी चाहिए। यह विचार कर सूर्यमित्र, मुनिराजके पास गया। उन्हें नमस्कार कर उसने प्रार्थना की कि हे योगिराज, मुझे भी आप अपनी विद्या सिखा दीजिए, जिससे मैं भी दूसरेके ऐसे प्रश्नोंका उत्तर दे सकूँ। आपकी मुझ पर बड़ी कृपा होगी, यदि आप मुझे अपनी यह विद्या पढ़ा देंगे। तब मुनिराजने कहा—भाई, मुझे इस विद्याके सिखानेमें कोई इंकार नहीं है। पर बात यह है कि विना जिन दीक्षा लिए यह विद्या आ नहीं सकती। सूर्यमित्र तब केवल विद्याके लोभसे दीक्षा लेकर मुनि हो गया। मुनि होकर इसने गुरुसे विद्या सिखानेको कहा। सुधर्म मुनिराजने तब सूर्यमित्रको मुनियोंके आचार-विचारके शास्त्र तथा सिद्धान्त-शास्त्र पढ़ाये। अब तो एकदम सूर्यमित्रकी आँखें खुल गईं। यह गुरुके उपदेश रूपी दियेके द्वारा अपने हृदयके अज्ञानान्धकारको नष्ट कर जैनधर्मका अच्छा विद्वान् हो गया। सच है, जिन भव्य पुरुषोंने सच्चे मार्गको बतानेवाले और संसारके अकारण ... की

सहित सेवा-पूजा की है, उनके सब काम नियमसे सिद्ध हुए हैं।

जब सूर्यमित्र मुनि अपने मुनिधर्ममें खूब कुशल हो गये तब वे गुरुकी आज्ञा लेकर अकेले ही विहार करने लगे। एक वार वे विहार करते हुए कौशाम्बीमें आये। अग्निभूतिने इन्हें भक्तिपूर्वक दान दिया। उसने अपने छोटे भाई वायुभूतिसे बहुत प्रेरणा और आग्रह इस लिए किया कि वह सूर्यमित्र मुनिकी वन्दना करे—उसे जैनधर्मसे कुछ प्रेम हो। कारण वह जैनधर्मसे सदा विरुद्ध रहता था। पर अग्निभूतिके इस आग्रहका परिणाम उलटा हुआ। वायुभूतिने और खिसियाकर मुनिकी अधिक निन्दा की और उन्हें बुरा भला कहा। सच है, जिन्हें दुर्गतियोंमें जाना होता है, प्रेरणा करने पर भी ऐसे पुरुषोंका श्रेष्ठ धर्मकी ओर झुकाव नहीं होता; किन्तु वह उलटा पाप-कीचड़में अधिक अधिक फँसता है। अग्निभूतिको अपने भाईकी ऐसी दुर्बुद्धि पर बड़ा दुःख हुआ। और यही कारण था कि जब मुनिराज आहारकर वनमें गये तब अग्निभूति भी उनके साथ साथ चला गया और वहाँ धर्मोपदेश सुनकर वैराग्य होजानेसे दीक्षा लेकर वह भी तपस्वी हो गया। अपना और दूसरोंका हित करना अबसे अग्निभूतिके जीवनका उद्देश हुआ।

अग्निभूतिके मुनि हो जानेकी वात जब इसकी स्त्री सती सोमदत्ताको ज्ञात हुई तो उसे अत्यन्त दुःख हुआ। उसने वायुभूतिसे जाकर कहा—देखो, तुमने मुनिको वन्दना न कर उनकी बुराई की, सुनती हूँ उससे दुखी होकर तुम्हारे

भाई भी मुनि हो गये। यदि वे अब तक मुनि न हुए हों तो चलो उन्हें तुम हम समझा लावें। वायुभूतिने गुस्सा होकर कहा—हाँ तुम्हें गर्ज हो तो तुम भी उस बदमाश नंगेके पास जाओ! मुझे तो कुछ गर्ज नहीं है। यह कहकर वायुभूति अपनी भौजीके एक लात मारकर चलता बना। सोमदत्ता-को उसके मर्मभेदी वचनोंको सुनकर बड़ा दुःख हुआ। उसे क्रोध भी अत्यन्त आया। पर अबला होनेसे वह उस समय कर कुछ नहीं सकी। तब उसने निदान किया कि पापी, तूने जो इस समय मेरा मर्म भेदा है और मुझे लातोंसे ठुक-राया है, और इसका बदला स्त्री होनेसे मैं इस समय न भी ले सकी तो कुछ चिन्ता नहीं, पर याद रख इस जन्ममें नहीं तो दूसरे जन्ममें सही, पर बदला लूँगी अवश्य। और तेरे इसी पाँवको, जिससे कि तूने मुझे लात मारी है और मेरे हृदय भेदनेवाले तेरे इसी हृदयको मैं खाऊँगी तभी मुझे सन्तोष होगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसी मूर्खताको धिक्कार है जिसके वश हुए प्राणी अपने पुण्य-कर्मको ऐसे नीच निदानों द्वारा भस्म कर डालते हैं।

'इस हाथ दे उस हाथ ले' इस कहावतके अनुसार तीव्र पापका फल भी प्रायः तुरत मिल जाता है। वायुभूतिने मुनिनिन्दा द्वारा जो तीव्र पाप-कर्म बाँधा, उसका फल उसे बहुत जल्दी मिल गया। पूरे सात दिन भी न हुए होंगे कि वायुभूतिके सारे शरीरमें कोढ़ निकल आया। सच है, जिनकी सारा संसार पूजा करता है और जो धर्मके सच्चे मार्गको दिखानेवाले हैं ऐसे महात्माओंकी निन्दाकरने-

वाला पापी पुरुष किन महाकष्टोंको नहीं सहता । वायुभूति कोढ़के दुःखसे मरकर कौशाम्बीमें ही एक नटके यहाँ गधा हुआ । गधा मरकर वह जंगली सूअर हुआ । इस पर्यायसे मरकर इसने चम्पापुरीमें एक चाण्डालके यहाँ कुत्तीका जन्म धारण किया । कुत्ती मरकर चम्पापुरीमें ही एक दूसरे चाण्डालके यहाँ लड़की हुई । यह जन्महीसे अन्धी थी । इसका सारा शरीर बदबू कर रहा था । इस लिए इसके माता पिताने इसे छोड़ दिया । पर भाग्य सभीका बलवान् होता है । इस लिए इसकी भी किसी तरह रक्षा हो गई । यह एक जाँबूके झाड़ नीचे पड़ी पड़ी जाँबू खाया करती थी ।

सूर्यमित्र मुनि अग्निभूतिको साथ लिए हुए भाग्यसे इस ओर आ निकले । उस जन्मकी दुःखिनी लड़कीको देखकर अग्निभूतिके हृदयमें कुछ मोह और कुछ दुःख हुआ । उन्होंने गुरुसे पूछा—प्रभो, इस लड़कीकी दशा बड़ी कष्टमें है । यह कैसे जी रही है ? ज्ञानी सूर्यमित्र मुनिने कहा—तुम्हारे भाई वायुभूतिने धर्मसे पराङ्मुख होकर जो मेरी निन्दा की थी, उसी पापके फलसे उसे कई भव पशुपर्यायमें लेना पड़े । अन्तमें वह कुत्तीकी पर्यायसे मरकर यह चाण्डालकन्या हुई है । पर अब इसकी उमर बहुत थोड़ी रह गई है । इस लिए जाकर तुम इसे व्रत लिवाकर संन्यास दे आओ । अग्निभूतिने वैसा ही किया । उस चाण्डालकन्याको पाँच अणुव्रत देकर उन्होंने संन्यास लिवा दिया ।

चाण्डालकन्या मरकर व्रतके प्रभावसे चम्पापुरीमें नागशर्मा ब्राह्मणके यहाँ नागश्री नामकी कन्या हुई । एक

दिन नागश्री वनमें नागपूजा करनेको गई थी। पुण्यसे सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनि भी विहार करते हुए इस ओर आ गये। उन्हें देखकर नागश्रीके मनमें उनके प्रति अत्यन्त भक्ति हो गई। वह उनके पास गई और हाथ जोड़कर उनके पाँवोंके पास बैठ गई। नागश्रीको देखकर अग्निभूति मुनिके मनमें कुछ प्रेमका उदय हुआ। और होना उचित ही था। क्योंकि थी तो वह उनके पूर्वजन्मकी भाई न? अग्निभूति मुनिने इसका कारण अपने गुरुसे पूछा। उन्होंने प्रेम होनेका कारण जो पूर्व जन्मका भातृ-भाव था, वह बता दिया। तब अग्निभूतिने उसे धर्मका उपदेश किया और सम्यक्त्व तथा पाँच अणुव्रत उसे ग्रहण करवाये। नागश्री व्रत ग्रहणकर जब जाने लगी तब उन्होंने उससे कह दिया कि हाँ देख बच्ची, तुझसे यदि तेरे पिताजी इन व्रतोंको लेनेके लिए नाराज हों तो तू हमारे व्रत हमें ही आकर सौंप जाना। सच है, मुनि लोग वास्तवमें सच्चे मार्गके दिखानेवाले होते हैं।

इसके बाद नागश्री उन मुनिराजोंके भक्तिसे हाथ जोड़कर और प्रसन्न होती हुई अपने घर पर आ गई। नागश्रीके साथकी और और लड़कियोंने उसके व्रत लेनेकी बातको नागशर्मासे जाकर कह दिया। नागशर्मा तब कुछ क्रोधकासा भाव दिखाकर नागश्रीसे बोला—बच्ची, तू बड़ी भोली है, जो झटसे हरएकके बहकानेमें आ जाती है। भला, तू नहीं जानती कि अपने पवित्र [illegible] उन [illegible] नियोंके लिये व्रत नहीं लिये जाते।

व्रत तू छोड़ दे। तब नागश्री बोली—तो पिताजी, उन मुनियोंने मुझे आते समय यह कह दिया था कि यदि तुझसे तेरे पिताजी इन व्रतोंको छोड़ देनेके लिए आग्रह करें तो तू पीछे हमारे व्रत हमें ही दे जाना। तब आप चलिए मैं उन्हें उनके व्रत दे आती हूँ। सोमशर्मा नागश्रीका हाथ पकड़े क्रोधसे गुर्राता हुआ मुनियोंके पास चला। रास्तेमें नागश्रीने एक जगह कुछ गुल-गपाड़ा होता सुना। उस जगह बहुतसे लोग इकट्ठे हो रहे थे और एक मनुष्य उनके बीचमें बँधा हुआ पड़ा था। उसे कुछ निर्दयी लोग बड़ी क्रूरतासे मार रहे थे। नागश्रीने उसकी यह दशा देखकर सोमशर्मासे पूछा—पिताजी, बेचारा यह पुरुष इस प्रकार निर्दयतासे क्यों मारा जा रहा है? सोमशर्मा बोला—बच्ची, इस पर एक बनियेके लड़के वरसेनका कुछ रुपया लेना था। उसने इससे अपने रुपयों तकादा किया। इस पापीने उसे रुपया न देकर जानसे मार डाला। इस लिए उस अपराधके बदले अपने राजा साहबने इसे प्राणदंडकी सजा दी है, और वह योग्य है। क्योंकि एकको ऐसी सजा मिलनेसे अब दूसरा कोई ऐसा अपराध न करेगा। तब नागश्रीने जरा जोर देकर कहा—तो पिताजी, यही व्रत तो उन मुनियोंने मुझे दिया है, फिर आप उसे क्यों छुड़ानेको कहते हैं? सोमशर्मा लाजवाब होकर बोला—अस्तु पुत्री, तू इस व्रतको न छोड़, चल बाकीके व्रत तो उनके उन्हें दे आवें। आगे चलकर नागश्रीने एक और पुरुषको बँधा देखकर पूछा—और पिताजी, यह पुरुष क्यों बाँधा गया है? सोमशर्माने कहा—पुत्री, यह झूठ बोलकर लोगोंको ठगा करता था।

इसके फन्देमें फँसकर वहुतोंको दर-दरका भिखारी वनना पड़ा है। इस लिए झूठ वोलनेके अपराधमें इसकी यह दशा की जा रही है। तव फिर नागश्रीने कहा—तो पिताजी, यही व्रत तो मैंने भी लिया है। अव तो मैं उसे कभी नहीं छोड़ूँगी। इसी प्रकार चोरी, परस्त्री, लोभ आदिसे दुःख पाते हुए मनुष्योंको देखकर नागश्रीने अपने पिताको लाजवाव कर दिया और व्रतोंको नहीं छोड़ा। तव सोमशर्माने हार खाकर कहा—अच्छा, यदि तेरी इच्छा इन व्रतोंको छोड़नेकी नहीं है तो न छोड़, पर तू मेरे साथ उन मुनियोंके पास तो चल। मैं उन्हें दो वातें कहूँगा कि तुम्हें क्या अधिकार था जो तुमने मेरी लड़कीको विना मेरे पूछे व्रत दे दिये? फिर वे आगेसे किसीको इस प्रकार व्रत न दे सकेंगे। सच है, दुर्जनोंको कभी सत्पुरुषोंसे प्रीति नहीं होती। तव ब्राह्मण देवता अपनी होश निकालनेको मुनियोंके पास चले। उसने उन्हें दूरसे ही देखकर गुस्सेमें आ कहा—क्योंरे नंगेओ! तुमने मेरी लड़कीको व्रत देकर क्यों ठग लिया? वतलाओ, तुम्हें इसका क्या अधिकार था? कवि कहता है कि ऐसे पापियोंके विचारोंको सुनकर वड़ा ही खेद होता है। भला, जो व्रत, शील, पुण्यके कारण हैं, उनसे क्या कोई ठगाया जा सकता है? नहीं। सोमशर्माको इस प्रकार गुस्सा हुआ देखकर सूर्यमित्र मुनि वड़ी धीरता और शान्तिके साथ वोले—भाई, जरा धीरज धर, क्यों इतनी जल्दी कर रहा है। मैंने इसे व्रत दिये हैं, पर अपनी लड़की समझकर, और सच पूछो तो यह है भी मेरी ही लड़की। तेरा तो

भी अधिकार नहीं है। तू भले ही यह कह कि यह मेरी लड़की है, पर वास्तवमें यह तेरी लड़की नहीं है। यह कहकर सूर्यमित्र मुनिने नागश्रीको पुकारा। नागश्री झटसे आकर उनके पास बैठ गई। अब तो ब्राह्मण देवता बड़े घबराये। वे 'अन्याय' 'अन्याय' चिल्लाते हुए राजाके पास पहुँचे और हाथ जोड़कर बोले—देव, नंगे साधुओंने मेरी नागश्री लड़कीको जबरदस्ती छुड़ा लिया। वे कहते हैं कि यह तेरी लड़की नहीं, किन्तु हमारी लड़की है। राजाधिराज, सारा शहर जानता है कि नागश्री मेरी लड़की है। महाराज, उन पापियोंसे मेरी लड़की दिलवा दीजिए। सोमशर्माकी बातसे सारी राज-सभा बड़े विचारमें पड़ गई। राजाकी भी अकलमें कुछ न आया। तब वे सबको साथ लिए मुनिके पास आये और उन्हें नमस्कार कर बैठ गये। फिर यही झगड़ा उपस्थित हुआ। सोमशर्मा तो नागश्रीको अपनी लड़की बताने लगा और सूर्यमित्र मुनि अपनी। मुनि बोले—अच्छा, यदि यह तेरी लड़की है तो बतला तूने इसे क्या पढ़ाया? और सुन, मैंने इसे सब शास्त्र पढ़ाया है, इस लिए मैं अभिमानसे कहता हूँ कि यह मेरी ही लड़की है। तब राजा बोले—अच्छा प्रभो, यह आपहीकी लड़की सही, पर आपने इसे जो पढ़ाया है उसकी परीक्षा इसके द्वारा दिलवाइए। जिससे कि हमें विश्वास हो। तब सूर्यमित्र मुनि अपने वचनरूपी किरणों द्वारा लोगोंके चित्तमें ठसे हुए मूर्खतारूप गाढ़े अन्धकारको नाश करते हुए बोले—हे नागश्री—हे पूर्वजन्ममें वायुभूतिका भव धारण करनेवाली पुत्री, तुझे मैंने जो पूर्व-

जन्ममें कई शास्त्र पढ़ाये हैं, उनकी इस उपस्थित मंडली-के सामने तू परीक्षा दे। सूर्यमित्र मुनिका इतना कहना हुआ कि नागश्रीने जन्मान्तरका पढ़ा-पढ़ाया सब विषय सुना-दिया। राजा तथा और सब मंडलीको इससे बड़ा अचंभा हुआ। उन्होंने मुनिराजसे हाथ जोड़कर कहा—प्रभो, नागश्रीकी परीक्षासे उत्पन्न हुआ विनोद हृदयभूमिमें अठखेलियाँ कर रहा है। इस लिए कृपाकर आप अपने और नागश्रीके सम्बन्धकी सब बातें खुलासा कहिए। तब अवधिज्ञानी सूर्यमित्र मुनिने वायुभूतिके भवसे लगाकर नागश्रीके जन्म-तककी सब घटना उनसे कह सुनाई। सुनकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्हें यह सब मोहकी लीला जान पड़ी। मोहको ही सब दुःखका मूल कारण समझकर उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ। वे उसी समय और भी बहुतसे राजाओंके साथ जिनदीक्षा ग्रहण कर गये। सोमशर्मा भी जैनधर्मका उपदेश सुनकर मुनि हो गया और तपस्या कर अच्युत स्वर्गमें देव हुआ। इधर नागश्रीको भी अपना पूर्वका हाल सुनकर बड़ा वैराग्य हुआ। वह दीक्षा लेकर आर्यिका हो गई और अन्तमें शरीर छोड़कर तपस्याके फलसे अच्युत स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुई। अहा! संसारमें गुरु चिन्तामणिके समान हैं, सबसे श्रेष्ठ हैं। यही कारण है कि जिनकी कृपासे जीवोंको सब सम्पदाएँ प्राप्त हो सकती हैं।

यहाँसे विहार कर सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनिराज अग्निमन्दिर नामके पर्वत पर पहुँचे। वहाँ तपस्या द्वारा घातिया कर्मोंका नाशकर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया, और

त्रिलोकपूज्य हो अन्तमें बाकीके कर्मोंका भी नाशकर परम सुखमय, अक्षयानन्त मोक्ष लाभ किया। वे दोनों केवलज्ञानी मुनिराज मुझे और आप लोगोंको उत्तम सुखकी भीख दें।

अवन्ति देशके प्रसिद्ध उज्जैन शहरमें एक इन्द्रदत्त नामका सेठ है। वह बड़ा धर्मात्मा और जिनभगवान्का सच्चा भक्त है। उसकी स्त्रीका नाम गुणवंती है। वह नामके अनुसार सचमुच गुणवती और बड़ी सुन्दरी है। सोमशर्माका जीव, जो अच्युत स्वर्गमें देव हुआ था वह, वहाँ अपनी आयु पूरी कर पुण्यके उदयसे इस गुणवती सेठानीके सुरेन्द्रदत्त नामका सुशील और गुणी पुत्र हुआ। सुरेन्द्रदत्तका व्याह उज्जैनहीमें रहनेवाले सुभद्रसेठकी लड़की यशोभद्राके साथ हुआ। इनके घरमें किसी बातकी कमी नहीं थी। पुण्यके उदयसे इन्हें सब कुछ प्राप्त था। इस लिए बड़े सुखके साथ इनके दिन वीतते थे। ये अपनी इस सुख अवस्थामें भी धर्मको न भूलकर सदा उसमें सावधान रहा करते थे।

एक दिन यशोभद्राने एक अवधिज्ञानी मुनिराजसे पूछा-क्यों योगिराज, क्या मेरी आशा इस जन्ममें सफल होगी? मुनिराजने यशोभद्राका अभिप्राय जानकर कहा-हाँ होगी, और अवश्य होगी। तेरे होनेवाला पुत्र भव्य-मोक्षमें जानेवाला, बुद्धिमान् और अनेक अच्छे अच्छे गुणोंका धारक होगा। पर साथ ही एक चिन्ताकी बात यह होगी कि तेरे स्वामी पुत्रका मुख देखकर ही जिन-दीक्षा ग्रहण कर जायँगे, जो दीक्षा स्वर्ग-मोक्षका सुख दे-

नेवाली है। अच्छा, और एक वात यह है कि तेरा पुत्र भी जब कभी किसी जैनमुनिको देख पायगा तो वह भी उसी समय सब विषय-भोगोंको छोड़-छाड़कर योगी बन जायगा।

इसके कुछ महीनों बाद यशोभद्रा सेठानीके पुत्र हुआ। नागश्रीके जीवने, जो स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ था, अपनी स्वर्गकी आयु पूरी हुए बाद यशोभद्राके यहाँ जन्म लिया। भाई-बन्धुओंने इसके जन्मका बहुत कुछ उत्सव मनाया। इसका नाम सुकुमाल रक्खा गया। उधर सुरेन्द्र पुत्रके पवित्र दर्शन कर और उसे अपने सेठ-पदका तिलक कर आप मुनि हो गया।

जब सुकुमाल बड़ा हुआ तब उसकी माको यह चिन्ता हुई कि कहीं यह भी कभी किसी मुनिको देखकर मुनि न हो जाय, इसके लिए यशोभद्राने अच्छे घरानेकी कोई बत्तीस सुन्दर कन्याओंके साथ उसका ब्याह कर उन सबके रहनेको एक जुदा ही बड़ा भारी महल बनवा दिया और उसमें सब प्रकारकी विषय-भोगोंकी एकसे एक उत्तम वस्तु इकट्ठी करवादी, जिससे कि सुकुमालका मन सदा विषयोंमें फँसा रहे। इसके सिवा पुत्रके मोहसे उसने इतना और किया कि अपने घरमें जैनमुनियोंका आना जाना भी बन्द करवा दिया।

एक दिन किसी बाहरके सौदागरने आकर राजा प्रद्योत-नको एक बहु-मूल्य रत्न-कम्बल दिखलाया, इस [illegible] यह [illegible]के। पर उसकी कीमत बहुत ही [illegible] से [illegible] नहीं लिया। रत्न-कंबलकी

भद्रा सेठानीको मालूम हुई। उसने उस सौदागरको बुला-कर उससे वह कम्बल सुकुमालके लिए मोल ले-लिया। पर वह रत्नोंकी जड़ाईके कारण अत्यन्त ही कठोर था, इस लिए सुकुमालने उसे पसन्द न किया। तब यशोभद्राने उसके टुकड़े करवा कर अपनी बहुओंके लिए उसकी जूतियाँ बनवादीं। एक दिन सुकुमालकी प्रिया जूतियाँ खोलकर पाँव धो रही थी। इतनेमें एक चील मांसके टुकड़ेके लोभसे एक जूतीको उठा ले-उड़ी। उसकी चोंचसे छूटकर वह जूती एक वेश्याके मकानकी छत पर गिरी। उस जूतीको देखकर वेश्याको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह उसे राजघरानेकी समझकर राजाके पास ले-गई। राजा भी उसे देखकर दंग रह गये कि इतनी कीमती जिसके यहाँ जूतियाँ पहरी जाती हैं तब उसके धनका क्या ठिकाना होगा। मेरे शहरमें इतना भारी धनी कौन है? इसका अवश्य पता लगाना चाहिए। राजाने जब इस विषयकी खोज की तो उन्हें सुकुमाल सेठका समाचार मिला कि इनके पास बहुत धन है और वह जूती उनकी स्त्रीकी है। राजाको सुकुमालके देखनेकी बड़ी उत्कंठा हुई। वे एक दिन सुकुमालसे मिलनेको गये। राजाको अपने घर आये देख सुकुमालकी मा यशोभद्राको बड़ी खुशी हुई। उसने राजाका खूब अच्छा आदर-सत्कार किया। राजाने प्रेमवश हो सुकुमालको भी अपने पास सिंहासन पर बैठा लिया। यशोभद्राने उन दोनोंकी एक ही साथ आरती उतारी। दियेकी तथा हारकी ज्योतिसे मिलकर बढ़े हुए तेजको सुकुमालकी आँखें न सह सकीं—उनमें पानी आ गया।

इसका कारण पूछने पर यशोभद्राने राजासे कहा—महाराज, आज इसकी इतनी उमर हो गई, कभी इसने रत्नमयी दीयेको छोड़कर ऐसे दीयेको नहीं देखा। इस लिए इसकी आँखोंमें पानी आ गया है। यशोभद्रा जब दोनोंको भोजन कराने बैठी तब सुकुमाल अपनी थालीमें परोसे हुए चावलोंमेंसे एक एक चावलको बीन-बीनकर खाने लगा। देखकर राजाको बड़ा अचंभा हुआ। उसने यशोभद्रासे इसका भी कारण पूछा। यशोभद्राने कहा—राजराजेश्वर, इसे जो चावल खानेको दिये जाते हैं वे खिले हुए कमलोंमें रखे जाकर सुगन्धित किये होते हैं। पर आज वे चावल थोड़े होनेसे मैंने उन्हें दूसरे चावलोंके साथ मिलाकर बना लिया। इससे यह एक एक चावल चुन-चुनकर खाता है। राजा सुनकर बड़े ही खुश हुए। उन्होंने पुण्यात्मा सुकुमालकी बहुत प्रशंसा कर कहा—सेठानीजी, अब तक तो आपके कुँवर साहब केवल आपके ही घरके सुकुमाल थे, पर अब मैं इनका अवन्ति-सुकुमाल नाम रखकर इन्हें सारे देशका सुकुमाल बनाता हूँ। मेरा विश्वास है कि मेरे देशभरमें इस सुन्दरताका—इस सुकुमारताका यही आदर्श है। इसके बाद राजा सुकुमालको संग लिए महलके पीछे जलक्रीड़ा करने बावड़ी पर गये। सुकुमालके साथ उन्होंने बहुत देरतक जलक्रीड़ा की। खेलते समय राजाकी उँगुलीमेंसे अँगूठी निकलकर क्रीड़ा सरोवरमें गिर गई। राजा उसे ढूँढ़ने लगे। वे जलके भीतर देखते हैं तो उन्हें उसमें हजारों बड़े बड़े सुंदर और कीमती भूषण देख पड़े। उन्हें देखकर राजाकी

अकल चकरा गई। वे सुकुमालके अनन्त-वैभवको देखकर बड़े चकित हुए। वे यह सोचते हुए, कि यह सब पुण्यकी लीला है, कुछ शरमिन्दासे होकर महल लौट आये।

सज्जनो, सुनो—धन-धान्यादि सम्पदाका मिलना, पुत्र, मित्र, और सुन्दर स्त्रीका प्राप्त होना, बन्धु बान्धवोंका सुखी होना, अच्छे अच्छे वस्त्र और आभूषणोंका होना, दुमँजले, तिमँजले आदि मनोहर महलोंमें रहनेको मिलना, खाने-पीनेको अच्छीसे अच्छी वस्तुएँ प्राप्त होना, विद्वान् होना, नीरोग होना—आदि जितनी सुख-सामग्री है, वह सब जिनेन्द्र भगवान्के उपदेश किये मार्ग पर चलनेसे जीवोंको मिल सकती है। इस लिए दुःख देनेवाले खोटे मार्गको छोड़कर बुद्धिमानोंको सुखका मार्ग और स्वर्ग-मोक्षके सुखका बीज पुण्यकर्म करना चाहिए। पुण्य जिन भगवान्की पूजा करनेसे, पात्रोंको दान देनेसे तथा व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्यके धारण करनेसे होता है।

एक दिन जैनतत्वके परम विद्वान् सुकुमालके मामा गणधराचार्य सुकुमालकी आयु बहुत थोड़ी रही जानकर उसके महल पीछेके बगीचेमें आकर ठहरे और चतुर्मास लग जानेसे उन्होंने वहीं योग धारण कर लिया। यशोभद्राको उनके आनेकी खबर हुई। वह जाकर उनसे कह आई कि प्रभो, जब तक आपका योग पूरा न हो तब तक आप कभी ऊँचेसे स्वाध्याय या पठन-पाठन न कीजिएगा। जब उनका योग पूरा हुआ तब उन्होंने अपने योगसम्बन्धी सब क्रियाओंको करके अन्तमें लोकप्रज्ञप्तिका पाठ करना शुरू किया।

उसमें उन्होंने अच्युतस्वर्गके देवोंकी आयु, उनके शरीरकी ऊँचाई आदिका खूब अच्छी तरह वर्णन किया। उसे सुनकर सुकुमालको जातिस्मरण हो गया। पूर्व जन्ममें पाये दुःखोंको याद कर वह काँप उठा। वह उसी समय चुपकेसे महलसे निकल कर मुनिराजके पास गया और उन्हें भक्तिसे नमस्कार कर उनके पास बैठ गया। मुनिने उससे कहा—बेटा, अब तुम्हारी आयु सिर्फ तीन दिनकी रह गई है, इस लिए अब तुम्हें इन विषय-भोगोंको छोड़कर अपना आत्महित करना उचित है। ये विषय-भोग पहले कुछ अच्छेसे मालूम होते हैं, पर इनका अन्त बड़ा ही दुःखदायी है। जो विषय-भोगोंकी धुनमें ही मस्त रहकर अपने हितकी ओर ध्यान नहीं देते, उन्हें कुगतियोंके अनन्त दुःख उठाना पड़ते हैं। तुम समझो सियालेमें आग बहुत प्यारी लगती है, पर जो उसे छूएगा वह तो जलेहीगा। यही हाल इन ऊपरके स्वरूपसे मनको लुभानेवाले विषयोंका है। इस लिए ऋषियोंने इन्हें 'भोगा भुजंगभोगाभाः' अर्थात् सर्पके समान भयंकर कहकर उल्लेख किया है। विषयोंको भोगकर आज तक कोई
नहीं हुआ, तब फिर ऐसी आशा करना
मिलेगा, नितान्त भूल है
कर सुकुमालको बड़ा
सुख देनेवाली जिनदीक्षा
होकर सुकुमाल वनकी ओर चल
अन्तिम जीवन बड़ा ही
कठोर चित्तवाले

है। सारी जिन्दगीमें कभी जिसकी आँखोंसे आँसू न आये थे, उन आँखोंमें भी सुकुमालका यह जीवन आँसू ला देनेवाला है। शास्त्रोंसे सुकुमालकी सुकुमारताका पता चलता है कि यशोभद्राने जब उसकी भावी बातें सुनी थीं, तब से घरके [illegible] भवनोंसे भी सुकुमाल न बाहर गया था। यशोभद्राने इसके लिए सभी-का बहुमूल्य प्रबन्ध कर रखा था, पर उसके इसी प्रेमने ही नाश-कार्य कर दिया था। उसकी माता उस पर इतना प्रेम था—उसने यों उस प्रकार लाड़-प्यारसे पाला था कि सुकुमालको कभी जमीन पर पाँव रखनेका मौका नहीं आया था। उसी सुकुमार सुकुमालने अपने जीवन भरके, एक-[illegible] कुछ ही दिनोंके उपदेशसे निष्ठुर हो [illegible] दिया। जिसने कभी यह नहीं जाना कि घर बाहर क्या है, वह अब अकेला भयंकर जंगलमें जा बसा। जिसने स्वप्नमें भी कभी दुःख नहीं देखा, वही अब दुःखोंका पहाड़ अपने सिर पर उठानेको तैयार हो गया। सुकुमाल दीक्षा लेकर वनकी ओर चला। कंकरीली जमीन पर चलनेसे उनके फूलोंसे कोमल पाँवोंमें कंकर-पत्थरोंके गड़-नेसे घाव हो गये। उनसे खूनकी धारा बह चली। पर धन्य सुकुमालकी सहनशीलता जो उसने उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। अपने ध्यानमें वह इतना एकनिष्ठ हो गया—इतना तन्मय हो गया कि उसे इस बातका भान ही न रहा कि मेरे शरीरकी क्या दशा हो रही है। सुकुमालकी सहनशीलताकी इतनेमें ही समाप्ति

नहीं हो गई । अभी और आगे बढ़िए और देखिए कि वह अपनेको इस परीक्षामें कहाँ तक उत्तीर्ण करता है ।

पावोंसे खून बहता जाता है और सुकुमाल मुनि चले जा रहे हैं । चलकर वे एक पहाड़की गुफामें पहुँचे । वहाँ वे ध्यान लगाकर बारह भावनाओंका विचार करने लगे । उन्होंने प्रायोपगमन संन्यास ले लिया, जिसमें कि किसीसे अपनी सेवा-शुश्रूषा भी कराना मना किया है । सुकुमाल मुनि तो इधर आत्मध्यानमें लीन हुए । अब जरा इनके वायुभूतिके जन्मकी याद कीजिए ।

जिस समय वायुभूतिके बड़े भाई अग्निभूति मुनि हो गये थे, तब इनकी स्त्रीने वायुभूतिसे कहा था कि देखो, तुम्हारे कारणसे ही तुम्हारे भाई मुनि हो गये सुनती हूँ । तुमने अन्याय कर मुझे दुःखके सागरमें ढकेल दिया । चलो, जब तक वे दीक्षा न ले जायँ उसके पहले उन्हें हम तुम समझा-बुझाकर घर लौटा लावें । इस पर गुस्सा होकर वायुभूतिने अपनी भौजीको बुरी-भली सुना डाली थी, और फिर ऊपरसे उस पर लात भी जमा दी थी । तब उसने निदान किया था कि पापी, तूने मुझे निर्बल समझ मेरा जो अपमान किया है—मुझे कष्ट पहुँचाया है, यह ठीक है कि मैं इस समय इसका बदला नहीं चुका सकती । पर याद रख कि इस जन्ममें न तो परजन्ममें सही पर बदला लूँगी और घोर बदला लूँगी ।

इसके बाद वह मरकर अनेक कुयोनियोंमें भटकी । अन्तमें वायुभूति तो यह सुकुमाल हुए और उसकी भौजी

सियारनी हुई। जब सुकुमाल मुनि वनकी ओर रवाना हुए और उनके पावोंमें कंकर, पत्थर, काँटे वगैरह लगकर खून बहने लगा, तब यही सियारनी अपने पिल्लोंको साथ लिए उस खूनको चाटती चाटती वहीं आ गई जहाँ सुकुमाल मुनि ध्यानमें गुम हो रहे थे। सुकुमालको देखते ही पूर्वजन्मके संस्कारसे सियारनीको अत्यन्त क्रोध आया। वह उनकी ओर घूरती हुई उनके बिलकुल नजीक आ गई। उसका क्रोधभाव उमड़ा। उसने सुकुमालको खाना शुरू कर दिया। उसे खाते देखकर उसके पिल्ले भी खाने लग गये। जो कभी एक तिनकेका चुभजाना भी नहीं सह सकता था, वह आज ऐसे घोर कष्टको सहकर भी सुमेरुसा निश्चल बना है। जिसके शरीरको एक साथ चार हिंसक जीव बड़ी निर्दयतासे खा रहे हैं, तब भी जो रंचमात्र हिलता-जुलता तक नहीं। उस महात्माकी इस अलौकिक सहनशक्तिका किन शब्दोंमें उल्लेख किया जाय, यह बुद्धिमें नहीं आता। तब भी जो लोग एक ना-कुछ चीज काँटेके लग जानेसे तलमला उठते हैं, वे अपने हृदयमें जरा गंभीरताके साथ विचार कर देखें कि सुकुमाल मुनिकी आदर्श सहनशक्ति कहाँ तक बढ़ी चढ़ी है और उनका हृदय कितना उच्च है! सुकुमाल मुनिकी यह सहनशक्ति उन कर्त्तव्यशील मनुष्योंको अप्रत्यक्ष रूपमें शिक्षा कर रही है कि अपने उच्च और पवित्र कामोंमें आनेवाले विघ्नोंकी परवा मत करो। विघ्नोंको आने दो और खूब आने दो। आत्माकी अनन्त शक्तियोंके सामने ये विघ्न कुछ चीज नहीं—किसी गिनतीमें नहीं। तुम अपने पर विश्वास

करो—भरोसा करो। हर एक कामोंमें आत्मदृढ़ता, आत्मविश्वास उनके सिद्ध होनेका मूलमंत्र है। जहाँ ये बातें नहीं वहाँ मनुष्यता भी नहीं। तब कर्त्तव्यशीलता तो फिर योजनोंकी दूरी पर है। सुकुमाल यद्यपि सुखिया जीव थे, पर कर्त्तव्यशीलता उनके पास थी। इसी लिए देखनेवालोंके भी हृदयको हिला देनेवाले कष्टमें भी वे अचल रहे।

सुकुमाल मुनिको उस सियारनीने पूर्ववैरके सम्बन्धसे तीन दिन तक खाया। पर वे मेरुके समान धीर रहे। दुःखकी उन्होंने कुछ पर्वा न की। यहाँ तक कि अपनेको खानेवाली सियारनी पर भी उनके बुरे भाव न हुए। शत्रु और मित्रको समभावोंसे देखकर उन्होंने अपना कर्त्तव्य पालन किया। तीसरे दिन सुकुमाल शरीर छोड़कर अच्युतस्वर्गमें महर्द्धिक देव हुए।

वायुभूतिकी भौजीने निदानके वश सियारनी होकर अपने वैरका बदला चुका लिया। सच है, निदान करना अत्यन्त दुःखोंका कारण है। इस लिए भव्यजनोंको यह पापका कारण निदान कभी नहीं करना चाहिए। इस पापके फलसे सियारनी मरकर कुगतिमें गई।

कहाँ वे मनको अच्छे लगनेवाले भोग और कहाँ यह दारुण तपस्या! सच तो यह है कि महापुरुषोंका चरित्त कुछ विलक्षण हुआ करता है। सुकुमाल मुनि अच्युतस्वर्गमें देव होकर अनेक प्रकारके दिव्य सुखोंको भोगते हैं और जिनभगवानकी भक्तिमें सदा लीन रहते हैं। सुकुमाल मुनिकी इस वीर मृत्युके उपलक्षमें स्वर्गके देवोंने आकर उनका बड़ा

उत्सव मनाया। 'जय जय' शब्द द्वारा महा कोलाहल हुआ। इसी दिनसे उज्जैनमें महाकाल नामके कुतीर्थकी स्थापना हुई। जिसके कि नामसे अगणित जीव रोज वहाँ मारे जाने लगे। और देवोंने जो सुगन्ध जलकी वर्षा की थी, उससे वहाँकी नदी गन्धवती नामसे प्रसिद्ध हुई।

जिसने दिनरात विषय-भोगोंमें ही फँसे रहकर अपनी सारी जिन्दगी बिताई, जिसने कभी दुःखका नाम भी न सुना था, उस महापुरुष सुकुमालने मुनिराज द्वारा अपनी तीन दिनकी आयु सुनकर उसी समय माता, स्त्री, पुत्र—आदि स्वजनोंको, धन-दौलतको, और विषय-भोगोंको छोड़-छाडकर जिनदीक्षा लेली और अंतमें पशुओं द्वारा दुःसह कष्ट सहकर भी जिसने बड़ी धीरज और शान्तिके साथ मृत्युको अपनाया। वे सुकुमाल मुनि मुझे कर्त्तव्यके लिए कष्ट सहनेकी शक्ति प्रदान करें।

५८—सुकोशल मुनिकी कथा।



जगपवित्र जिनेन्द्र भगवान्, जिनवानी और गुरुओंको नमस्कार कर सुकोशल मुनिकी कथा लिखी जाती है।

अयोध्यामें प्रजापाल राजाके समयमें एक सिद्धार्थ नामके नामी सेठ हो गये हैं। उनके कोई बत्तीस अच्छी अच्छी सुन्दर स्त्रियाँ थीं। पर खोटे भाग्यसे

इनमें किसीके कोई सन्तान न थी। स्त्री कितनी भी सुन्दर हो, गुणवती हो, पर विना सन्तानके उसकी शोभा नहीं होती। जैसे विना फल-फूलके लताओंकी शोभा नहीं होती। इन स्त्रियोंमें जो सेठकी खास प्राणप्रिया थी—जिस पर कि सेठ महाशयका अत्यन्त प्रेम था, वह पुत्र-प्राप्तिके लिए सदा कुदेवोंकी पूजा-मानता किया करती थी। एक दिन उसे कुदेवोंकी पूजा करते एक मुनिराजने देख लिया। उन्होंने तव उससे कहा—वहिन, जिस आशासे तू इन कुदेवोंकी पूजा करती है वह आशा ऐसा करनेसे सफल न होगी। कारण सुख-सम्पत्ति, सन्तानप्राप्ति, नीरोगता, मान-मर्यादा, सद्बुद्धि आदि जितनी अच्छी वातें हैं, उन सवका कारण पुण्य है। इस लिए यदि तू पुण्य-प्राप्तिके लिए कोई उपाय करे तो अच्छा हो। मैं तुझे तेरे हितकी वात कहता हूँ कि इन यक्षादिक कुदेवोंकी पूजा-मानता करना छोड़कर, जो कि पुण्यवन्धका कारण नहीं है, जिनधर्मपर विश्वास कर। इससे तू सत्पथ पर आजायगी और फिर तेरी आशा भी पूरी होने लगेगी। जयावतीको मुनिका उपदेश रुचा और वह अवसे जिनधर्म पर श्रद्धा करने लगी। चलते समय उसे ज्ञानी मुनिने यह भी कह दिया था कि जिसकी तुझे चाह है वह चीज तुझे सात वर्षके भीतर भीतर अवश्य प्राप्त होगी। तू चिन्ता छोड़कर धर्मका पालन कर। मुनिका यह अन्तिम वाक्य सुनकर जयावतीको वड़ी भारी खुशी हुई। और क्यों न हो? जिसकी कि वर्षोंसे उसके हृदयमें भावना थी वही भावना तो अब सफल होनेको है न! अस्तु।

मुनिका कथन सत्य हुआ। जयावतीने धर्मके प्रसादसे पुत्र-रत्नका मुँह देख पाया। उसका नाम रक्खा गया सुकोशल। सुकोशल खूब सूरत और साथ ही तेजस्वी था।

सिद्धार्थ सेठ विषय-भोगोंको भोगते भोगते कंटाल गये थे। उनके हृदयकी ज्ञानमयी आँखोंने उन्हें अब संसारका सच्चा स्वरूप वतलाकर वहुत डरा दिया था। वे चाहते तो नहीं थे कि एक मिनट भी संसारमें रहें, पर अपनी सम्पत्तिको सम्हाल लेनेवाला कोई न होनेसे पुत्र-दर्शन तक उन्हें लाचारीसे घरमें रहना पड़ा। अब सुकोशल हो गया, इसका उन्हें वड़ा आनन्द हुआ। वे पुत्रका मुखचन्द्र देखकर और अपने सेटपदका उसके ललाट पर तिलक कर आप श्री नयंधर मुनिराजके पास दीक्षा ले गये।

अभी वालकको जन्मते ही तो देर न हुई कि सिद्धार्थ सेठ घर-वार छोड़कर योगी हो गये। उनकी इस कठोरता पर जयावतीको वड़ा गुस्सा आया। न केवल सिद्धार्थ पर ही उसे गुस्सा आया, किन्तु नयंधर मुनि पर भी। इस लिए कि उन्हें इस समय सिद्धार्थको दीक्षा देना उचित न था; और इसी कारण मुनि मात्र पर उसकी अश्रद्धा हो गई। उसने अपने घरमें मुनियोंका आना-जाना तक वन्द कर दिया। वड़े दुःखकी वात है कि यह जीव मोहके वश हो धर्मको भी छोड़ वैठता है। जैसे जन्मका अन्धा हाथमें आये चिन्तामणिको खो वैठता है। क

वयःप्राप्त होने पर सुकोशलका अच्छे अच्छे घरानेकी कोई वत्तीस कन्या-रत्नोंसे व्याह हुआ। सुकोशलके दिन अब

बड़े ऐशो आरामके साथ बीतने लगे। माताका उस पर अत्यन्त प्यार होनेसे नित नई वस्तुएँ उसे प्राप्त होती थीं। सैकड़ों दास-दासियाँ उसकी सेवामें सदा उपस्थित रहा करती थीं। वह जो कुछ चाहता वह कार्य उसकी आँखोंके इशारे मात्रसे होता था। सुकोशलको कभी कोई बातके लिए चिन्ता न करना पड़ती थी। सच है, जिनके पुण्यका उदय होता है उन्हें सब सुख-सम्पत्ति सहजमें प्राप्त हो जाती हैं।

एक दिन सुकोशल, उसकी मा, उसकी स्त्री, और उसकी धायके साथ महल पर आ बैठा आयोध्याकी शोभा तथा मनको लुभानेवाली प्रकृतिदेवीकी नई नई सुन्दर छटाओंको देख देखकर बड़ा खुश हो रहा था। उसकी दृष्टि कुछ दूर तक गई। उसने एक मुनिराजको देखे। ये मुनि इसके पिता सिद्धार्थ ही थे। इस समय कई अन्य नगरों और गाँवोंमें विहार करते हुए ये आ रहे थे। इनके बदन पर नाममात्रके लिए भी वस्त्र न देखकर सुकोशल बड़ा चकित हुआ। इस-लिए कि पहले कभी उसने मुनिको देखा नहीं था। उनका अजब वेष देखकर सुकोशलने मासे पूछा—मा, यह कौन है? सिद्धार्थको देखते ही जयावतीकी आँखोंमें खून बरस गया। वह कुछ घृणा और कुछ उपेक्षाको लिए बोली—बेटा, होगा कोई भिखारी, तुझे इससे क्या मतलब! परन्तु अपनी माके इस उत्तरसे सुकोशलको सन्तोष नहीं हुआ। उसने फिर पूछा—मा, यह तो बड़ा खूब सूरत और तेजस्वी देख पड़ता है। तुम इसे भिखारी कैसे बताती हो? जया-वतीको अपने स्वामी पर ऐसी घृणा करते देख सुकोशलकी

धाय सुनन्दासे न रहा गया। वह बोल उठी–अरी ओ, तू इन्हें जानती है कि ये हमारे मालिक हैं। फिर भी तू इनके सम्बन्धमें ऐसा उलटा सुझा रही है। तुझे यह योग्य नहीं। क्या हो गया यदि ये मुनि हो गये तो? इसके लिए क्या तुझे इनकी निन्दा करनी चाहिए? इसकी बात पूरी भी न हो पाई थी कि सुकोशलकी माने उसे आँखके इशारेसे रोककर कह दिया कि चुप क्यों नहीं रह जाती। तुझे कौन पूछता है, जो बीचमें ही बोल उठी! सच है, दुष्ट स्त्रियोंके मनमें धर्म-प्रेम कभी नहीं होता। जैसे जलती हुई आगका बीचका भाग ठंडा नहीं होता।

सुकोशल ठीक तो न समझ पाया, पर उसे इतना ज्ञान हो गया कि माने मुझे सच्ची बात नहीं बतलाई। इतनेमें रसोइया सुकोशलको भोजन कर आनेके लिए बुलाने आया। उसने कहा–प्रभो, चलिए। बहुत समय हो गया। सब भोजन ठंडा हुआ जाता है। सुकोशलने तब भोजनके लिए इंकार कर दिया। माता और स्त्रियोंने भी बहुत आग्रह किया, पर वह भोजन करनेको नहीं गया। उसने साफ साफ कह दिया कि जब तक मैं उस महापुरुषका सच्चा सच्चा हाल न सुनलूँगा तब तक भोजन नहीं करूँगा। जयावतीको सुकोशलके इस आग्रहसे कुछ गुस्सा आ गया, सो वह तो वहाँसे चल दी। पीछेसे सुनन्दाने सिद्धार्थ मुनिकी सब बातें सुकोशलसे कहदीं। सुनकर सुकोशलको कुछ दुःख भी हुआ, पर साथ ही वैराग्यने उसे सावधान कर दिया। वह उसी समय सिद्धार्थ मुनिराजके पास गया और उन्हें नमस्कार कर

धर्मका स्वरूप सुननेकी उसने इच्छा प्रगट की । सिद्धार्थने उसे मुनिधर्म और गार्हस्थ्य-धर्मका खुलासा स्वरूप समझा दिया। सुकोशलको मुनिधर्म बहुत पसन्द पड़ा। वह मुनिधर्मकी भावना भाता हुआ घर आया और सुभद्राकी गर्भस्थ सन्तानको अपने सेठपदका तिलक कर तथा सब माया-ममता, धन-दौलत और स्वजन-परिजनको छोड़-छाड़कर श्री सिद्धार्थ मुनिके पास ही दीक्षा लेकर योगी बन गया। सच है, जिसे पुण्योदयसे धर्म पर प्रेम है और जो अपना हित करनेके लिए सदा तैयार रहता है, उस महापुरुषको कौन झूठी-सच्ची सुझाकर अपने कैदमें रख सकता है—उसे धोखा दे ठग सकता है।

एक मात्र पुत्र और वह भी योगी बन गया। इस दुःखकी जयावतीके हृदय पर बड़ी गहरी चोट लगी। वह पुत्र-दुःखसे पगलीसी बन गई। खाना-पीना उसके लिए जहर हो गया। उसकी सारी जिन्दगी ही धूल-धानी हो गई। वह दुःख और चिन्ताके मारे दिनोंदिन सूखने लगी। जब देखो तब ही उसकी आँखें आँसुओंसे भरी रहतीं। मरते दम तक वह पुत्र-शोकको न भूल सकी। इसी चिन्ता, दुःख, आर्त्तध्यानसे उसके प्राण निकले। इस प्रकार बुरे भावोंसे मरकर मगध देशके मौद्गिलनामके पर्वत पर उसने व्याघ्रीका जन्म लिया। इसके तीन बच्चे हुए। यह अपने बच्चोंके साथ पर्वत पर ही रहती थी। सच है, जो जिनेन्द्र भगवान्के पवित्र धर्मको छोड़ बैठते हैं, उनकी ऐसी ही दुर्गति होती है।

विहार करते हुए सिद्धार्थ और सुकोशल मुनिने भाग्यसे इसी पर्वत पर आकर योग धारण कर लिया। योग पूरा

हुए बाद जब ये भिक्षाके लिए शहरमें जानेके लिए पर्वत परसे नीचे उतर रहे थे उस समय वह व्याघ्री, जो कि पूर्वजन्ममें सिद्धार्थकी स्त्री और सुकोशलकी माता थी, इन्हें खानेको दौड़ी और जब तक कि ये संन्यास लेकर बैठते हैं, उसने इन्हें खा लिया। ये पिता पुत्र समाधिसे शरीर छोड़कर सर्वार्थसिद्धिमें जाकर देव हुए। वहाँसे आकर अब वे निर्वाण लाभ करेंगे। ये दोनों मुनिराज आप भव्यजनोंको और मुझे शान्ति प्रदान करें।

जिस समय व्याघ्रीने सुकोशलको खाते खाते उनका हाथ खाना शुरू किया, उस समय उसकी दृष्टि सुकोशलके हाथोंके लाञ्छनों (चिन्हों) पर जा पड़ी। उन्हें देखते ही इसे अपने पूर्वजन्मका ज्ञान हो गया। जिसे वह खा रही है, वह उसीका पुत्र है–जिस पर उसका बेहद प्यार था, उसे ही वह खा रही है। यह ज्ञान होते ही उसे जो दुःख, जो आत्म-ग्लानि हुई वह लिखी नहीं जा सकती। वह सोचती है, हाय! मुझसी पापिनी कौन होगी जो अपने ही प्यारे पुत्रको मैं आप ही खा रही हूँ! धिक्कार है मुझसी मूर्खिनीको जो पवित्र धर्मको छोड़कर अनन्त संसारको अपना वास बनाती है। उस मोहको, उस संसारको धिक्कार है जिसके वश हो यह जीव अपने हित अहितको भूल जाता है और फिर कुमार्गमे फँसकर दुर्गतियोंमें दुःख उठाता है। इस प्रकार अपने किये कर्मोंकी बहुत कुछ आलोचना कर उस व्याघ्रीने संन्यास ग्रहण कर लिया और अन्तमें शुद्ध भावोंसे मरकर वह सौधर्मस्वर्गमें देव हुई। सच है, जीवोंकी

शक्ति अद्भुत ही हुआ करती है और जैनधर्मका प्रभाव भी संसारमें बड़ा ही उत्तम है। नहीं तो कहाँ तो पापिनी व्याघ्री और कहाँ उसे स्वर्गकी प्राप्ति! इस लिए जो आत्मसिद्धिके चाहनेवाले हैं, उन भव्य जनोंको स्वर्ग-मोक्षको देनेवाले पवित्र जैनधर्मका पालन करना चाहिए।

श्री मूलसंघरूपी अत्यन्त ऊँचे उदयाचलसे उदय होनेवाले मेरे गुरु श्रीमल्लिभूषणरूपी सूर्य संसारमें सदा प्रकाश करते रहें।

वे प्रभाचन्द्राचार्य विजयलाभ करें जो ज्ञानके समुद्र हैं। देखिए, समुद्रमें रत्न होते हैं, आचार्य महाराज सम्यग्दर्शन रूपी श्रेष्ठ रत्नको धारण किये हैं। समुद्रमें तरङ्गें होती हैं, ये भी सप्तभंगीरूपी तरङ्गोंसे युक्त हैं—स्याद्वाद विद्याके बड़े ही विद्वान् हैं। समुद्रकी तरङ्गें जैसे कूड़ा-करकट निकाल बाहर फेंक देती हैं, इसी तरह ये अपनी सप्तभंगवाणी द्वारा एकान्त मिथ्यात्वरूपी कूड़े-करकटको हटा दूर करते थे—अन्यमतोंके बड़े बड़े विद्वानोंको शास्त्रार्थमें पराजित कर विजयलाभ करते थे। समुद्रमें मगरमच्छ, घड़ियाल—आदि अनेक भयानक जीव होते हैं, पर प्रभाचन्द्ररूपी समुद्रमें उससे यह विशेषता थी—अपूर्वता थी कि उसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष,—आदि भयानक मगरमच्छ न थे। समुद्रमें अमृत रहता है और इनमें जिनेन्द्र भगवान्‌का वचनमयी निर्मल अमृत समाया हुआ था। और समुद्रमें अनेक तरहकी बिकने-योग्य वस्तुएँ रहती हैं, ये भी व्रतों द्वारा उत्पन्न होनेवाली पुण्यरूपी विक्रेय-वस्तुको धारण किये थे।

५९–गजकुमार मुनिकी कथा।



जिन्होंने अपने गुणोंसे संसारमें प्रसिद्ध हुए और सब कामोंको करके सिद्धि–कृत्य-कृत्यता लाभ की है, उन जिन भगवान्को नमस्कार कर गजकुमार मुनिकी कथा लिखी जाती है।

नेमिनाथ भगवान्के जन्मसे पवित्र हुई प्रसिद्ध द्वारकाके अर्धचक्री वासुदेवकी रानी गन्धर्वसेनासे गजकुमारका जन्म हुआ था। गजकुमार बड़ा वीर था। उसके प्रतापको सुनकर ही शत्रुओंकी विस्तृत मानरूपी वेल भस्म हो जाती थी।

पोदनपुरके राजा अपराजितने तब बड़ा सिर उठा रक्खा था। वासुदेवने उसे अपने काबूमें लानेके लिए अनेक यत्न किये, पर वह किसी तरह इनके हाथ न पड़ा। तब इन्होंने शहरमें यह डौंडी पिटवाई कि जो मेरे शत्रु अपराजितको पकड़ लाकर मेरे सामने उपस्थित करेगा, उसे उसका मन चाहा वर मिलेगा। गजकुमार डौंड़ी सुनकर पिताके पास गया और हाथ जोड़कर उसने स्वयं अपराजित पर चढ़ाई करनेकी प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना मंजूर हुई। वह सेना लेकर अपराजित पर जा चढ़ा। दोनों ओरसे घमासान युद्ध हुआ। अन्तमें विजयलक्ष्मीने गजकुमारका साथ दिया। अपराजितको पकड़ लाकर उसने पिताके सामने उपस्थित कर दिया। गजकुमारकी इस वीरताको देखकर वासुदेव बहुत

खुश हुए। उन्होंने उसकी इच्छानुसार वर देकर उसे सन्तुष्ट किया।

ऐसे बहुत कम अच्छे पुरुष निकलते हैं जो मनचाहा वर लाभकर सदाचारी और सन्तोषी बने रहें। गजकुमारकी भी यही दशा हुई। उसने मनचाहा वर पिताजीसे लाभ कर अन्यायकी ओर कदम बढ़ाया। वह पापी जबरदस्ती अच्छे अच्छे घरोंकी सती स्त्रियोंकी इज्जत लेने लगा। वह ठहरा राजकुमार, उसे कौन रोक सकता था! और जो रोकनेकी कुछ हिम्मत करता तो वह उसकी आँखोंका काँटा होकर खटकने लगता और फिर गजकुमार उसे जड़मूलसे उखाड़ फैंकनेका यत्न करता। उस कामको, उस दुराचारको धिक्कार है, जिसके वश हो मूर्ख-जनोंको लज्जा और भय भी नहीं रहता है।

इसी तरह गजकुमारने अनेक अच्छी अच्छी कुलीन स्त्रियोंकी इज्जत ले डाली। पर इसके दबदबेसे किसीने चूँ तक न किया। एक दिन पांसुल सेठकी सुरति नामकी स्त्री पर इसकी नजर पड़ी और इसने उसे खराब भी कर दिया। यह देख पांसुलका हृदय क्रोधाग्निसे जलने लगा। पर वह बेचारा इसका कुछ कर नहीं सकता था। इस लिए उसे भी चुपचाप घरमें बैठ रह जाना पड़ा।

एक दिन भगवान् नेमिनाथ भव्य-जनोंके पुण्योदयसे द्वारकामें आये। बलभद्र, वासुदेव तथा और भी बहुतसे राजे-महाराजे बड़े आनन्दके ।
गये। खूब भक्तिभावोंसे

वाले भगवान्‌की पूजा-स्तुति की, उनका ध्यान-स्मरण किया। बाद गृहस्थ और मुनि धर्मका भगवान्‌के द्वारा उन्होंने उपदेश सुना, जो कि अनेक सुखोंका देनेवाला है। उपदेश सुनकर सभी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने बार बार भगवान्‌की स्तुति की। सच है साक्षात् सर्वज्ञ भगवान्‌का दिया धर्मोपदेश सुनकर किसे आनन्द या खुशी न होगी। भगवान्‌के उपदेशका गजकुमारके हृदय पर अत्यन्त प्रभाव पड़ा। वह अपने किये पापकर्मों पर बहुत पछताया। संसारसे उसे बड़ी घृणा हुई। वह उसी समय भगवान्‌के पास ही दीक्षा ले गया, जो संसारके भटकनेको मिटानेवाली है। दीक्षा लेकर गजकुमार मुनि विहार कर गये। अनेक देशों और नगरोंमें विहार करते, और भव्य-जनोंको धर्मोपदेश द्वारा शान्तिलाभ कराते अन्तमें वे गिरनार पर्वतके जंगलमें आये। उन्हें अपनी आयु बहुत थोड़ी जान पड़ी। इस लिए वे प्रायोपगमन संन्यास लेकर आत्म-चिन्तवन करने लगे। तब इनकी ध्यान-मुद्रा बड़ी निश्चल और देखने योग्य थी।

इनके संन्यासका हाल पांसुल सेठको जान पड़ा, जिसकी कि स्त्रीको गजकुमारने अपने दुराचारीपनेकी दशामें खराब किया था। सेठको अपना बदला चुकानेका बड़ा अच्छा मौका हाथ लग गया। वह क्रोधसे भर्राता हुआ गजकुमार मुनिके पास पहुँचा और उनके सब सन्धिस्थानोंमें लोहेके बड़े बड़े कीले ठोककर चलता बना। गजकुमार मुनि पर उपद्रव तो बड़ा ही दुःसह हुआ, पर वे जैनतत्वके अच्छे अभ्यासी थे-अनुभवी थे, इस लिए उन्होंने इस घोर कष्टको

एक तिनकेके चुभनेकी वरावर भी न गिन बड़ी शान्ति और धीरताके साथ शरीर छोड़ा। यहाँसे ये स्वर्गमें गये। वहाँ अब चिरकाल तक वे सुख भोगेंगे। अहा! महापुरुषोंका चरित बड़ा ही अचंभा पैदा करनेवाला होता है। देखिए, कहाँ तो गजकुमार मुनिको ऐसा दुःसह कष्ट और कहाँ सुख देनेवाली पुण्य-समाधि! इसका कारण सच्चा तत्त्वज्ञान है। इस लिए इस महत्ताको प्राप्त करनेके लिए तत्त्वज्ञानका अभ्यास करना सवके लिए आवश्यक है।

सारे संसारके प्रभु कहलानेवाले जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा सुखके कारण धर्मका उपदेश सुनकर जो गजकुमार अपनी दुर्बुद्धिको छोड़कर पवित्र बुद्धिके धारक और बड़े भारी सहनशील योगी हो गये, वे हमें भी सुबुद्धि और शान्ति प्रदान करें, जिससे हम भी कर्त्तव्यके लिए कष्ट सहनेमें समर्थ हो सकें।

६०–पणिक मुनिकी कथा।



सुखके देनेवाले और सत्पुरुषोंसे पूजा किये गये जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर श्री-पणिक नामके मुनिकी कथा लिखी जाती है, जो सवका हित करनेवाली है।

पणीश्वर नामक शहरके राजा प्रजापालके समय वहाँ सागरदत्त नामका एक सेठ हो चुका है। उसकी स्त्रीका नाम

पणिका था। इसके एक लड़का था। उसका नाम भी पणिक था। पणिक सरल, शान्त और पवित्र हृदयका था। पाप कभी उसे छू भी न गया था। सदा अच्छे रास्ते पर चलना उसका कर्त्तव्य था। एक दिन वह भगवान्‌के समवसरणमें गया, जो कि रत्नोंके तोरणोंसे बड़ी ही सुन्दरता धारण किये हुए था और अपनी मानस्तंभादि शोभासे सबके चित्तको आनन्दित करनेवाला था। वहाँ उसने वर्द्धमान भगवान्‌को गंधकुटी पर विराजे हुए देखे। भगवानकी इस समयकी शोभा अपूर्व और दर्शनीय थी। वे रत्न-जड़े सोनेके सिंहासन पर विराजे हुए थे, पूनमके चन्द्रमाको शरमिन्दा करनेवाले तीन छत्र उन पर शोभा दे रहे थे, मोतियोंके हारके समान उज्ज्वल और दिव्य चँवर उन पर ढुर रहे थे, एक साथ उदय हुए अनेक सूर्योंके तेजको जिनके शरीरकी कान्ति दबाती थी, नाना प्रकारकी शंकाओंको मिटानेवाली दिव्यध्वनि द्वारा जो उपदेश कर रहे थे, देवोंके बजाये दुदुंभी नामके बाजोंसे आकाश और पृथ्वीमण्डल शब्दमय बन गया था, इन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्त्ती, विद्याधर और बड़े बड़े राजे-महाराजे आदि आ-आकर जिनकी पूजा करते थे, अनेक निर्ग्रन्थ मुनिराज उनकी स्तुति कर अपनेको कृतार्थ कर रहे थे, चौतीस प्रकारके अतियोंसे जो शोभित थे, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य ऐसे चार अनन्त चतुष्टय आत्म-सम्पत्तिको धारण किये थे, जिन्हें संसारके सर्वोच्च महापुरुषका सम्मान प्राप्त था, तीनों लोकोंको स्पष्ट देख-जानकर उसका स्वरूप भव्य-जनोंको

जो उपदेश कर रहे थे और जिनके लिए मुक्ति-रमणी वर-माला हाथमें लिए उत्सुक हो रही थी।

पणिकने भगवान्‌का ऐसा दिव्य स्वरूप देखकर उन्हें अपना सिर नवाया, उनकी स्तुति-पूजा की, प्रदक्षिणा दी और बैठकर धर्मोपदेश सुना। अन्तमें उसने अपनी आयुके सम्बन्धमें भगवान्‌से प्रश्न किया। भगवान्‌के उत्तरसे उसे अपनी आयु बहुत थोड़ी जान पड़ी। ऐसी दशामें आत्महित करना बहुत आवश्यक समझ पणिक वहीं दीक्षा ले साधु हो गया। यहाँसे विहार कर अनेक देशों और नगरोंमें धर्मोपदेश करते हुए पणिकमुनि एक दिन गंगा किनारे आये। नदी पार होनेके लिए ये एक नावमें बैठे। मल्लाह नाव खेये जा रहा था कि अचानक एक प्रलयकीसी आँधीने आकर नावको खूब डग मगा दिया। उसमें पानी भर आया। नाव डूबने लगी। जब तक नाव डूबती है पणिक मुनिने अपने भावोंको खूब उन्नत किया। यहाँ तक कि उन्हें उसी समय केवलज्ञान हो गया और तुरत ही वे अघातिया कर्मोंका नाश कर मोक्ष चले गये। वे सेठपुत्र पणिकमुनि मुझे भी अविनाशी मोक्ष-लक्ष्मी दें, जिन्होंने मेरु समान स्थिर रहकर कर्म-शत्रुओंका नाश किया।

सागरदत्त सेठकी स्त्री पणिका सेठानीके पुत्र पवित्रात्मा पणिक मुनि, वर्द्धमान भगवान्‌के दर्शनकर, जो कि मोक्षके देनेवाले हैं, और उनसे अपनी आयु बहुत ही थोड़ी जानकर संसारकी सब माया-ममता छोड़ मुनि हो गये और अन्तमें कर्मोंका नाशकर मोक्ष गये वे मुझे भी सुखी करें।

समझ लिया वह फिर गृहजंजालको क्यों अपने सिर पर उठायेगा? जिसने अमृत चख लिया है वह फिर क्यों खारा जल पीयेगा? मुनि हुए बाद भद्रबाहु अपने गुरु-महाराज गोवर्द्धनाचार्यकी कृपासे चौदह महापूर्वके भी विद्वान हो गये। जब संघाधीश गोवर्द्धनाचार्यका स्वर्गवास हो गया तब उनके बाद उनके पट्ट पर भद्रबाहु श्रुतकेवली ही बैठे। अब भद्रबाहु आचार्य अपने संघको साथ लिए अनेक देशों और नगरोंमें अपने उपदेशामृत द्वारा भव्य-जनरूपी धानको बढ़ाते हुए उज्जैनकी ओर आये और सारे संघको एक पवित्र स्थानमें ठहरा कर आप आहारके लिए शहरमें गये। जिस घरमें इन्होंने पहले ही पाँव दिया वहाँ एक बालक पलनेमें झूल रहा था, और जो अभी स्पष्ट बोलना तक न जानता था; इन्हें घरमें पाँव देते देख वह सहसा बोल उठा कि "महाराज, जाइए! जाइए!!" एक अबोध बालकको बोलता देखकर भद्रबाहु आचार्य बड़े चकित हुए। उन्होंने उसपर निमित्तज्ञानसे विचार किया तो उन्हें जान पड़ा कि यहाँ बारह वर्षका भयानक दुर्भिक्ष पड़ेगा और वह इतना भीषणरूप धारण करेगा कि धर्म-कर्मकी रक्षा तो दूर रहे, पर मनुष्योंको अपनी जान बचाना भी कठिन हो जायगा। भद्रबाहु आचार्य उसी समय अन्तराय कर लौट आये। शामके समय उन्होंने अपने सारे संघको इकट्ठा कर उससे कहा—साधुओ, यहाँ बारह वर्षका बड़ा भारी अकाल पड़नेवाला है, और तब धर्म-कर्मका निर्वाह होना कठिनही नहीं असंभव हो जायगा। इस लिए आप लोग दक्षिण दिशाकी ओर

जायें और मेरी आयु बहुत ही थोड़ी रह गई है, इस लिए मैं इधर ही रहूँगा। यह कहकर उन्होंने दशपूर्वके जाननेवाले अपने प्रधान शिष्य श्रीविशाखाचार्यको चारित्रकी रक्षाके लिए सारे संघसहित दक्षिणकी ओर रवाना कर दिया। दक्षिणकी ओर जानेवाले मुनि उधर सुख-शान्तिसे रहे। उनका चारित्र निर्विघ्न पला। और सच है, गुरुके वचनोंको माननेवाले शिष्य सदा सुखी रहते हैं।

सारे संघको चला गया देख उज्जैनके राजा चन्द्रगुप्तको उसके वियोगका बहुत रंज हुआ। उससे फिर वे भी दीक्षा ले मुनि बन गये और भद्रबाहु आचार्यकी सेवामें रहे। आचार्यकी आयु थोड़ी रह गई थी, इस लिए उन्होंने उज्जैनमें ही किसी एक बड़के झाड़के नीचे समाधि लेली और भूख-प्यास आदिकी परीषह जीतकर अन्तमें स्वर्गलाभ किया। वे जैनधर्मके सार तत्वको जाननेवाले महान् तपस्वी श्रीभद्रबाहु आचार्य हमें सुखमयी सन्मार्गमें लगावें।

सोमशर्मा ब्राह्मणके वंशके एक चमकते हुए रत्न, जिनधर्मरूप समुद्रके बढ़ानेको पूर्ण चन्द्रमा और मुनियोंके–योगियोंके शिरोमणि श्रीभद्रबाहु पंचम श्रुतकेवली हमें वह लक्ष्मी दें जो सर्वोच्च सुखकी देनेवाली है—सब धन-दौलत, विभव-सम्पत्तिमें श्रेष्ठ है।

६२–बत्तीस सेठ पुत्रोंकी कथा।



लोक और अलोकके प्रकाश करनेवाले–उन्हें देख जानकर उनके स्वरूपको समझानेवाले श्रीसर्वज्ञ भगवान्को नमस्कार कर बत्तीस सेठ पुत्रोंकी कथा लिखी जाती है।

कौशाम्बीमें बत्तीस सेठ थे। उनके नाम थे इन्द्रदत्त, जिनदत्त, सागरदत्त–आदि। इनके पुत्र भी बत्तीस ही थे। उनके नाम समुद्रदत्त, वसुमित्र, नागदत्त, जिनदास–आदि थे। ये सब ही धर्मात्मा थे, जिनभगवान्के सच्चे भक्त थे, विद्वान् थे, गुणवान् थे और सम्यक्त्वरूपी रत्नसे भूषित थे। इन सबकी परस्परमें बड़ी मित्रता थी। यह एक इनके पुण्यका उदय कहना चाहिए जो सब ही धनवान्, सब ही गुणवान्, सब ही धर्मात्मा और सबकी परस्परमें गाढ़ी मित्रता। बिना पुण्यके ऐसा योग कभी मिल ही नहीं सकता।

एक दिन ये सब ही मित्र मिलकर एक केवलज्ञानी योगिराजकी पूजा करनेको गये। भक्तिसे इन्होंने भगवान्की पूजा की और फिर उनसे धर्मका पवित्र उपदेश सुना। भगवान्से पूछने पर इन्हें जान पड़ा कि इनकी उमर अब बहुत थोड़ी रह गई है। तब इस अन्तसमयके आत्महित साधनेके योगको जाने देना उचित न समझ इन सबहीने संसारका भटकना मिटानेवाली जिनदीक्षा ले ली। दीक्षा लेकर

तपस्या करते हुए ये यमुना नदीके किनारे पर आये। यहीं इन्होंने प्रायोपगमन संन्यास ले लिया। भाग्यसे इन्हीं दिनोंमें खूब जोरकी वर्षा हुई। नदी-नाले सब पूर आ गये। यमुना भी खूब चढ़ी। एक जोरका ऐसा प्रवाह आया कि ये सब ही मुनि उसमें बह गये। अन्तमें समाधिसे शरीर छोड़कर ये स्वर्ग गये। सच है, महापुरुषोंका चरित सुमेरुसे कहीं स्थिरशाली होता है। स्वर्गमें दिव्य-सुखको भोगते हुए वे सब जिनेन्द्र भगवान्‌की भक्तिमें सदा लीन रहते हैं।

वे कर्मोंके जीतनेवाले जिनेन्द्र भगवान् सदा जयलाभ करें—उनका पवित्र शासन संसारमें सदा रहकर जीवोंका हित साधन करे, जिनका सर्वोच्च चारित्र अनेक प्रकारके दुःसह कष्टोंको सहकर भी मेरुसा स्थिर रहता है, जिसकी तुलना किसीके साथ नहीं की जा सकती—संसारमें जो सर्वोत्तम आदर्श है। भव-भ्रमण मिटानेवाला है, परम सुखका स्थान है और मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष,–आदि आत्म-शत्रुओंका नाश करनेवाला है—उन्हें जड़ मूलसे उखाड़ फेंक देनेवाला है। भव्यजनो, तुम भी इस उच्च आदर्शके प्राप्त करनेका प्रयत्न करो न? जिससे तुम भी फिर परमसुख–मोक्षके पात्र बन सको। जिनेन्द्र भगवान् इसके लिए तुम्हें शक्ति प्रदान करें यह मनोभावना है। वह सफल हो।

प्रध्वस्तघातिकर्माणः केवलज्ञानभास्कराः।
कुर्वन्तु जगतः शान्तिं वृषभाद्या जिनेश्वराः॥

दूसरा भाग समाप्त।

आराधना-कथाकोशः ।

[द्वितीयखण्डम् ।]





श्रीवीतरागाय नमः

आराधना-कथाकोशः।

(द्वितीयखण्डम्)

२५–मृगसेनधीवरस्य कथा।

नत्वा श्रीमज्जिनं भक्त्या केवलज्ञानलोचनम्।
वक्ष्येऽहिंसाफलप्राप्त-धीवरस्य कथानकम् ॥ १ ॥
जयत्वत्रार्हती वाणी सर्वसन्देहहारिणी।
प्राणिनां प्राणवत्प्रीत्या सेविता शर्मकारिणी ॥ २ ॥
सन्तु मे गुरवो नित्यं मानसे बोधसिन्धवः।
घोरसंसारवारांशि-भव्यानां यत्र सेतवः ॥ ३ ॥
इत्यर्हद्भारतीसाधु-पादस्मरणमंगलम्।
कृत्वा करोमि कर्मारि-शान्तये सत्कथामहम् ॥ ४ ॥
या हिंसा सर्वजन्तूनां नामतोपि भयप्रदा।
सा त्रेधा त्यज्यते सद्भिर्हिंसा सांकल्पिकी सदा ॥ ५ ॥
पितृर्थं देवतार्थं वा शान्त्यर्थं वात्र निर्मिता।
शर्मणे न भवेद्धिंसा किन्तु दुष्कर्मणे मता ॥ ६ ॥
शृण्वन्तु सुधियो भव्या भवभ्रमणनाशनम्।
अहिंसाव्रतमाहात्म्यं श्रेयसे शर्मकारणम् ॥ ७ ॥

अवन्तिविषये रम्ये सम्पदासारसंभृते ।
शिरीषग्रामवास्तव्यो धीवरो मृगसेनवाक् ॥ ८ ॥
स्कन्धावलम्बितस्फार-नापकुद्दलजालकः ।
गच्छन्सिप्रां नदीं मत्स्यान्समानेतुं कदाचन ॥ ९ ॥
मार्गे भूपादिभिर्भव्यैः समर्चितपदद्वयम् ।
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्क-सेवनीयं मुनीश्वरम् ॥ १० ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-स्याद्वादनयकोविदम् ।
सर्वजन्तून्समुद्धर्तुं वद्धकक्षं भटोत्तमम् ॥ ११ ॥
धर्मोपदेशपीयूष-सन्तर्पितजगत्त्रयम् ।
स्ववाक्यकिरणैर्ध्वस्त-मिथ्यात्वतिमिरोत्करम् ॥ १२ ॥
दिगम्बरं महारत्न-त्रयालंकृतविग्रहम् ।
दृष्ट्वा यशोधरं नाम तारहारयशोभरम् ॥ १३ ॥
आसन्नसुकृतोत्संगो दूरं त्यक्त्वा गलादिकम् ।
चक्रे दीर्घतरं भक्त्या प्रणामं तत्पदाम्बुजे ॥ १४ ॥
अहो महामुने स्वामिन् कामद्विपमृगाधिप ।
केनचिद्व्रतदानेन जनोयमनुगृह्यताम् ॥ १५ ॥
इत्युक्त्वा संस्थितो प्यग्रे विनयानम्रमस्तकः ।
तदा यशोधरः स्वामी स्वचित्ते संविचारयन् ॥ १६ ॥
कथं हो हिंसकस्यास्य मनोवृत्तिर्व्रतेऽभवत् ।
युक्तं स्यात्प्राणिनां भावि-शुभाशुभनिभं मनः ॥ १७ ॥
प्रयुक्तावधिबोधेन ज्ञात्वा तुच्छायुषं च तम् ।
संजगाद दयायुक्तो भो सुधीरद्य वासरे ॥ १८ ॥

आदौ जाले समायातो मीनः सन्त्यज्यते त्वया ।
जीवन्नेव महाभाग पालनीयं हि मद्वचः ॥ १९ ॥
यावत्स्वकीयहस्तेन मारितप्राणिजंगलम् ।
नैव प्राप्नोषि तावत्ते तन्निवृत्तिश्च सर्वथा ॥ २० ॥
तथा पञ्चनमस्कार-मंत्रोयं त्रिजगद्धितः ।
सुस्थितेन त्वया ध्येयो दुःस्थितेनाथवा सुधीः ॥ २१ ॥
इति श्रुत्वा मुनेर्वाक्यं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
मत्स्यबन्धोपि सन्तुष्टः सर्वं स्वीकृतवान्भृशम् ॥ २२ ॥
ये कुर्वन्ति गुरोर्वाक्यं प्रमाणं भक्तिनिर्भराः ।
तेषां स्वर्गापवर्गोत्थं सौख्यमायाति लीलया ॥ २३ ॥
तं नत्वा मृगसेनोसौ गत्वा सिप्रां नदीं द्रुतम् ।
मुक्त्वा जालं समासाद्य महामत्स्यं व्रतस्मृतेः ॥ २४ ॥
अहो मे सर्वदा पाप-कर्मणे मत्स्यघातिने ।
दैवयोगाद्व्रतं दत्तं गुरुणा शर्मकारिणा ॥ २५ ॥
तस्मादयं न हन्तव्यो मयेति व्रतशुद्धधीः ।
सारिणस्तस्य चिह्नाय कर्णे चीरीं स्ववाससः ॥ २६ ॥
बध्वा नद्यां तमत्याक्षीन्निर्विघ्नं हि सतां व्रतम् ।
भवेदामृत्युपर्यन्तं सारसम्पद्विधायकम् ॥ २७ ॥
पुनस्तत्तीरणीतीरे दूरं गत्वा स्वकर्मकृत् ।
लब्ध्वा तमेव पाठीनं सोमुचद्भाविसद्गतिः ॥ २८ ॥
एवं तस्मिन्महामत्स्ये मोहजालोपमे तते ।
जाले क्षिप्ते विमुक्ते च पञ्चशो व्रतरक्षणात् ॥ २९ ॥

तदाऽस्तं भुवनोद्भासी भास्करो गतवान्भृशम् ।
निर्गुणाः सगुणाश्चापि के के नास्तं गताः क्षितौ ॥ ३० ॥
ततोसौ मृगसेनस्तु स्वव्रते प्रीतमानसः ।
संस्मरन्स्वगुरोर्वाक्यं चचाल स्वगृहं प्रति ॥ ३१ ॥
आगच्छन्तं तमालोक्य रिक्तं ज्ञात्वा च कारणम् ।
घंटाख्या यमघंटा वा कुपिता तस्य कामिनी ॥ ३२ ॥
रे रे मूढ कथं रिक्तः समायातोसि मद्गृहे ।
भक्ष्यते किं दृषच्चेति जल्पंती निष्ठुरं वचः ॥ ३३ ॥
कुटीरान्तः प्रविश्याशु दत्वा द्वारं दृढं स्थिता ।
सत्यं सामान्यनारीणां लाभे लाभे पतिः प्रियः ॥ ३४ ॥
तदासौ धीवरो बाह्ये स्मरन्पंच नमस्कृतीः ।
उच्छीर्षके निधायोच्चै-र्जीर्णकाष्ठं च सुप्तवान् ॥ ३५ ॥
रात्रौ तस्माद्विनिर्गत्य दुर्जनेनैव पापिना ।
दष्टः सर्पेण निर्मुक्तः प्राणैर्दशभिरुत्सुकैः ॥ ३६ ॥
प्रातःकाले तमःकाले दृष्ट्वा तं घण्टया मृतः ।
पश्चात्तापं तदा कृत्वा रुदित्वा च पुनः पुनः ॥ ३७ ॥
यदेवास्य व्रतं पूतं तदेवं स्यान्ममापि च ।
अयं जन्मान्तरे भर्त्ता भूयान्मे मानसप्रियः ॥ ३८ ॥
कृत्वा निदानकं चेति सार्द्धं तेनैव साहसात् ।
संचक्रे चतुरैर्निंद्यं तया वह्निप्रवेशनम् ॥ ३९ ॥
अथास्त्येव विशालायां पुर्यां विश्वंभरः प्रभुः ।
राज्या विश्वगुणाख्याया-श्चित्तरत्नमलिम्लुचः ॥ ४० ॥

श्रेष्ठी श्रीगुणपालाख्यः परमेष्ठिप्रसन्नधीः ।
धनश्रीः श्रेष्ठिनी तस्याः सुबन्धुस्तनुजा शुभा ॥ ४१ ॥
तस्या धनश्रियश्चैव गर्भे पूर्वस्वपुण्यतः ।
मृगसेनः समागत्य संस्थितो गुणमण्डितः ॥ ४२ ॥
तदा विश्वंभरो राजा विटसंगप्रणष्टधीः ।
नर्मर्ममाख्यसचिव-सूनवे नर्मधर्मणे ॥ ४३ ॥
श्रेष्ठिनं गुणपालं तं सुतां याचितवान् भृशम् ।
सुबन्धुं बन्धुराकारां कुलोद्योतनदीपिकाम् ॥ ४४ ॥
अहो नष्टधिया राज्ञा याचितोहं भयाकुलः ॥
चेद्ददामि सुतां निंद्य-कर्मणे नर्मधर्मणे ॥ ४५ ॥
कुलक्रमक्षयो लोकेऽपवादस्तु भवेन्मम ।
नो चेत्सर्वस्वनाशः स्यात्प्राणापायोपि, मानसे ॥ ४६ ॥
इत्याकल्य्य स श्रेष्ठी श्रीदत्तस्य वणिक्पतेः ।
स्वमित्रस्य गृहे धृत्वा गर्भिणीं निजकामिनीम् ॥ ४७ ॥
स्वापतेयं सुतां चापि गृहीत्वा गूढवृत्तितः ।
कोशाम्बीविषयं प्राप्तो देशत्यागो हि दुर्जनात् ॥ ४८ ॥
अत्रान्तरे मुनी पूतौ श्रीदत्तावाससन्निधौ ।
वासिनोपासकेनोच्चैः समायातौ स्वमन्दिरे ॥ ४९ ॥
शिवादिगुप्तमुन्यादि-गुप्तौ सद्वृत्तमण्डितौ ।
यथाविधि प्रतीक्ष्याशु ताभ्यां दत्वा शुभश्रिये ॥ ५० ॥
अन्नदानं जगत्सारं नाना सम्पद्विधायकम् ।
दुःखदारिद्र्यनिर्नाशि स्वीचक्रे पुण्यमद्भुतम् ॥ ५१ ॥

ततस्तत्प्राङ्गणे वीक्ष्य मुनिगुप्तो धनश्रियम् ।
पतिस्वपुत्रिकासार-कुटुम्बविरहाश्रितम् ॥ ५२ ॥
परावासनिवासोत्थ-महादुःखेन दुःखिताम् ।
अलंकारविनिर्मुक्तां दुष्कृतिं कुकवेरिव ॥ ५३ ॥
गर्भभारभराक्रान्तां दुर्व्यवस्थां समाश्रिताम् ।
ज्येष्ठं मुनीश्वरं प्राह पश्यतां भो महामुने ॥ ५४ ॥
कोपि कष्टप्रदः पुत्रः कुक्षिमस्याः समाश्रितः ।
येनासौ दृश्यते नारी वराकी च मलीमसा ॥ ५५ ॥
तच्छ्रुत्वा शिवगुप्तोसौ मुनीन्द्रो ज्ञानलोचनः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-सप्ततत्वविशारदः ॥ ५६ ॥
संजगौ मुनिगुप्त त्वं मैवं ब्रूहि वृथा वचः ।
यद्यपि श्रेष्ठिनीदृक्च दुःखिता दृश्यते सती ॥ ५७ ॥
गतेषु कतिचिद्दुःख-वासरेषु शुभोदयात् ।
अस्याः पुत्रः पवित्रात्मा जिनधर्मधुरंधरः ॥ ५८ ॥
राजश्रेष्ठिपदाधीशो विश्वंभरमहीपतेः ।
कन्यापतिर्वणिग्वृन्द-सेवितः संभविष्यति ॥ ५९ ॥
तन्निशम्य निजावास-कोष्ठस्थो दुष्टमानसः ।
श्रीदत्तो हन्तुकामोऽभू-त्तदातद्भाविबालके ॥ ६० ॥
तिष्ठति स्म गृहे चैव स पापी बकवत्तराम् ।
कारणेन विना वैरी दुर्जनः सुजनो भवेत् ॥ ६१ ॥
धनश्रीः श्रेष्ठिनी प्राप्य प्रसूतिदिवसं सती ।
सासूत तनयं साक्षात्पुण्यपुंजमिवापरम् ॥ ६२ ॥

प्रसूतिदुःखतो मूर्च्छीं संगतां तां धनश्रियम् ।
ज्ञात्वा श्रीदत्तकः पापी स्वचित्ते कृतचिन्तनः ॥ ६३ ॥
वह्निवद्बालकोप्येप स्वाश्रयक्षयकारकः ।
इत्यालोच्य मृतो जातो बालको जरतीजनैः ॥ ६४ ॥
कृत्वोद्घोषं समाकार्य चाण्डालं चण्डकर्मकृत् ।
बालं तस्यार्पयामास वधार्थी स वणिक्कुधीः ॥ ६५ ॥
शत्रुजोपि न हन्तव्यो बालकः किं पुनर्वृथा ।
हा कष्टं किं न कुर्वन्ति दुर्जनाः फणिनो यथा ॥ ६६ ॥
मातंगोपि तमादाय गत्वैकान्ते लसत्प्रभम् ।
तदाकारं समालोक्य शर्मकोटिविधायकम् ॥ ६७ ॥
संजातकरुणासार-सुधासंपूरिताशयः ।
तत्रार्भकं सुखं धृत्वा स्वयं च गतवान् गृहम् ॥ ६८ ॥
श्रीदत्तकस्य तस्यैव भगिन्याः पतिरुत्तमः ।
इन्द्रदत्तो वणिग्वर्यो विक्रयाय विनिर्गतः ॥ ६९ ॥
गोष्टिने च समायातः श्रुत्वा गोपालजल्पनैः ।
चन्द्रकान्तोत्पलोत्पीठे गोवत्साद्यैश्च सेविते ॥ ७० ॥
सुखासीनं समालोक्य बालं वा बालभास्करम् ।
नीत्वा पुत्रविहीनत्वात्पुत्रबुद्ध्या प्रहर्षतः ॥ ७१ ॥
हे राधे गूढगर्भोत्थं पुत्रं ते त्वं गृहाण वै ।
इत्युक्त्वा निजभार्यायै राधायै परमादरात् ॥ ७२ ॥
दत्वा स्तनंधयोत्पत्तेः संचक्रेसौ महोत्सवम् ।
प्राणिनां पूर्वपुण्याना-मापदा सम्पदायते ॥ ७३ ॥

भूरिविद्याविनोदाढ्याऽनंगसेनाभिधानिका ।
पण्याङ्गनाम्रवृक्षस्य मूले सुप्तं निरीक्ष्य तम् ॥ ९६ ॥
पूर्वजन्मोपकारेण जातस्नेहा महादरात् ।
शनैर्लेखं समादाय ज्ञात्वा तच्छ्रेष्ठिचेष्टितम् ॥ ९७ ॥
तान्यक्षराण्युपायेन परामृश्य विचक्षणा ।
तस्मिन्नेव तदा पत्रे लोचनाञ्जनभाजनात् ॥ ९८ ॥
गृहीतकज्जलेनोच्चै-र्वल्लीनिर्यासशालिना ।
संलिखित्वेति मद्भार्या मन्यते मां यदि प्रियम् ॥ ९९ ॥
पुत्रो महाबलश्चापि चेन्मां जानाति तातकम् ।
तदा सर्वप्रकारेण कन्यास्मै धनकीर्त्तये ॥ १०० ॥
शाखासप्तकपर्यन्तं शोधिताय महात्मने ।
ममापेक्षां विना शीघ्रं दानमानादिपूर्वकम् ॥ १०१ ॥
दातव्या श्रीमतिश्चेति पूर्ववत्पत्रमुत्तमम् ।
कण्ठे तस्य निबध्योच्चै-र्जीवितं वा हि सागमत् ॥ १०२ ॥
ततः श्रीधनकीर्त्तिस्तु चिरेणोत्थाय शुद्धधीः ।
श्रीदत्तस्य गृहं गत्वा दत्वा लेखं तयोर्द्वयोः ॥ १०३ ॥
मातृपुत्रकयोः शीघ्रं श्रीमत्या वल्लभोभवत् ।
संभवेत्कृतपुण्यानां महापायेपि सत्सुखम् ॥ १०४ ॥
तां वार्तां च समाकर्ण्य श्रीदत्तो व्यग्रमानसः ।
प्रत्यागत्य पुरीबाह्ये चण्डिकामन्दिरे पुनः ॥ १०५ ॥
संकेतपुरुषं धृत्वा तद्वधाय दुराशयः ।
समागत्य गृहं प्राह प्रच्छन्नं तनुजापतिम् ॥ १०६ ॥

धनकीर्त्ते शृणु व्यक्तं मदीयेप्यस्ति वंशके ।
आचारोयं सुधी रात्रि-मुखे कात्यायनीगृहे ॥ १०७ ॥
गृहीत्वा मापनिर्माणं कीरकाकबलिं द्रुतम् ।
संछाद्य रक्तवस्त्रेण पुत्रीकान्तेन सादरम् ॥ १०८ ॥
हस्तस्थकंकणेनोच्चै-र्गन्तव्यं सर्वशान्तये ।
तच्छ्रुत्वा धनकीर्त्तिस्तु यथादेशस्तथास्तु वै ॥ १०९ ॥
गदित्वेति समादाय तं बलिं भद्रमानसः ।
निर्गतस्तु पुरीबाह्ये दृष्टोसौ शालकेन च ॥ ११० ॥
महाबलेन पृष्टस्तु हंहो त्वं यासि कुत्रचित् ।
एकाकी तमसि व्याप्ते तन्निशम्य जगाद सः ॥ १११ ॥
महाबल बलिं दातुं दुर्गायै गम्यते मया ।
मातुलस्य निदेशेन तदाकर्ण्य महाबलः ॥ ११२ ॥
प्राहैवं तत्र गच्छामि याहि त्वं निजमन्दिरम् ।
तातो रोशिष्यति व्यक्तं सर्वं जानेऽहकं तदा ॥ ११३ ॥
इत्युच्चैस्तन्निषिद्धोसौ धनकीर्त्तिः स्वपुण्यतः ।
निर्विघ्नं गृहमायातः स च प्राप्तो यमालयम् ॥ ११४ ॥
पूर्वपुण्येन जन्तूनां कालवह्निर्जलायते ।
स्थलायते समुद्रोपि शत्रुर्मित्रायते भृशम् ॥ ११५ ॥
हालाहलं सुधाभावं यात्यापत्सम्पदा भवेत् ।
विघ्ना नश्यन्ति निःशेषा महाभीत्येव सत्वरम् ॥ ११६ ॥
तस्मात्पुण्यं बुधैः कार्यं स्वर्मोक्षसुखबीजकम् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तं सर्वदुःखौघनाशकम् ॥ ११७ ॥

श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोजं नित्यं भक्त्या समर्चयन् ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः पात्रदानेषु तत्परः ॥ १४० ॥
नित्यं परोपकारादि-सत्कर्मस्थितिमाचरत् ।
बह्वालपेन किं कार्यं यत्फलं सुकृतोदयात् ॥ १४१ ॥
तत्तत्सर्वं समासाद्य पूर्वपुण्यप्रभावतः ।
अन्वभूत्सुचिरं सौख्यं जगच्चेतोनुरञ्जयन् ॥ १४२ ॥
अथैकदा महाश्रेष्ठी गुणपालो गुणोज्ज्वलः ।
सुधीः श्रीधनकीर्त्यादि-पुत्रमित्रादिसंयुतः ॥ १४३ ॥
दर्शनार्थं समायाता-नंगसेनायुतोपि च ।
श्रीयशोध्वजनामानं मुनीन्द्रं त्रिजगद्धितम् ॥ १४४ ॥
अभिवन्द्य महाभक्त्या प्रीत्याप्रच्छच्च तं गुरुम् ।
स्वामिन्ननेन पुत्रेण पुण्यं श्रीधनकीर्त्तिना ॥ १४५ ॥
किं पुरोपार्जितं येन बालत्वेपि महानसौ ।
नाना दुष्टोपसर्गौघं हेलया जयति स्म च ॥ १४६ ॥
कीर्त्तिमान्सारलक्ष्मीशः संजातः सारसौख्यभाक् ।
महाविज्ञानसम्पन्नो दाता भोक्ता दयापरः ॥ १४७ ॥
तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि भगवन्वक्तुमर्हसि ।
तदा यशोध्वजः स्वामी चतुर्ज्ञानविराजितः ॥ १४८ ॥
स जगौ करुणासिन्धुः श्रूयतां भो वणिक्पते ।
अवन्तिविषये पूर्वं शिरीषग्रामवासकः ॥ १४९ ॥
मृगादिसेनको मत्स्य-बन्धकः किल त्वेकदा ।
यशोधरमुनेर्वाक्या-देकस्मिन्वासरे मुदा ॥ १५० ॥

अहिंसाव्रतमाराध्य जातोसौ धनकीर्त्तिभाक् ।
महाभव्यो जगत्सार-सम्पदाप्रमदापतिः ॥ १९१ ॥
या षण्टा कामिनी पूर्वं निदानवशवर्त्तिनी ।
सा श्रीमती प्रिया जाता सती सद्गुणमण्डिता ॥ १९२ ॥
पञ्चकृत्वो विमुक्तस्तु यो मत्स्यः स क्रमेण वै ।
अभूदनंगसेनेयं परोपकृतितत्परा ॥ १९३ ॥
एतत्सर्वमहिंसायाः फलं श्रेष्ठिन् विजृंभते ।
जैनधर्मेण जन्तूनां किं न स्याद्भुवनत्रये ॥ १९४ ॥
इत्याकर्ण्य मुनेर्वाक्यं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मे बभुवुस्ते तरां रताः ॥ १९५ ॥
श्रुत्वा भवान्तरं श्रीमान् धनकीर्त्तिः प्रसन्नधीः ।
श्रीमती कामिनी सापि गणिकानंगसेनिका ॥ १९६ ॥
त्रयो जातिस्मृतिं प्राप्य त्रिधा वैराग्यमाश्रिताः ।
धर्मं धर्मफलं ज्ञात्वा संजातास्तुष्टमानसाः ॥ १९७ ॥
तस्यैव सद्गुरोः पाद-मूले सेवापरायणः ।
श्रेष्ठी श्रीधनकीर्त्तिस्तु कीर्त्या व्याप्तजगत्त्रयः ॥ १९८ ॥
केशपाशं समुन्मूल्य मोहपाशमिवापरम् ।
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं जगत्तापनिवारिणीम् ॥ १९९ ॥
निर्मलं सुतपस्तप्त्वा भव्यान्सम्बोध्य युक्तितः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-धर्मे कृत्वा प्रभावनाम् ॥ १६० ॥
रत्नत्रयं समाराध्य संन्यासविधिना सुधीः ।
सर्वार्थसिद्धिमत्सौख्यं प्राप्तवान्भाविकेवली ॥ १६१ ॥

अन्यग्रन्थे—

पञ्चकृत्वः किलैकस्य मत्सस्याहिंसनात्पुरा ।
अभूत्पञ्चापदोतीत्य धनकीर्त्तिः पतिः श्रियः ॥

श्रीमतिस्तु तथानंग-सेनासौ भोगनिस्पृहे ।
यथायोग्यं समादाय दीक्षां दुःखौघनाशिनीम् ॥ १६२ ॥

स्वस्वभावानुसारेण स्वर्गलोकं समाश्रिते ।
आराध्य शासनं जैनं प्रापुः केके न सत्सुखम् ॥ १६३ ॥

इत्थं श्रीजिनसूत्रतो विरचिताहिंसाकथा शर्मणे
संक्षेपेण मयाल्पबुद्धिवशिना धर्मानुरागेण च ।
नाना सारसुखप्रमोदजननी विघ्नौघनिर्नाशिनी
भव्यानां भवशान्तये भवतु वै संभाविता मानसे ॥ १६४ ॥

जातः श्रीमति मूलसंघतिलके श्रीकुन्दकुन्दान्वये
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः सद्बोधिसिन्धुर्महान् ।
तच्छिष्यः मरमार्थपंडितनुतः श्रीसिंहनन्दीमुनि-
र्भव्यानां भवतारकोतिचतुरः सूरिश्चिरं नन्दतु ॥ १६५ ॥

इति कथाकोशेऽहिंसाव्रते मृगसेनधीवरस्य कथा समाप्ता ।

२६-वसुनृपस्य कथा ।

नत्वा जिनं जगद्बन्धुं सुरासुरसमर्चितम् ।
वक्ष्ये सत्यवचोदोपे चरित्रं वसुभूपतेः ॥ १ ॥

नगर्यां स्वस्तिकावत्यां राजा विश्वावसुः सुधीः ।
तद्राज्ञी श्रीमती तस्यां वसुनामा सुतोभवत् ॥ २ ॥
तत्र क्षीरकदम्बाख्यः क्षीरवन्निर्मलाशयः ।
उपाध्यायो महाधीमान् विप्रवंशशिरोमणिः ॥ ३ ॥
श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोज-महापूजाविधायकः ।
जैनहोमक्रियामंत्रै-र्भव्यानां शान्तिदायकः ॥ ४ ॥
तद्भार्या स्वस्तिमत्याख्या तयोः पुत्रश्च पर्वतः ।
पापी दुष्कर्मकर्त्ताभू-द्विचित्रा संसृतेः स्थितिः ॥ ५ ॥
एको वैदेशिको विप्रो नारदो निर्मदो महान् ।
जिनेन्द्रपादपद्मेषु चञ्चरीकोतिनिश्चलः ॥ ६ ॥
स वसुः पर्वतः सोपि नारदश्च गुणोज्ज्वलः ।
त्रयः क्षीरकदम्बस्य पार्श्वे शास्त्रं पठन्ति ते ॥ ७ ॥
वसुनारदनामानौ सञ्जातौ शास्त्रकोविदौ ।
पर्वतस्य स्वपापेन शास्त्रं नायाति निर्मलम् ॥ ८ ॥
एकदा स्वपतिं प्राह कोपात्स्वस्तिमती प्रिया ।
स्वपुत्रं भो त्वकं नैव व्यक्तं पाठयसीति च ॥ ९ ॥
प्रोक्तं क्षीरकदम्बेन पुत्रस्ते मूढमानसः ।
किञ्चिन्न वेत्ति पापात्मा मया किं क्रियते प्रिये ॥ १० ॥
विश्वासार्थं ततस्तेन त्रयश्छात्राः स्वबुद्धितः ।
प्रोक्ता भो पुत्रका यूयं शीघ्रमेतैः कपर्दकैः ॥ ११ ॥
भक्षयित्वापणं गत्वा चणकांश्च कपर्दकान् ।
समादाय स्वचातुर्यात्समागच्छथ मन्दिरम् ॥ १२ ॥

ततस्ते तान्समादाय निर्गता गुरुवाक्यतः ।
गत्वापणं स निर्बुद्धिः पर्वतस्तैः कपर्दकैः ॥ १३ ॥
चणाकान्भक्षयित्वा च रिक्तः स्वगृहमागतः ।
अहो पुण्यं विना जन्तोः क बुद्धिः प्रीतिदायिनी ॥ १४ ॥
तौ द्वौ विचक्षणौ गत्वा बहुस्थानेषु तान्मुदा ।
अर्थव्याजेन भुक्त्वोच्चै-रागतौ सकपर्दकौ ॥ १५ ॥
तथा पिष्टमयांश्छागान्दत्वा तेन त्रयोपि ते ।
यत्र कोपि न भो पुत्राः पश्यत्येषां च तत्र वै ॥ १६ ॥
कर्णच्छेदो विधातव्यः प्रोक्त्वेति प्रेपिताः पुनः ।
ततस्ते गुरुवाक्येन तान्गृहीत्वा विनिर्ययुः ॥ १७ ॥
पर्वतस्तु कचिद्देशे तत्कृत्वा गृहमागतः ।
गत्वा सर्वत्र तौ द्वौ च वनादौ निजमानसे ॥ १८ ॥
अहो सर्वे प्रपश्यन्ति चन्द्रार्कगृहतारकाः ।
व्यन्तराश्चामरा धीराः पक्षिणः पशवस्तथा ॥ १९ ॥
ज्ञानिनो मुनयश्चापि वार्यते ततु केन च ।
इति ज्ञात्वा न तत्कृत्वा गृहीत्वा तौ तथैव च ॥ २० ॥
समागत्य गृहं भक्त्या नत्वा क्षीरकदम्बकम् ।
स्ववृत्तं प्राहतुः सर्वं बुद्धिः कर्मानुसारिणी ॥ २१ ॥
उपाध्यायस्तदावीक्ष्य चातुरीं छात्रयोस्तयोः ।
जगौ स्वास्तिमतीं भार्यां दृष्टं रे सर्वचेष्टितम् ॥ २२ ॥
एकदा तेन विप्रेण स वसुः कृतदोषकः ।
यष्ट्या संकुट्यमानस्तु स्वस्तिमत्या सुरक्षितः ॥ २३ ॥

तस्यै तेन वरो दत्तस्तयोक्तं पुत्र मे यदा ।
कार्यं भविष्यति व्यक्तं तदायं दीयते त्वया ॥ २४ ॥
अथैकदा सुधीः क्षीर-कदम्बोसौ विचक्षणः ।
सेव्यमानस्त्रिभिच्छात्रै-रटव्यां पठने गतः ॥ २५ ॥
तत्र ते स्वच्छभूभागे चत्वारो निजलीलया ।
बृहदारण्यकं शास्त्रं पठन्ति स्म प्रयुक्तितः ॥ २६ ॥
तत्रैकस्मिन्प्रदेशे तु महान्तौ चारणौ मुनी ।
स्वस्वाध्यायं गृहीतुं च संस्थितौ भुवनोत्तमौ ॥ २७ ॥
तान्दृष्ट्वा लघुना प्रोक्तं मुनिना विनयेन भो ।
पश्य स्वामिन्कथं चैते संपठन्ति शुचि क्षितौ ॥ २८ ॥
तच्छ्रुत्वा स गुरुः प्राह मुनीन्द्रो ज्ञानलोचनः ।
एतेषु द्वौ प्रवर्त्तेते स्वपुण्यादूर्द्ध्वगामिनौ ॥ २९ ॥
द्वौ नरौ निजपापेन निन्द्यौ नरकगामिनौ ।
स्यात्स्वकर्मवशाज्जन्तुः सुखदुःखैकभाजनम् ॥ ३० ॥
मुनेर्वाक्यं समाकर्ण्य सुधीः क्षीरकदम्बवाक् ।
छात्रान्गृहं विसृज्याशु स्वयं नत्वा मुनीश्वरम् ॥ ३१ ॥
पृष्टवान्भो मुने ब्रूहि जैनतत्वविदांवर ।
कौ भाविसुखिनौ देव कौ द्वौ संभाविनारकौ ॥ ३२ ॥
ततोसौ मदनद्वेषी संजगाद महामुनिः ।
सुधीर्विप्रकुलाधीश त्वं जिनेन्द्रप्रभक्तिमान् ॥ ३३ ॥
नारदश्चोर्द्ध्वगामी स्यात्स्वपुण्योत्करसम्बलः ।
द्वौ छात्रौ ते ध्रुवं भावि-नारकौ वसुपर्वतौ ॥ ३४ ॥

तत्समाकर्ण्य विप्रोसौ नत्वा मुनिपदद्वयम् ।
पुत्रखेदात्सखेदस्तु चिन्तयन्निजचेतसि ॥ ३५ ॥
काले कल्पशते चापि नान्यथा मुनिभाषितम् ।
ततः स्वगृहमायातः सर्वशास्त्रविचक्षणः ॥ ३६ ॥
एकदा स महाराजः सुवीर्विश्वावसुस्तराम् ।
वसुं राज्ये समारोप्य सम्प्राप्तः सुतपोवनम् ॥ ३७ ॥
तदा राज्यं प्रकुर्वाणो वसुश्चैकदिने मुदा ।
क्रीडां कर्तुं वनं गत्वा तत्राकाशाच्च पक्षिणः ॥ ३८ ॥
प्रस्खल्य पतितान्वीक्ष्य विस्मयाक्रान्तमानसः ।
अत्रास्ति कारणं किञ्चि-दिति ज्ञात्वा स्वचेतसि ॥ ३९ ॥
मुक्त्वा वाणं परीक्षार्थं तत्प्रदेशं प्रति ध्रुवम् ।
तथा तं स्खलितं दृष्ट्वा गत्वा तत्र स्वयं पुनः ॥ ४० ॥
मत्वा प्रभुः करस्पर्शा-दाकाशस्फटिकोद्भवम् ।
महास्तंभं तमानीय स्वगेहं गूढवृत्तितः ॥ ४१ ॥
तेन स्तंभेन निर्माप्य महापादचतुष्टयम् ।
सिंहासनं समारुह्य स्वयं लोके स धूर्तकः ॥ ४२ ॥
सत्यवाक्यप्रभावेन वसोः सिंहासनं महत् ।
आकाशे संस्थितं चेति कृत्वा स्फीतिं प्रपञ्चतः ॥ ४३ ॥
सेव्यमानो जनैर्नित्यं संस्थितः कपटाश्रितः ।
जन्तुर्मायारतो मूढः किं: करोति न वञ्चनम् ॥ ४४ ॥
अथ क्षीरकदम्बोसौ सद्दृष्टिर्जिनभक्तिभाक् ।
विरक्तः संसृतेर्भूत्वा मुनिर्जातो गुणोज्ज्वलः ॥ ४५ ॥

तपः कृत्वा जिनेन्द्रोक्तं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
प्रान्ते विधाय संन्यासं स्वर्गलोकं सुधीर्ययौ ॥ ४६ ॥
पर्वतस्तु पितुः स्थाने स्थित्वा छात्रान्स्वबुद्धितः ।
शास्त्रं पाठयति स्मोच्चैः स्ववृत्तिस्थितिहेतवे ॥ ४७ ॥
नारदोपि सुधीः श्रीम-ज्जिनपादाब्जषट्पदः ।
तदा देशान्तरं प्राप्तो लीलया शुद्धमानसः ॥ ४८ ॥
ततो भूरि दिनैः सोपि नारदः सर्वशास्त्रवित् ।
पर्वतस्य समीपं तु समायातो विनोदतः ॥ ४९ ॥
तत्प्रस्तावे दुरात्मासौ पर्वतः पापमण्डितः ।
अजैर्यष्टव्यमित्येत-द्वाक्ये शास्त्रे समागते ॥ ५० ॥
अजैश्छागैः प्रयष्टव्यं व्याख्यानं कृतवानिति ।
तच्छ्रुत्वा नारदेनोक्त-मजैर्धान्यैस्त्रिवार्षिकैः ॥ ५१ ॥
उपाध्यायेन सम्प्रोक्तं तदस्माकमिति स्फुटम् ।
त्वया किं लपितं मूढ महापापविधायकम् ॥ ५२ ॥
पापात्मा पर्वतः प्राह यष्टव्यं छागकैर्ध्रुवम् ।
अहो जानन्नपि प्राणी वक्त्येवं भाविदुर्गतिः ॥ ५३ ॥
तौ विवादं तदा कृत्वा जिह्वाच्छेदस्थितिं ध्रुवम् ।
वचः प्रमाणीकृत्योच्चैः संस्थितौ वसुभूपतेः ॥ ५४ ॥
तदा स्वस्तिमती प्राह पर्वतं रे दुराशयम् ।
विरूपकं त्वया चक्रे व्याख्यानं पापकारणम् ॥ ५५ ॥
पिता ते जैनधर्मज्ञो नित्यं पूतैस्त्रिवार्षिकैः ।
धान्यैरेव करोति स यज्ञं पुण्याशयः सुधीः ॥ ५६ ॥

इत्यादिकं क्रुधा प्रोक्त्वा पुनः पुत्रस्य मोहतः ।
ब्राह्मणी सा द्रुतं गत्वा वसोः पार्श्वे जगाद च ॥ ५७ ॥
देहि मे तं वरं देव प्रस्तावश्चाद्य विद्यते ।
त्वया प्रमाणीकर्त्तव्यं पर्वतस्य वचः स्फुटम् ॥ ५८ ॥
स्वयं पापीजनश्चैवं सपापान्कुरुते परान् ।
विषोपेतो यथा सर्पः करोति सविषाञ्जनान् ॥ ५९ ॥
प्रभाते च तयोर्वादे पापात्मा वसुभूपतिः ।
उपाध्यायोदितं वाक्यं जानन्नपि हृदि स्फुटम् ॥ ६० ॥
पर्वतस्य वचः सत्यं सम्प्रोक्त्वेति क्षितौ तदा ।
कष्टादाकण्ठपर्यन्तं प्रविष्टो विष्टरान्वितः ॥ ६१ ॥
नारदः प्राह भो भूप यथार्थं गुरुभाषितम् ।
अद्यापि च द्रुतं ब्रूहि मागास्त्वं दुर्गतिं वृथा ॥ ६२ ॥
इत्युच्चैर्भणितः सोपि वसुभूपः स्वपापतः ।
पर्वतोक्तं भवेत्सत्यं प्रोक्त्वा भूमिं तरां श्रितः ॥ ६३ ॥
ततो मृत्वातिकष्टेन सप्तमं नरकं गतः ।
पापिनां दुष्टचित्तानामीदृशी कुमतिर्भवेत् ॥ ६४ ॥
तस्मात्प्राणक्षये चापि कष्टकोटिविधायकम् ।
असत्यवचनं सद्भिर्न वाच्यं शुभमिच्छुभिः ॥ ६५ ॥
तदा तं पर्वतं दुष्टं बहिः कृत्वा खरादिभिः ।
नारदः पूजितः सर्वैः सज्जनैर्भक्तिभारतः ॥ ६६ ॥
नारदोपि सुधीस्तत्र जैनधर्मधुरन्धरः ।
सर्वशास्त्रप्रवीणोसौ सारधर्मोपदेशतः ॥ ६७ ॥

राज्यं गिरितटाख्याया नगर्याः प्राप्य पुण्यतः ।
दीर्घकालं सुखं भुक्त्वा दानपूजामतान्वितः ॥ ६८ ॥
प्रान्ते वैराग्यभावेन जैनीं दीक्षां सुखप्रदाम् ।
समादाय मुनिर्भूत्वा भव्यान्सम्बोध्य शुद्धधीः ॥ ६९ ॥
स्वयं रत्नत्रयं पूतं समाराध्य विचक्षणः ।
कृत्वा सारतपः स्वामी जिनपादाब्जभक्तिमान् ॥ ७० ॥
प्राप्तः सर्वार्थसिद्धिं हि प्रोल्लसच्छर्मदायिनीम् ।
जैनधर्मप्रसादेन किं न स्याद्भव्यदेहिनाम् ॥ ७१ ॥
जित्वा सर्वकुवादिनो दृढतरः श्रीनारदो निर्मदः
श्रीमत्सारजिनेन्द्रशासनमहासिन्धोर्लसच्चन्द्रमाः ।
धृत्वा सारतपः प्रसिद्धमहिमा सर्वार्थसिद्धिं श्रितः
स श्रीमान्द्विजवंशमण्डनमणिः कुर्यात्सतां मंगलम् ॥ ७२ ॥

इति कथाकोशेऽनृतदोषाख्याने वसुराज्ञः कथा समाप्ता ।

२७-श्रीभूतेःकथा ।

श्रीजिनं शर्मदं नत्वा सुरासुरसमर्चितम् ।
स्तेयदोषोद्भवं वृत्तं वक्ष्ये श्रीभूतिसंश्रितम् ॥ १ ॥
सुधीः सिंहपुरे राजा सिंहसेनोतिधार्मिकः ।
रामदत्ता महाराज्ञी सर्वकार्यविचक्षणा ॥ २ ॥
अभूत्पुरोहितस्तस्य श्रीभूतिः सोपि विप्रकः ।
सत्यवक्ताहमित्युच्चैः स्वस्फीतिं मायया व्यधात् ॥ ३ ॥

पद्मखंडपुरे चाथ सुमित्राख्यो वणिग्वरः ।
पुत्रः समुद्रदत्तोस्य सुमित्राकुक्षिसंभवः ॥ ४ ॥
वाणिज्येनैकदासौ च सुधीः सिंहपुरं गतः ।
तत्र श्रीभूतिविप्रस्य पार्श्वे सद्रत्नपञ्चकम् ॥ ५ ॥
धृत्वा समुद्रदत्तोगा-द्रत्नद्वीपं, धनार्जनम्— ।
कृत्वा यावत्समायाति समुद्रे पापकर्मतः ॥ ६ ॥
याने संस्फुटिते मृत्युं सम्प्राप्ता वहवो जनाः ।
अहो पुण्यं विना लोके कार्यसिद्धिर्न देहिनाम् ॥ ७ ॥
कष्टात्समुद्रदत्तोसौ प्राप्य सिंहपुरं परम् ।
पार्श्वे श्रीभूतिविप्रस्य रत्नार्थी निर्धनो गतः ॥ ८ ॥
आगच्छन्तं तमालोक्य दूरतो दुष्टमानसः ।
लोकानामग्रतो पापी श्रीभूतिर्लोभसंचयः ॥ ९ ॥
शृण्वन्त्वंहो अयं कोपि श्रूयते भग्नयानकः ।
धनक्षयात्समायाति भूत्वा च ग्रहिलस्तराम् ॥ १० ॥
मन्येहं मां वृथा नत्वा महादुःखेन पीडितः ।
संयाचिष्यति रत्नानी-त्युक्त्वासौ ब्राह्मणः स्थितः ॥ ११ ॥
तदा समुद्रदत्तोसौ तं प्रणम्य जगाद च ।
देहि मे पञ्च रत्नानि श्रीभूते ब्राह्मणोत्तम ॥ १२ ॥
इत्याकर्ण्य तदा तेन किं भो लोका मयोदितम् ।
सत्यं जातमिति प्रोक्त्वा ग्रहिलोयं वहिः कृतः ॥ १३ ॥
ये पापिनो भवन्त्यत्र परेषां धनलम्पटाः ।
ते दुष्टा निन्दितं कर्म किं न कुर्वन्ति लोभतः ॥ १४ ॥

ततो वणिग्वरः सोपि वञ्चितस्तेन पापिना ।
न दत्ते पञ्च रत्नानि श्रीभूतिर्मे द्विजः कुधीः ॥ १५ ॥
सर्वत्र नगरीमध्ये कृत्वेत्याक्रोशकं सदा ।
तथा पश्चिमरात्रौ च राजमन्दिरसन्निधौ ॥ १६ ॥
पूत्कारं संकरोत्येवं षण्मासेषु गतेषु च ।
रामदत्ता तदा राज्ञी सिंहसेनं नृपं जगौ ॥ १७ ॥
नायं देव ग्रहग्रस्तो नित्यमेवैकवाक्यतः ।
इत्युक्त्वा च ततो द्यूते तया राज्या स्वबुद्धितः ॥ १८ ॥
पृष्टः पुरोहितश्चेति ब्रूहि भो द्विजसत्तम ।
अद्यः किं भोजनं भुक्तं भवद्भिः सोशनं जगौ ॥ १९ ॥
साभिज्ञानेन तेनोच्चैः श्रीभूतिस्त्रीसमीपके ।
धात्री निपुणमत्याख्या प्रेषिता रत्नहेतवे ॥ २० ॥
नैव दत्तानि रत्नानि तया श्रीभूतिभार्यया ।
रामदत्ता ततो राज्ञी द्यूते जित्वा प्रपञ्चतः ॥ २१ ॥
पुनः संप्रेषयामास तन्नामाङ्कितमुद्रिकाम् ।
ब्राह्मणी सा तदा नैव ददौ रत्नानि लोभतः ॥ २२ ॥
पुनर्यज्ञोपवीतेन धात्र्या संप्रार्थिता सती ।
सा तस्यै तानि रत्नानि संददाति स्म भीतितः ॥ २३ ॥
ततो राज्या स्वनाथस्य दर्शितानि तया मुदा ।
तेन श्रीसिंहसेनेन रत्नान्यादाय धीमता ॥ २४ ॥
क्षिप्त्वा स्वकीयरत्नानां मध्येसौ भणितो वणिक् ।
यानि ते त्वं गृहाणेति तानि भो ग्रहिल ध्रुवम् ॥ २५ ॥

ततो समुद्रदत्तोसौ स्वरत्नान्येव शुद्धधीः ।
संजग्राह सतां चित्ते परद्रव्यं विषोपमम् ॥ २६ ॥

सिंहसेनो महीनाथस्तदा सन्तुष्टमानसः ।
तस्मै वणिग्वरायोच्चै-र्दिव्यं श्रेष्ठिपदं ददौ ॥ २७ ॥

ततो भूपेन रुष्टेन पृष्टा धर्माधिकारिणः ।
ब्रूत भो रत्नचोरस्य किं कार्यं चास्य पापिनः ॥ २८ ॥

तैरुक्तं देव दण्डोस्य महादोषविधायिनः ।
सर्वस्वहरणं मल्ल-त्रिंशत्सन्मुष्टयोथवा ॥ २९ ॥

कांस्यपात्रत्रयापूर्ण-नवगोमयभक्षणम् ।
इति त्रिविधदण्डेन दण्डितः पुररक्षकैः ॥ ३० ॥

आर्त्तध्यानेन मृत्वासौ श्रीभूतिः पापपण्डितः ।
कष्टतो दुर्गतिं प्राप विप्रको धनलम्पटः ॥ ३१ ॥

इति ज्ञात्वा महाभव्यैः स्तेयत्वं कष्टकोटिदम् ।
त्यक्त्वा श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते धर्मे कार्या मतिः सदा ॥ ३२ ॥

असुरसुरनरेन्द्रैः खेचरेन्द्रैः प्रपूज्यो
जिनपतिरिह भक्त्या सर्वसन्देहहर्त्ता ।
तदुदितवरवाणी सारसौख्यस्य खानि-
र्दिशतु मम शिवानि श्रीप्रभाचन्द्रदेवः ॥ ३३ ॥

इति कथाकोशे स्तेयदोषस्य श्रीभूतिकथा समाप्ता ।

२८–नीली-कथा ।

अथ श्रीजिननाथस्य नत्वा पादद्वयं हितम् ।
चतुर्थाणुव्रताख्यानं वक्ष्ये नीलीसमाश्रितम् ॥ १ ॥
क्षेत्रेस्मिन्भारते पूते लाटदेशे मनोहरे ।
श्रीमत्सर्वज्ञनाथोक्त-धर्मकार्यैरनुत्तरे ॥ २ ॥
पत्तने भृगुकच्छाख्ये सर्ववस्तुशतैर्भृते ।
राजाभूद्वसुपालाख्यो सावधानः प्रजाहिते ॥ ३ ॥
श्रेष्ठी श्रीजिनदत्तोभू-द्वणिक्सन्दोहसुन्दरः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां चरणार्चनतत्परः ॥ ४ ॥
तत्प्रिया जिनदत्ताख्या साध्वी सद्दानमण्डिता ।
नीली नाम्नी तयोः पुत्री मुनीनामिव शीलता ॥ ५ ॥
तत्रैवान्यो वाणिग्जातो मिथ्यादृष्टिर्विनष्टधीः ।
नाम्ना समुद्रदत्तोस्य भार्या सागरदत्तिका ॥ ६ ॥
पुत्रः सागरदत्तोभू-देकदा जिनमन्दिरे ।
महापूजाविधौ नीलीं सर्वाभरणभूषिताम् ॥ ७ ॥
कायोत्सर्गस्थितां दिव्यां तां विलोक्य सुनिर्मलाम् ।
जगौ सागरदत्तोसौ विह्वलीभूतमानसः ॥ ८ ॥
किमेषा देवता काचित्किमेषा नागकन्यका ।
किमेषा खेचरीचारु-रूपसौन्दर्यमण्डिता ॥ ९ ॥
तच्छ्रुत्वा तस्य मित्रेण प्रियदत्तेन जल्पितम् ।
जिनदत्तमहाश्रेष्ठि-पुत्रीयं कुलदीपिका ॥ १० ॥

तदाकर्ण्य तदासक्तो भूत्वैषा प्राप्यते कथम् ।
इति चिन्ताग्रहग्रस्तो जातोसौ दुर्बलस्तराम् ॥ ११ ॥
हरिर्लक्ष्म्या हरो देवो गंगया जडरूपया ।
उर्वश्या खण्डितो ब्रह्मा हता कामेन के न च ॥ १२ ॥
ततः समुद्रदत्तेन ज्ञात्वा पुत्रस्य वेदनाम् ।
प्रोक्तं भो पुत्र जैनोयं जिनदत्तो विचक्षणः ॥ १३ ॥
मुक्त्वा जैनं निजां पुत्रीं न ददात्येव कस्यचित् ।
इत्युक्त्वा श्रावकौ भूत्वा तदा तौ कपटोक्तिभिः ॥ १४ ॥
कन्यामादाय तां नीलीं नीलोत्पलदलेक्षणाम् ।
कल्याणविधिना जातौ पुनर्बुद्धकुधर्मकौ ॥ १५ ॥
युक्तं पापप्रयुक्तानां सद्धर्मे किं स्थिरा मतिः ।
सुप्रसिद्धमिदं नैव श्वोदरे पायसस्थितिः ॥ १६ ॥
तथा तैर्बुद्धभक्तैश्च नील्यास्तातस्य मन्दिरे ।
निषिद्धं गमनं दुष्टैः किं न कुर्वन्ति पापिनः ॥ १७ ॥
इत्येवं वञ्चने जाते जिनदत्तो वदत्यसौ ।
कूपादौ पतिता पुत्री नीता मे वा यमेन च ॥ १८ ॥
संगतिर्दुर्जनानां हि शोकं यच्छति दारुणम् ।
अधः स्थितोपि वन्हिः स्या-दूर्द्धं कालुष्यकारणम् ॥ १९ ॥
सा नीली निजनाथस्य भूत्वा प्राणप्रिया तदा ।
जिनधर्मं प्रकुर्वाणा स्थिता भिन्नगृहे मुदा ॥ २० ॥
नित्यं श्रीमज्जिनेन्द्राणां पूजां कल्याणदायिनीम् ।
पात्रदानं व्रतं शीलं सोपवासं सुनिर्मलम् ॥ २१ ॥

साधर्मिकेषु वात्सल्यं शर्मदं शल्यवर्जितम् ।
इत्यादिधर्मसद्भावं पालयामास भक्तितः ॥ २२ ॥
एकदा श्वसुरेणैव संविचार्य स्वमानसे ।
संसर्गाद्दर्शनाद्धर्म-श्रुतेर्वा बुद्धभक्तिका ॥ २३ ॥
भविष्यतीति सा प्रोक्ता नीली पुत्रि गुणोज्वले ।
ज्ञानिनां वन्दकानां त्वं भोजनं देहि नो मतात् ॥ २४ ॥
ततस्तया समाहूय वन्दकान्कृतदंभकान् ।
तत्पादत्राणखण्डानि कृत्वा मृष्टानि सद्रसैः ॥ २५ ॥
तेषां भोक्तुं प्रदत्तानि तैः कृत्वा भोजनं मुदा ।
गच्छद्भिश्चेति पृष्टं क पादत्राणे तयोदिते ॥ २६ ॥
भवन्तस्त्वेव जानन्ति ज्ञानिनो यतयो भुवि ।
ज्ञानं नास्ति यदि व्यक्त्यै कुर्वन्तु वमनं द्रुतम् ॥ २७ ॥
वर्त्तते भवतां तुन्दे तत्सुस्वादुविलोभिनाम् ।
कृते तैर्वमने दृष्टस्तत्खण्डानां समूहकः ॥ २८ ॥
बौद्धानां मानभङ्गेन तदा स्वशुरवर्गके ।
रुष्टे सागरदत्तस्य भगिन्यादिभिरर्जितम् ॥ २९ ॥
महापापं वृथा दत्वा तस्याः शीलस्य दूषणम् ।
पापिनां न भयं चित्ते साधूनां दोषभाषणे ॥ ३० ॥
असत्यदोषके तस्मिन्प्रसिद्धे सा गुणोज्वला ।
दोषोच्छेदे ममाहार-प्रवृत्तिर्नान्यथेति च ॥ ३१ ॥
संन्यासं श्रीजिनस्याग्रे गृहीत्वा द्विविधं स्थिता ।
कायोत्सर्गेण मेरोर्वा चूलिका चारुनिश्चला ॥ ३२ ॥

सत्यं सतां सुखे दुःखे प्रश्वस्तापत्सहस्रकः ।
शरणं श्रीजिनस्त्वेव नित्यं शकैः समर्चितः ॥ ३३ ॥
ततस्तच्छीलमाहात्म्यात्क्षुभिता पुरदेवता ।
ससंभ्रमं समागत्य तत्समीपं जगौ निशि ॥ ३४ ॥
सती शिरोमणे मैवं कुरु प्राणविसर्जनम् ।
अहं राज्ञः प्रधानानां प्रजानां स्वप्नमद्भुतम् ॥ ३५ ॥
ददामीति नगर्याश्च प्रतोल्यः सकला ध्रुवम् ।
महासती यदा वाम-पादसंस्पर्शनं मुदा ॥ ३६ ॥
करिष्यति तदोद्घाटं यास्यन्त्येताः प्रवेगतः ।
त्वं पादेन प्रतोलीनां कुर्याः संस्पर्शनं शुभे ॥ ३७ ॥
इत्युक्त्वा स्वप्नकं दत्वा राजादीनां सुनिश्चलम् ।
कीलित्वा सा प्रतोलीस्ता गताऽदृश्यं सुराङ्गना ॥ ३८ ॥
प्रभाते कीलिता दृष्ट्वा प्रतोलीर्भूमिपादिभिः ।
स्मृत्वा तं रात्रिजं स्वप्नं सर्वैस्तत्पुरयोपिताम् ॥ ३९ ॥
कारितश्चरणैर्घातः प्रतोलीनां तथापि सा ।
नोद्घाटिता कयाप्येका नाल्पपुण्यैर्यशोऽर्ज्यते ॥ ४० ॥
पश्चादुत्क्षिप्य नीता सा नीली सच्छीलशालिनी ।
तया स्वपादसंस्पर्शात्सर्वाश्चोद्घाटिता हि ताः ॥ ४१ ॥
शलाकया यथा वैद्यः करोत्युद्घाटनं दृशाम् ।
तथा नीली स्वपादेन प्रतोल्युद्घाटनं व्यधात् ॥ ४२ ॥
तदा स्वशीलमाहात्म्य-प्रहर्षितजगज्जना ।
सा नीली वस्तुसन्दोहै-र्नरेन्द्राद्यैः समर्चिता ॥ ४३ ॥

जय त्वं जिननाथस्य चरणाम्भोजषट्पदी ।
भो मातस्तव शीलस्य माहात्म्यं केन वर्ण्यते ॥ ४४ ॥
इत्यादिभिः शुभैर्वाक्यैः सा सती शीलमण्डिता ।
सर्वैर्धर्मानुरागेण संस्तुता सज्जनैर्मुदा ॥ ४५ ॥
स जयति जिनदेवः सर्वदेवेन्द्रवन्द्यो
विमलतरगिरो वै यस्य विश्वोपकाराः ।
तदुदितवरशीलं पालितं शर्ममूलं
दिशतु शुचिजनानां स्वर्गमोक्षोरुलक्ष्मीम् ॥ ४६ ॥

इति कथाकोशे शीलप्रभाववर्णने नीलीश्राविकाकथा समाप्ता ।

२९–कडारपिङ्गस्य कथा।

नत्वार्हतं जगत्पूतं भारतीगुरुपङ्कजम् ।
वक्ष्ये कडारपिङ्गस्या-ब्रह्मदोषं कथानकम् ॥ १ ॥
कांपिल्यनगरे राजा नरसिंहो विचक्षणः ।
प्राज्यं राज्यं करोत्युच्चै-र्धर्मकर्मपरायणः ॥ २ ॥
तन्मंत्री सुमतिर्नाम्ना धनश्रीः प्राणवल्लभा ।
तयोः कडारपिङ्गाख्यः पुत्रो जातोऽतिलम्पटः ॥ ३ ॥
तत्रैव नगरे श्रेष्ठी संजातोऽत्यन्तधार्मिकः ।
सुधीः कुबेरदत्ताख्यो दानपूजाविराजितः ॥ ४ ॥
तस्य भार्याभवत्सार-पूर्वपुण्येन संयुता ।
प्रियंगुसुन्दरी नाम्ना साध्वी सद्रूपमण्डिता ॥ ५ ॥

एकदा तां समालोक्य श्रेष्ठिनीं गुणशालिनीम् ।
कुधीः कडारपिङ्गोसौ संजातो विकलाशयः ॥ ६ ॥
गत्वा गृहं स्थितो याव-द्धनश्रीः प्राह तं प्रति ।
अहो पुत्र त्वकं कस्माद् दृश्यते दुर्मनास्तराम् ॥ ७ ॥
तेनोक्तं श्रेष्ठिभार्यासौ प्राप्यतेत्र मया यदि ।
तदा मे जीवितं मात-र्नान्यथेति सुनिश्चितः ॥ ८ ॥
धिक्कामान्धजनाँल्लोके लज्जाभयविवर्जितान् ।
यतः कामी न जानाति कार्याकार्यं शुभाशुभम् ॥ ९ ॥
तया धनश्रिया प्रोक्तं स्वभर्त्तुः सुमतेस्तदा ।
निजपुत्रमहादुःखं परस्त्रीदर्शनोद्भवम् ॥ १० ॥
तच्छ्रुत्वा सुमतिर्मंत्री पापात्मा कपटेन सः ।
नरसिंहमहीनाथं संजगाविति दुष्टधीः ॥ ११ ॥
अहो महीपते रत्न-द्वीपे किंजल्कपक्षिणः ।
तिष्ठन्ति वहवो देव भवद्भिः श्रूयतां प्रभो ॥ १२ ॥
तत्प्रभावान्महाव्याधि-दुर्भिक्षमरणादयः ।
शत्रुचक्रं तथा चोराः प्रभवन्ति न निश्चयात् ॥ १३ ॥
ततः कुवेरदत्तोसौ श्रेष्ठी कार्यविचक्षणः ।
तं पक्षिणं समानेतुं प्रेषणीयो न संशयः ॥ १४ ॥
तत्समाकर्ण्य भूभर्त्ता तमानेतुं सुमुग्धधीः ।
श्रेष्ठिनं प्रेषयामास राजानो मंत्रिणां वशाः ॥ १५ ॥
तदा श्रेष्ठी विशुद्धात्मा गृहमागत्य वेगतः ।
प्रयाणं स्वस्य भार्यायै संजगाद महाद्भुतम् ॥ १६ ॥

प्रियंगुसुन्दरी प्राह भो स्वामिन्वञ्चितोसि च ।
पापी कडारपिंगो मे महाशीलस्य खण्डनम् ॥ १७ ॥
कर्त्तुं समीहते तस्मा-त्तवेदं गमनं ध्रुवम् ।
क्वापि स्त्रियो भवन्त्युच्चैः स्वप्रियादतिचञ्चवः ॥ १८ ॥
श्रेष्ठी कुबेरदत्तोसौ समाकर्ण्य प्रियोदितम् ।
शुभे दिने विसृज्योच्चै-र्जलयानं सुबुद्धिमान् ॥ १९ ॥
स्वयं व्याघुट्य गेहे च प्रच्छन्नं संस्थितो द्रुतम् ।
लोकदुस्संगतेः क्वापि सन्तोसन्तो भवन्त्यमी ॥ २० ॥
तदा कडारपिङ्गोसौ श्रेष्ठिनीरूपलम्पटः ।
कुधीस्तद्गृहमायातो मदनोन्मत्तमानसः ॥ २१ ॥
ततो वर्चोगृहे सापि पल्यंकं रज्जुवर्जितम् ।
आदितं शुभ्रवस्त्रेण स्थापयामास सुन्दरी ॥ २२ ॥
यावत्तत्रोपविष्टोसौ शठो विष्टागृहे तदा ।
पतितो मंत्रिणः पुत्रो नारको नरके यथा ॥ २३ ॥
षण्मासेषु गतेषूच्चै-रागते जलयानके ।
नाना पक्षिमहापक्षान्कृत्वा तस्य शरीरके ॥ २४ ॥
विधाय तन्मुखं कृष्णं कृत्वा हस्तादिबन्धनम् ।
धृत्वा पंजरके कष्टं मंत्रिपुत्रं कुकर्मगम् ॥ २५ ॥
पक्षी कुबेरदत्तेन श्रेष्ठिना गुणशालिना ।
समानीतो महाद्वीपा-दिति क्षोभं गते जने ॥ २६ ॥
दुष्टं कडारपिङ्गाख्यं नीत्वा श्रेष्ठी नृपान्तिकम् ।
देव किमल्कपक्षी ते समानीतोयमद्भुतः ॥ २७ ॥

इति हास्यं विधायोच्चैः पूर्ववृत्तान्तमुक्तवान् ।
तच्छ्रुत्वा नरसिंहेन महाकोपेन भूभुजा ॥ २८ ॥
गर्दभारोहणं कृत्वा दण्डितो मंत्रिपुत्रकः ।
मृत्वा कडारपिंगोसौ दुर्ध्यानान्नरकं गतः ॥ २९ ॥
परस्त्रीलम्पटो जन्तु-र्दुर्गतिं याति निश्चयात् ।
तस्मात्सदा परस्त्रीणां त्यागः कार्यो बुधोत्तमैः ॥ ३० ॥
ये भव्या श्रीजिनेन्द्रोक्तं शीले शर्मशतप्रदे ।
महायत्नं प्रकुर्वन्ति ते पूज्यन्ते पदे पदे ॥ ३१ ॥
शीलं श्रीजिनभाषितं शुचितरं देवेन्द्रवृन्दैः स्तुतं
नाना शर्ममहाप्रमोदजनकं स्वर्गापवर्गप्रदम् ।
ये भव्याः प्रतिपालयन्ति नितरां त्रेधा जगन्मोहनं
भुक्त्वा ते त्रिदशादिसौख्यमतुलं मुक्तेर्लभन्ते सुखम् ॥३२॥

इति कथाकोशे ब्रह्मचर्यदोषोद्भवकडारपिङ्गस्य कथा समाप्ता ।

३०—देवरतिराज्ञः कथा ।

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं केवलज्ञानलोचनम् ।
कथा देवरतेर्वच्मि विनितापत्तनेशिनः ॥ १ ॥
अयोध्यां नगरे राजा जातो देवरतिर्महान् ।
रक्ता नाम्नी महाराज्ञी रूपसौभाग्यशालिनी ॥ २ ॥
स भूपतिः सदा तस्या-मासक्तः कामलम्पटः ।
शत्रुभिः पीडितश्चापि राज्यचिन्तां करोति न ॥ ३ ॥

मुक्त्वा धर्मार्थनामानौ पदार्थौ नीतिवर्जितः ।
भुंक्ते भोगान्कुधीर्योत्र स स्याद्दुःखैकभाजनम् ॥ ४ ॥
मंत्रिभिश्चैकदा पुत्रं जयसेनाभिधानकम् ।
राज्ये धृत्वा तया सार्द्धं देशान्निर्घाटितः प्रभुः ॥ ५ ॥
तदा देवरतिः सोपि रक्तया सह भूपतिः ।
महाटव्यां समायातो धिक्कामं नीतिवर्जितम् ॥ ६ ॥
तत्र क्षुधामहाक्लेश-पीडितायाः स्वयोषितः ।
स्वोरुमांसं सुसंस्कृत्य दत्तवान्मोहवञ्चितः ॥ ७ ॥
तथा तस्यास्तृषाक्रान्त-चेतसो मूढमानसः ।
बाहुरक्तं महौषध्या जलं कृत्वा च सन्ददौ ॥ ८ ॥
यमुनायास्तटं प्राप्य रक्तां धृत्वा तरोस्तले ।
भोजनं च समानेतुं ग्राममध्ये नृपो गतः ॥ ९ ॥
सापि तत्र समालोक्य वाटिकासेवनोद्यतम् ।
वार्यन्त्रं खेटयन्तं च पंगुं सद्गानसंयुतम् ॥ १० ॥
तस्मिन्नासक्तचित्ताभू-द्रक्ता तं प्राह पापिनी ।
अहो पंगो त्वकं शीघ्रं मामिच्छेति प्रभो स्वयम् ॥ ११ ॥
तेनोक्तं पंगुना मुग्धे त्वदीयप्राणनाथतः ।
अहं चित्ते बिभेमीति महाभटशिरोमणेः ॥ १२ ॥
सावोचन्मारयामीति तं प्रियं मा भयं कुरु ।
दुराचाराश्रिता लोके किं न कुर्वन्ति योषितः ॥ १३ ॥
गृहीत्वा भोजनं तत्र समायाते महीपतौ ।
रोदनं कर्त्तुमारब्धं तया कौटिल्यभावतः ॥ १४ ॥

नृपः प्राह प्रिये:कस्मा-त्त्वं करोषीति रोदनम् ।
सा जगौ देव रक्ताख्या रिक्ताहं पापकर्मतः ॥ १५ ॥
अद्य किं क्रियते प्राप्ते तवायुर्ग्रन्थिवासरे ।
जन्तोः पुण्यं विना घोरे मज्जनं शोकसागरे ॥ १६ ॥
इत्याकर्ण्य तदासक्तः संजगाद महीपतिः ।
किं शोकेन प्रिये सर्वं त्वयैव मम पूर्यते ॥ १७ ॥
तथाप्याचारमात्रं च करोमीति प्रजल्प्य सा ।
तंत्रीगुंफितपुष्पौघै-र्बन्धित्वा स्वपतिं गले ॥ १८ ॥
यमुनाख्यमहानद्यां क्षिप्त्वा तं दुष्टमानसा ।
पंगुना सह दुष्कर्म-कुर्वती संस्थिता तदा ॥ १९ ॥
अथ देवरतिर्भूपः कथंचित्कर्मयोगतः ।
मंगलाख्यपुरं प्राप्य श्रान्तो नद्याः प्रवाहतः ॥ २० ॥
सुप्तस्तत्र बहिर्देशे वृक्षमूले सुखप्रदे ।
जन्तूनां जैनधर्मे वा महाभ्युदयकारणे ॥ २१ ॥
तत्र श्रीवर्द्धनो राजा विपुत्रो मृत्युमाप्तवान् ।
मंत्रिभिर्भणितेनोच्चै-र्विधिना पट्टहस्तिना ॥ २२ ॥
पूर्णकुंभेन संस्नाप्य स भूपः पुण्ययोगतः ।
नीत्वा पुरं तदा राज्ये स्थापितः सन्महोत्सवैः ॥ २३ ॥
पूर्वपुण्येन जन्तूना-मापदा सम्पदायते ।
तस्माच्छ्रीमज्जिनेन्द्रोक्तं पुण्यं कुर्वन्तु भो बुधाः ॥ २४ ॥
पुण्यं श्रीजिनपादार्चा पुण्यं सत्पात्रदानतः ।
पुण्यं पुण्यव्रतादुक्तं पुण्यं सत्प्रोषधादिभिः ॥ २५ ॥

तदा देवरतिर्भूपः स्थितो राज्ये सुखप्रदे ।
गुणोपेतस्त्रियश्चापि मुखाब्जं नैव पश्यति ॥ २६ ॥
दुर्जनैर्वंचितो धत्ते विश्वासं नैव सज्जने ।
संतप्तपयसा दग्धो भुंक्ते फूत्कृत्य सद्दधि ॥ २७ ॥
तथा दानं ददात्युच्चैः सर्वेभ्योसौ यशस्करम् ।
पंगूनां न ददात्येव भूपतिः किञ्चिदप्यथ ॥ २८ ॥
सा रक्ता पापिनी पंगुं तं कृत्वा चोल्लके तदा ।
अयं मे प्राणनाथोस्ति दत्तस्तातादिभिस्तराम् ॥ २९ ॥
इत्याद्यसत्यवाग्जालै-र्लोकानामग्रतो मुदा ।
स्वसतीत्वं प्रकाश्योच्चैः पर्यटन्ती पुरादिषु ॥ ३० ॥
भिक्षां सर्वत्र कुर्वाणा मंगलाख्यपुरं ययौ ।
तत्र तां वीक्ष्य पौरास्ते प्रापुराश्चर्यकं महत् ॥ ३१ ॥
येन स्त्रीणां चरित्रेण ब्रह्माद्या वंचिता भुवि ।
का कथा तत्र लोकानां वञ्चने मुग्धतेचसाम् ॥ ३२ ॥
राजद्वारे तथा प्राप्तौ तौ गायन्तौ मनोहरम् ।
प्रतीहारस्तदा प्राह भूपतिं परमादरात् ॥ ३३ ॥
अहो स्वामिन्महाश्चर्यं सिंहद्वारे कलस्वनौ ।
सतीपंगू समायातौ दृष्टव्यौ धार्मिकैर्जनैः ॥ ३४ ॥
इत्याकर्ण्य प्रभुः सोपि जनानामाग्रहेण च ।
अन्तःपटं विधायोच्चै-स्तौ समाहूय लम्पटौ ॥ ३५ ॥
प्रियावाक्यं समाकर्ण्य ज्ञात्वा तां च स्वकामिनीम् ।
अहो सती समायाता मया ज्ञातेयमद्भुता ॥ ३६ ॥

इत्युक्त्वा तां प्रत्चार्योच्चैः पापिनीं शीलवर्जिताम् ।
त्रिधा वैराग्यसम्पन्नः सुधीर्देवरतः प्रभुः ॥ ३७ ॥
तस्यैव जेयसेनाख्य-स्वपुत्रस्य महोत्सवैः ।
राज्यलक्ष्मीं समर्प्याशु जिनानभ्यर्च्य भक्तितः ॥ ३८ ॥
दीक्षां यमधराचार्य-पार्श्वे शर्मशतप्रदाम् ।
समादाय मुनिर्भूत्वा पूतात्मा भव्यतारकः ॥ ३९ ॥
कृत्वा तपो जिनेन्द्रोक्तं लोकद्वयसुखप्रदम् ।
स्वर्गे देवोभवत्काले महान्नानर्द्धिमण्डितः ॥ ४० ॥
दृष्ट्वा स्त्रीचरितं समस्तजगतां निन्द्यं सदा वञ्चकं
ज्ञात्वा संसृतिदेहभोगमखिलं शक्रस्य चापोपमम् ।
नाम्ना देवरतिप्रभुर्जिनपतेर्दीक्षां समादाय यः
संजातो मुनिसत्तमो गुणनिधिर्नित्यं स मेशं क्रियात् ॥४१॥

इति कथाकोशे देवरतिराज्ञः कथा समाप्ता

२१—गोपवती-कथा ।

सर्वसौख्यप्रदं नत्वा श्रीजिनं जगदर्चितम् ।
वैराग्याय सतां वक्ष्ये वृत्तं गोपवतीश्रितम् ॥ १ ॥
पलासग्रामवास्तव्यो नाम्ना सिंहबलो नरः ।
भार्या गोपवती तस्य संजाता दुष्टमानसा ॥ २ ॥
एकदा पद्मिनीखेट-ग्रामं गत्वा निजेच्छया ।
प्रच्छन्नं स्वस्त्रियो गाढं सुधीः सिंहबलो मुदा ॥ ३ ॥

तत्रस्थसिंहसेनाख्य-ग्रामकूटस्य पुत्रिकाम् ।
सुभद्रां रूपलावण्य-मण्डितां परणीतवान् ॥ ४ ॥
तच्छ्रुत्वा पापिनी सापि महाकोपाग्निकम्पिता ।
गत्वा गोपवती तत्र तद्गृहं सम्प्रविश्य च ॥ ५ ॥
मातृकाग्रे प्रसुप्तायाः सुभद्रायाश्च मस्तकम् ।
गृहीत्वा गृहमायाता सपत्नी पापकारिणी ॥ ६ ॥
प्रातःकाले सुभद्राया रुण्डं दृष्ट्वा भयानकम् ।
सोपि सिंहबलो दुःखी समायातो निजं गृहम् ॥ ७ ॥
तदा गोपवती तस्य स्वनाथस्यातिसंभ्रमम् ।
आगतस्वागतं कृत्वा सा ददाति स्म भोजनम् ॥ ८ ॥
तदुद्वेगात्तदा तस्मै रोचते नैव भोजनम् ।
महादुःखाश्रितस्यात्र का प्रीतिर्भोजनादिषु ॥ ९ ॥
ततस्तया सुपापिन्या गोपवत्या प्रकोपतः ।
सुभद्राया मुखं पश्य यतस्ते रोचतेशनम् ॥ १० ॥
इत्युक्त्वा मस्तकं तच्च क्षिप्तं तद्भाजने तदा ।
तद्दृष्ट्वा भयभीतोसौ राक्षसीयं भयानका ॥ ११ ॥
इति ज्ञात्वा द्रुतं चित्ते नश्यन्सिंहबलो भटः ।
कुन्तेन मारितः कष्टं पापिन्या दुष्टयोषिता ॥ १२ ॥
मत्वा स्त्रीचरितं चेति स्वचित्ते चतुरोत्तमैः ।
विश्वासो नैव कर्तव्यो दुष्टस्त्रीणां कदाचन ॥ १३ ॥
स जयति जिनदेवो देवदेवेन्द्रवन्द्यो
मदनमदकरीन्द्रध्वंसने यो मृगेन्द्रः ।

तव भवभयहर्त्ता स्वर्गमोक्षप्रकर्त्ता
शिवयुवतिसुभर्त्ता शान्तये शान्तिदाता ॥ १४ ॥

इति कथाकोशे गोपवती-कथा समाप्ता ।

३२–वीरवती-कथा ।

नत्वार्हतं जगन्मित्रं पवित्रं मुक्तिशर्मदम् ।
वक्ष्ये वीरवतीवृत्तं सतां वैराग्यकारणम् ॥ १ ॥
पुरे राजगृहे श्रेष्ठी धनमित्रो धनैर्युतः ।
धारिणी श्रेष्ठिनी तस्य तयोर्दत्तोभवत्सुतः ॥ २ ॥
तथा भूमिगृहे नाम्ना नगरे सम्पदाभृते ।
आनन्दमित्रवत्योश्च पुत्री वीरवती मता ॥ ३ ॥
तां कन्यां कुलजाचारैः स दत्तः परणीतवान् ।
सम्बन्धो विधिना बद्धो धीमता केन वार्यते ॥ ४ ॥
तत्रैव नगरे चोरः प्रचण्डोगारनामकः ।
रक्ता वीरवती तस्मिन्सा जाता पापकर्मणि ॥ ५ ॥
एकदासौ सुधीर्दत्तो रत्नद्वीपं मनोहरम् ।
गत्वोपार्ज्य धनं भूरि वासैर्बहुभिर्मुदा ॥ ६ ॥
आगच्छन्स्वसुरावासं भार्यां संसक्तमानसः ।
महाटव्यां सहस्रादि-भटचोरेण वीक्षितः ॥ ७ ॥
तदा कौतूहलात्सोपि तस्करस्तस्य पृष्ठतः ।
द्रष्टुं तच्चेष्टितं मूढं तत्पुरं च समागतः ॥ ८ ॥

मन्दिरे श्वसुरस्योच्चै-रागतस्य तदा द्रुतम् ।
भार्या तातादिभिस्तस्य कृता प्राघूर्णिकक्रिया ॥ ९ ॥
तस्मिन्नेव दिने पापी चोरो गारकसंज्ञकः ।
धृत्वा स कोट्टपालाद्यैः शूले प्रोतः सुकष्टतः ॥ १० ॥
रात्रौ वीरवती सापि सुप्तं त्यक्त्वा च दत्तकम् ।
चचाल तस्कराभ्यर्णं खड्गं कृत्वा करे खरम् ॥ ११ ॥
सहस्रभटचोरोपि द्रष्टुं तस्याश्चरित्रकम् ।
पृष्ठतश्चलितो गूढं चोराः केचिद्धिनोदिनः ॥ १२ ॥
ज्ञात्वा तत्पादसंचारं तया खड्गेन दुष्टया ।
छिन्ना चोराङ्गुलिश्छिन्नो वटप्रारोहकोपि च ॥ १३ ॥
शूलाभ्यर्णे गता यावत्स चोरो गारकोऽवदत् ।
हे प्रिये म्रियमाणं मां समालिंग्य, मम द्रुतम् ॥ १४ ॥
स्वताम्बूलं मुखेनोच्चै-स्त्वं देहीति सुखप्रदम् ।
धिक्कामं मरणं प्राप्तो यतो वाञ्छति भोगकम् ॥ १५ ॥
ततस्तस्याः सुपापिन्याः कृत्वा मृतकसञ्चयम् ।
तस्योपरि चटित्वा च ताम्बूलं स्वमुखस्थितम् ॥ १६ ॥
ददत्याः पापतस्तस्मै तस्मिन्काले शवोच्चये ।
पतिते म्रियमाणेना-धरश्चोरेण खण्डितः ॥ १७ ॥
तस्यैव तस्करस्यास्ये सोधरः संस्थितस्तदा ।
गूढं वीरवती वक्त्रं वस्त्रेणाच्छाद्य वेगतः ॥ १८ ॥
ततो गेहं समागत्य सा दत्तस्य समीपके ।
अनेनैतत्कृतं चेति चक्रे पूत्कारमुच्चकैः ॥ १९ ॥

पापिनी लम्पटा योपि-त्स्वकुलक्षयकारिणी ।
किं करोति न दुष्कर्म कष्टकोटिविधायकम् ॥ २० ॥
मार्यमाणो ततो दत्तो राज्ञा रुष्टेन कष्टतः ।
सहस्रभटचोरेण तदीयं पापचेष्टितम् ॥ २१ ॥
सर्वं प्रोक्त्वा नृपस्याग्रे रक्षितः शुभयोगतः ।
लोके पुण्यवतां पुंसां सर्वे कुर्वन्ति रक्षणम् ॥ २२ ॥
इत्थं ज्ञात्वा बुधैश्चित्ते कुस्त्रीवृत्तं सुदारुणम् ।
कार्यं कष्टकराणां हि विषयाणां विचारणम् ॥ २३ ॥
धन्यास्ते मुनयो जिनेन्द्रकथितैः शीलव्रतैर्मण्डिताः
कामक्रूरकरीन्द्रदुर्जयघटावित्रासकण्ठीरवाः ।
ज्ञानध्यानरता विरक्तहृदया भव्याब्जसद्भास्कराः
संसारार्णवतारणेतिचतुराः कुर्युः सतां मंगलम् ॥ २४ ॥

इति कथाकोशे वीरवतीकथा समाप्ता ।

३३--सुरतभूपस्य कथा ।

इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्कैः समर्चितपदद्वयम् ।
भक्त्या नत्वा जिनं वक्ष्ये वृत्तं सुरतभूपतेः ॥ १ ॥
अयोध्यानगरे राजा सुरताख्यो महानभूत् ।
सती नाम्नी महादेवी योषित्पञ्चशताग्रणीः ॥ २ ॥
स तस्यां भूपतिर्नित्यं भोगासक्तैकमानसः ।
प्रतीहारं प्रति प्राह भो त्वया द्वारपालक ॥ ३ ॥

समायाते महाराज-कार्ये च मुनिसत्तमे ।
स्तवनीयं मम व्यक्तं नान्यत्किञ्चित्कदाचन ॥ ४ ॥
इत्युक्त्वान्तःपुरं शीघ्रं प्रविश्य परया मुदा ।
भुंजानो विविधान्भोगान्संस्थितो तृप्तिकारकान् ॥ ५ ॥
एकदा पुण्ययोगेन मन्दिरे तस्य भूपतेः ।
दमदत्तो धर्मरुचिर्मुनी मासोपवासिनौ ॥ ६ ॥
चर्यार्थं तौ समायातौ दृष्ट्वासौ द्वारपालकः ।
कुर्वन्तं तिलकं सत्या वक्त्राब्जे मण्डिते तराम् ॥ ७ ॥
नत्वा तं सुरतं भूपं संजगौ भो महीपते ।
समायातौ मुनीन्द्रौ द्वौ सुरेन्द्रार्चितपङ्कजौ ॥ ८ ॥
इत्याकर्ण्य प्रभुः सोपि हे प्रिये तिलकस्तव ।
यावच्छुष्यति नैवात्र तावद्भक्त्या मुनीन्द्रयोः ॥ ९ ॥
आहारं कारयित्वोच्चै-रागमिष्यामि सत्वरम् ।
प्रोक्त्वेति सुरतो धीमान्स्थापयित्वा मुनीश्वरौ ॥ १० ॥
नव पुण्यैः समायुक्तं ताभ्यामाहारमुत्तमम् ।
ददौ भक्त्या गुणैर्युक्तो भूरिशर्माकरं परम् ॥ ११ ॥
दानपूजाव्रतोपेतः शोभते श्रावकोत्तमः ।
तैर्विहीनो नरो नैव भाति वा निष्फलो द्रुमः ॥ १२ ॥
तस्माद्दानं त्रिधा पात्रे पूजां श्रीमज्जिनेशिनः ।
स्वव्रतं शर्मणे शक्त्या संभजन्तु सदा बुधाः ॥ १३ ॥
तस्मिन्काले सती सापि मुनि निन्दोरुपापतः ।
उदंबरमहाकुष्ट-कष्टराशिप्रपीडिता ॥ १४ ॥

वरं हालाहलं भुक्त-मेकजन्मभयप्रदम् ।
नैव निन्दा मुनीन्द्राणां जन्मकोटिषु कष्टदा ॥ १५ ॥
ये नित्यं व्रतशीलाद्यै-र्मण्डिता मुनिनायकाः ।
सन्मार्गदीपका प्राया-स्ते निन्द्यन्ते कथं भुवि ॥ १६ ॥
गुरुर्दीपो गुरुर्बन्धु-र्गुरुः संसारतारकः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन समाराध्यो गुरुर्बुधैः ॥ १७ ॥
ततो राजा तदासक्तो समागत्य तदन्तिकम् ।
तस्याः शरीरमालोक्य कुष्टकालाग्निपीडितम् ॥ १८ ॥
संसारदेहभोगेषु विरक्तः सुरतः सुधीः ।
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं मुनिर्जातो जगद्धितः ॥ १९ ॥
सापि मृत्वा सती नाम्नी दीर्घसंसारमाश्रिता ।
स्वकीयपुण्यपापस्य फलं भुंक्ते जनो ध्रुवम् ॥ २० ॥
मत्वेति संसृतिचरित्रविचित्रमुच्चैः
श्रीमज्जिनेन्द्रकथिते भुवि सारधर्मे ।
स्वर्गापवर्गसुखसाधनहेतुभूते
कार्या मतिर्बुधजनैः सततं सुखाप्त्यै ॥ २१ ॥

इति कथाकोशे श्रीसुरतराज्ञः कथा समाप्ता ।

३४—विषयलुब्धसंसारिजीवस्य कथा ।

श्रीसर्वज्ञं प्रणम्योच्चैः संसाराम्भोधितारणम् ।
वक्ष्ये संसारिजीवस्य वृत्तं स्तोकेन दारुणम् ॥ १ ॥

महाटव्यां नरः कोपि भीतो व्याघ्राद्भयानकात् ।
अन्धकूपे स्थितस्तत्र तृणस्तम्बे विलम्बितः ॥ २ ॥
तथा व्याघ्राहतोत्तुङ्ग-कूपवृक्षप्रकम्पनात् ।
प्रोच्छलन्मधुकक्रूर-मक्षिकाभिः प्रपीडितः ॥ ३ ॥
स्तम्बमूलेऽसितश्वेत-मूषकाभ्यां निरन्तरम् ।
छेद्यमानोप्यधोभागे चतुस्सर्पेषु सत्सु च ॥ ४ ॥
इत्यादिभूरिकष्टेषु स मूढो नष्टमानसः ।
प्राप्तास्यमधुबिन्दुश्च तदेवं वाञ्छति स्फुटम् ॥ ५ ॥
अत्रान्तरे समागत्य जगौ कश्चित्खगो हि तम् ।
आगच्छ भो नभोयाने तिष्ठ त्वं शर्मदायिनि ॥ ६ ॥
तदाकर्ण्य कुधीः सोपि कूपस्थो लम्पटोऽवदत् ।
मधुबिन्दुः समायाति यावन्मे मधुरो मुखे ॥ ७ ॥
भव त्वं सुस्थिरस्ताव-दित्याकर्ण्य खगो गतः ।
विषयैर्वञ्चितो जीवो न कदाचिद्धिते रतः ॥ ८ ॥
यथासौ पुरुषः कूपे संस्थितो मधुलम्पटः ।
समाहूतः खगेनापि न वेत्ति स्म निजं हितम् ॥ ९ ॥
तथासौ विषयासक्तः प्राणी संसारकूपके ।
कालव्याघ्रादिभिर्नित्यं पीडितोपि प्रकष्टतः ॥ १० ॥
बोधितो गुरुभिश्चापि लोकद्वयसुखप्रदैः ।
सन्मार्गं नैव जानाति पापतो भाविदुर्गतिः ॥ ११ ॥
इत्थं कष्टशतप्रदानचतुरे संसारघोरार्णवे
ज्ञात्वा वै विषयान् विपाकसदृशान्तान्दुर्जनान्वा भुवि ।

श्रीमत्सारजिनेन्द्रदेवगदितो धर्मः सुशर्मप्रद-
श्चित्ते निश्चलभावतो बुधजनैराराधनीयः सदा ॥ १२ ॥

इति कथाकोशे विषयलुब्धसंसारिजीवस्य कथा समाप्ता ।

३५–चारुदत्तश्रेष्ठिनः कथा ।

श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोज-युग्मं नत्वा सुरार्चितम् ।
श्रेष्ठिनश्चारुदत्तस्य चरित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
चम्पाख्ये नगरे राजा शूरसेनो महानभूत् ।
भानुनामाभवच्छ्रेष्ठी सुभद्रा श्रेष्ठिनी प्रिया ॥ २ ॥
पुत्रार्थिनी कुदेवानां सा करोति स्म सेवनम् ।
श्रेष्ठिनी न सुतं लेभे नास्ति सिद्धिः कुदेवतः ॥ ३ ॥
एकदा श्रीजिनेन्द्राणां मन्दिरे शर्ममन्दिरे ।
नत्वा चारणयोगीन्द्रं सा सुभद्रा जगाद च ॥ ४ ॥
ब्रूहि भो भगवन्मेत्र तपोलक्ष्मीर्भविष्यति ।
नैवं वेति समाकर्ण्य मुनीन्द्रो ज्ञानलोचनः ॥ ५ ॥
ज्ञात्वा तस्या मनोभावं जगौ भो पुत्रि साम्प्रतम् ।
मिथ्यादेवस्य सेवां च कृत्वा सम्यक्त्वहानिताम् ॥ ६ ॥
मा कुरु त्वं, महान्पुत्रः सत्यं तेत्र भविष्यति ।
तच्छ्रुत्वा सा मुनिं नत्वा प्रहर्षेण गृहं गता ॥ ७ ॥
ततस्तस्याः प्रकुर्वन्त्या सद्धर्मं श्रीजिनोदितम् ।
कैश्चिद्दिनैः सुतो जात-श्चारुदत्तो गुणोज्ज्वलः ॥ ८ ॥

नाना महोत्सवैर्नित्यं स वृद्धिं प्राप सद्गुणैः ।
जीवानां कृतपुण्यानां माङ्गल्यं च दिने दिने ॥ ९ ॥
सर्वार्थमातुलस्योच्चैः पुत्रीं मित्रवतीं सतीम् ।
आग्रहेण कुटुम्बस्य स धीमान्परिणीतवान् ॥ १० ॥
तथाप्यसौ विरक्तः सन् चारुदत्तो विचक्षणः ।
कामसेवां विशुद्धात्मा न करोति कदाचन ॥ ११ ॥
तदा स्वपुत्रस्य मोहेन संगतिं गणिकादिभिः ।
सुभद्रा कारयामास तस्योच्चैर्लम्पटैर्जनैः ॥ १२ ॥
ततोसौ चारुदत्तश्च कुसंगात्सप्रदोषतः ।
मांसादिकेपि संसक्तः कुसंगः पापकारणम् ॥ १३ ॥
तथा द्वादशवर्षेषु षोडशस्वर्णकोटयः ।
वसन्तसेनया सार्द्धं भक्षितस्तेन वेश्यया ॥ १४ ॥
एकदा चारुदत्तस्य भार्यायाश्च समागतम् ।
दृष्ट्वाभरणसन्दोहं कुट्टिनी स्वसुतां जगौ ॥ १५ ॥
अहो पुत्रि त्वया शीघ्र-मिमं त्यत्वा धनोज्झितम् ।
अन्यस्मिन्सधने पुंसि प्रीतिः कार्या च सम्पदे ॥ १६ ॥
इत्याकर्ण्य तया सोपि वसन्तादिकसेनया ।
त्यक्तः धनप्रिया लोके वेश्या नैव स्थिरस्थितिः ॥ १७ ॥
ततश्च चारुदत्तोसौ वञ्चितो भोगतस्करैः ।
स्वभार्यायाः समादाय तदाभरणसञ्चयम् ॥ १८ ॥
उलूखाख्यस्यदेशस्य-मुशिरावर्त्तपत्तनम् ।
मातुलेन समं गत्वा तस्मात्कर्पासकं मुदा ॥ १९ ॥

गृहीत्वा तामलिप्ताख्यां पुरीं प्रति चचाल च ।
महाटव्यां स कर्पासो दग्धो दावाग्निना तदा ॥ २० ॥
अहो पुण्यं विना जन्तो-र्नोद्यमो सिद्धिदो भवेत् ।
तस्मात्पुण्यं जिनेन्द्रोक्तं कर्त्तव्यं धीधनैः सदा ॥ २१ ॥
आपृच्छ्य मातुलं तस्मा-दुद्वेगात्पीडिताशयः ।
नाम्ना समुद्रदत्तस्य कस्यचिज्जलयानके ॥ २२ ॥
स्थित्वासौ पवनद्वीपं गत्वा लक्ष्मीकृते ततः ।
धनं चोपार्ज्य कष्टेन समागच्छन्यदा तदा ॥ २३ ॥
पापतः स्फुटितः पोतो हा कष्टं पापचेष्टितम् ।
एवं सप्तसु वारेषु यानेषु स्फुटितेषु च ॥ २४ ॥
किञ्चित्पुण्यात्समासाद्य फलकं गुरुवाक्यवत् ।
समुत्तीर्य समुद्रं स प्राप्तो राजगृहं परम् ॥ २५ ॥
तत्रैको विष्णुमित्राख्यः परिव्राजककः कुधीः ।
चारुदत्तं समालोक्य दुष्टात्मा संजगाविति ॥ २६ ॥
भो पुत्रत्वं समागच्छ भीमाटव्यां प्रवर्त्तते ।
नितम्बे पर्वतस्योच्चै-र्महाधेनुरसोधिकम् ॥ २७ ॥
तुभ्यं ददामि तं पूतं येन दारिद्र्यसञ्चयः ।
क्षयं याति तवेदानीं तदाकर्ण्य वणिक्सुतः ॥ २८ ॥
चारुदत्तो वदत्तात कुरु त्वेवं मम ध्रुवम् ।
धनाशालम्पटा लोके दुर्जनैः के न वञ्चिताः ॥ २९ ॥
ततस्तेन गिरिं नीत्वा नितम्बस्थितकूपकम् ।
तत्करे तुम्बकं दत्वा वरत्रावद्धसिक्यके ॥ ३० ॥

धृत्वा प्रवेशितः सोपि रसं गृह्णन्निजेच्छया ।
तत्रस्थितेन चैकेन निषिद्धश्चारुदत्तकः ॥ ३१ ॥
ततः प्राह सुधीः कस्त्वं सोपि कूपस्थितोऽवदत् ।
उज्जयिन्यां महापुर्यां धनदत्तोहकं वणिक् ॥ ३२ ॥
गत्वा च सिंहलद्वीपं तस्माद्व्याघुटितोम्बुधौ ।
भग्ने याने धनैर्हीनः परिव्राजककेन तु ॥ ३३ ॥
वञ्चित्वानेन दुष्टेन गृहीत्वा रसतुम्बकम् ॥
कर्त्तित्वा वरत्रां च निक्षिप्तः कूपकेऽशुभात् ॥ ३४ ॥
रसेन भक्षिताः प्राणाः साम्प्रतं यान्ति मे ध्रुवम् ।
इत्याकर्ण्य जगौ सोपि रसोस्मै किं न दीयते ॥ ३५ ॥
कूपस्थोपि जगावेवं यद्यस्मै स न दीयते ।
तदा पाषाणकैरेष चोपसर्गं करिष्यति ॥ ३६ ॥
तच्छ्रुत्वा चारुदत्तश्च सुधीर्बुद्धिप्रपञ्चतः ।
तस्मै पापात्मने दत्वा तुम्बकं रससंभृतम् ॥ ३७ ॥
धृत्वा द्वितीयवेलायां सिक्ये पाषाणकं पुनः ।
दत्वा तस्मै स्वयं तत्र कूपेसौ यत्नतः स्थितः ॥ ३८ ॥
स परिव्राजकश्चापि समाकृष्य वरत्रिकाम् ।
कर्त्तित्वा रसमादाय पापिष्ठः स्वगृहं गतः ॥ ३९ ॥
ततोऽसौ चारुदत्तेन कूपस्थो भणितो मुदा ।
त्वया मे जीवितं दत्तं तवेदानीं ददाम्यहम् ॥ ४० ॥
सुगतेः साधनोपायं जिनेन्द्रैः परिकीर्त्तितम् ।
इत्युक्त्वा च तथा तस्मै स्वर्गमोक्षसुखप्रदान् ॥ ४१ ॥

सारपञ्चनमस्कारान्संन्यासेन समन्वितान् ।
दत्वा तेन पुनः पृष्टो भक्त्यासौ कूपसंस्थितः ॥ ४२ ॥
कोपि निःसरणोपायो वर्त्तते ब्रूहि मे सुधीः ।
तन्निशम्य स च प्राह शृणु त्वं भो विचक्षण ॥ ४३ ॥
अद्य पीत्वा रसं गोधा गता प्रातः समेष्यति ।
पुच्छं तस्या गृहीत्वा त्वं गच्छ स्वेच्छाशयः स्वयम् ॥ ४४ ॥
इति श्रुत्वा प्रभातेसौ चारुदत्तो गुणोज्वलः ।
तथा निर्गत्य कूपाच्च गतोटव्यां सुधीरधीः ॥ ४५ ॥
महाटवीं परित्यज्य ततो गच्छन्निजेच्छया ।
दृष्टोसौ रुद्रदत्ताख्य-मातुलेन मनोहरः ॥ ४६ ॥
चारुदत्त समागच्छ रत्नद्वीपं सुखप्रदम् ।
शीघ्रमावां प्रगच्छाव-स्तेनासो भणितो मुदा ॥ ४७ ॥
गन्तुकामौ ततस्तौ द्वौ रत्नद्वीपं धनाशया ।
छागपृष्ठं समारुह्य चलितौ छागमार्गतः ॥ ४८ ॥
पर्वतोपरि गत्वासौ रुद्रदत्तोवदत्तदा ।
पापी रौद्राशयश्चेति शृणु त्वं चारुदत्त भो ॥ ४९ ॥
हत्वा छागौ परावृत्य चर्मसं स्थीयतेत्र च ।
भेरुण्डपक्षिणौ शीघ्रं समागत्य पलाशया ॥ ५० ॥
आवां चंच्वा समादाय रत्नद्वीपं प्रयाप्स्यतः ।
इत्युच्चैः प्रेरितश्चापि तेनासौ करुणापरः ॥ ५१ ॥
चारुदत्तो निजं छागं नैव मारयति स्म च ।
न कुर्वन्ति दुराचारं सन्तः कस्मादपि ध्रुवम् ॥ ५२ ॥

सोपि छागस्ततस्तेन रुद्रदत्तेन मारितः ।
ये दुष्टा निर्दयास्तेत्र किं न कुर्वन्ति पातकम् ॥ ९३ ॥
चारुदत्तस्तदा तस्मै छागायोच्चैः सुखप्रदान् ।
सारपञ्चनमस्कारान्संन्यासं च प्रदत्तवान् ॥ ९४ ॥
धर्मिणो येत्र वर्तन्ते ज्ञातश्रीजिनसद्गिरः ।
नित्यं परोपकाराय सन्ति ते परमार्थतः ॥ ९५ ॥
छागयोश्चर्मभस्त्रायां तौ प्रविश्य स्थितौ ततः ।
रत्नद्वीपात्समागत्य तदा भेरुण्डपक्षिणौ ॥ ९६ ॥
तौ समादाय चञ्चुभ्यां रत्नद्वीपं विनिर्गतौ ।
द्वयोर्भेरुण्डयोर्युद्धे नभोभागे स्वपापतः ॥ ९७ ॥
दुष्टात्मा रुद्रदत्तोऽसौ समुद्रे पतितस्तदा ।
मृत्वा च दुर्गतिं प्राप क्व भवेत्पापिनां शुभम् ॥ ९८ ॥
चारुदत्ताश्रितां भस्त्रां रत्नद्वीपे मनोहरे ।
रत्नचूलगिरिं नीत्वा भेरुण्डस्तां विदार्य च ॥ ९९ ॥
चारुदत्तं समालोक्य भीत्वा पक्षी स नष्टवान् ।
लोके पुण्यवतां पुंसां दुष्टाश्चापि हितंकराः ॥ ६० ॥
तत्रातापेन योगस्थं रत्नचूलगिरौ मुनिम् ।
दृष्ट्वा तत्पादयोर्लग्न-श्चारुदत्तोतिभक्तितः ॥ ६१ ॥
पूर्णयोगस्तदा प्राह मुनीन्द्रः शुद्धमानसः ।
अस्ति भो कुशलं चारुदत्त ते गुणमण्डित ॥ ६२ ॥
तदाकर्ण्य मुनेर्वाक्यं सन्तुष्टश्चारुदत्तवाक् ।
क्व भो मुने त्वया दृष्टः सेवकश्चेत्यहं जगौ ॥ ६३ ॥

तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह शृणु त्वं भानुनन्दन ।
अमिताख्यो महाविद्या-धरोहं चैकदा मुदा ॥ ६४ ॥
चम्पायां कदलीवृक्ष-वने शोभासमन्विते ।
क्रीडां कर्त्तुं गतो धीर वसन्तप्रियया युतः ॥ ६५ ॥
धूमसिंहखगः पापी तत्रागत्य दुराशयः ।
वसन्तश्रियमालोक्य महाकन्दर्पपीडितः ॥ ६६ ॥
कीलित्वा मां छलेनोच्चैः पादपे निजविद्यया ।
तां समादाय मे भार्यां नभोभागे गतो द्रुतम् ॥ ६७ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे वत्स मम पुण्यप्रभावतः ।
क्रीडितुं त्वमपि प्राप्तः सूत्रोत्कृष्टदयानिधिः ॥ ६८ ॥
त्वां विलोक्य मया प्रोक्तं तस्मिन्मे करके सुधीः ।
तिस्रश्चौषधयः सन्ति दुष्टविद्याक्षयप्रदाः ॥ ६९ ॥
ताः पिष्ट्वा त्वं प्रयत्नेन देहि मे वपुषि ध्रुवम् ।
भवाम्युत्कीलितो येन भो मित्रेति गुणाकरः ॥ ७० ॥
तासु त्वया प्रदत्तासु ममाङ्गे भूरियत्नतः ।
निःशल्योहमभूवं हि प्राणी वा सद्गुरोर्मतात् ॥ ७१ ॥
ततः कैलासनामानं गत्वाहं वेगतो गिरिम् ।
धूमसिंहं खगं जित्वा गृहीत्वा कामिनीं निजाम् ॥ ७२ ॥
पश्चादागत्य भक्त्या त्वं भणितोसि मया मुदा ।
वरं प्रार्थय भो मित्र मनोभीष्टमिति स्फुटम् ॥ ७३ ॥
त्वया प्रोक्तं न मे कार्यं वरेणेति महाधिया ।
कृत्वा परोकारं हि सन्तो वाञ्छन्ति किं धनम् ॥ ७४ ॥

ततोहं दक्षिणश्रेण्यां शिवमन्दिरपत्तने ।
राज्यं भुक्त्वा कियत्कालं नाना भोगैः समन्वितम् ॥ ७५ ॥
त्रिधा वैराग्यमासाद्य क्षिप्त्वा राज्यं सुपुत्रयोः ।
नाम्ना सिंहयशश्चारु-वराहग्रीवसंज्ञयोः ॥ ७६ ॥
जैनीं दीक्षां समादाय भवभ्रमणनाशिनीम् ।
चारणर्द्धिमुनिर्भूत्वा करोम्यत्र महातपः ॥ ७७ ॥
इत्यादिकं मुनिप्रोक्तं श्रुत्वासौ परमादरात् ।
चारुदत्तः सुधीस्तुष्टो यावत्तत्र सुखस्थितः ॥ ७८ ॥
अत्रान्तरे समायातौ वन्दनार्थं खगाधिपौ ।
स्वपुत्रौ प्रति योगीन्द्र-श्चारुदत्तकथां जगौ ॥ ७९ ॥
तस्मिंश्चापि क्षणे छाग-चरदेवेन धीमता ।
तत्रागत्य प्रणामश्च चारुदत्ताङ्घ्रिके कृतः ॥ ८० ॥
तेनोक्तं चारुदत्तेन नैव युक्तं सुरोत्तम ।
कर्त्तुं मे ते नमस्कारं विद्यमाने महामुनौ ॥ ८१ ॥
तच्छ्रुत्वा स सुरः प्राह शृणु त्वं भो सुधीः पुरा ।
पापिना रुद्रदत्तेन मारितायाजकाय मे ॥ ८२ ॥
संन्यासपूर्वकं दत्ता त्वया पञ्चनमस्कृतिः ।
तत्प्रभावेन सौधर्मे देवो जातोहमद्भुतः ॥ ८३ ॥
तस्मात्त्वमेव मे स्वामिन्गुरुः सन्मार्गदर्शकः ।
इत्युक्त्वा स ततो देवो महाधर्मानुरागतः ॥ ८४ ॥
वस्त्राभरणसन्दोहै-श्चारुदत्तं गुणोज्वलम् ।
समभ्यर्च्य पुनर्नत्वा स्वर्गलोकं गतो मुदा ॥ ८५ ॥

परोपकारिणो लोके सन्ति ये बुधसत्तमाः ।
कैः सुराद्यैर्न पूज्यन्ते महाभक्तिभरैश्च ते ॥ ८६ ॥
ततः सिंहयशाः सोपि वराहग्रीवसंज्ञकः ।
विद्याधरेशिनौ तौ द्वौ नत्वा तं मुनिनायकम् ॥ ८७ ॥
चारुदत्तवणिक्पुत्रं नाना रत्नादिभिर्युतम् ।
नीत्वा चम्पापुरीं भूत्या भक्त्या संस्थाप्य सौख्यतः ॥ ८८ ॥
तं प्रणम्य समापृच्छ्य स्वस्थानं जग्मतुः सुखम् ।
अहो पुण्येन जीवानां किं न जायेत भूतले ॥ ८९ ॥
तस्माच्छ्रीमज्जिनेन्द्रोक्तः सद्धर्मोसौ चतुर्विधः ।
दानपूजाव्रतैः शीलैः पालनीयो बुधैः श्रिये ॥ ९० ॥
भानुः श्रेष्ठी सुभद्रा सा चारुदत्तागमे तदा ।
अन्ये चम्पापुरीलोकाः प्रीतिं प्राप्ता महाद्भुताम् ॥ ९१ ॥
चारुदत्तः सुधीश्चापि भुक्त्वा भोगान्स्वपुण्यतः ।
समाराध्य जिनेन्द्रोक्तं धर्मशर्माकरं चिरम् ॥ ९२ ॥
ततो वैराग्यमासाद्य सुन्दराख्यसुताय च ।
दत्वा श्रेष्ठिपदं पूतं दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः ॥ ९३ ॥
संन्यासविधिना कालं कृत्वासौ शल्यवर्जितः ।
स्वर्गलोकं समासाद्य देवो जातो महर्द्धिकः ॥ ९४ ॥
तत्र भोगान्सुभुञ्जानः स्वर्गलोकसमुद्भवान् ।
कुर्वन्यात्रां जिनेन्द्राणां महास्वर्णाचलादिषु ॥ ९५ ॥
साक्षात्तीर्थकरानुच्चैः केवलज्ञानलोचनान् ।
चारुदत्तचरो देवः समभ्यर्चत्सुभक्तितः ॥ ९६ ॥

शृण्वन् जैनेश्वरीं वाणी-मातेभ्यः शर्मदायिनीम् ।
इत्यादिधर्मसंसक्तः स देवः सुव्रतःस्थितः ॥ ९७ ॥
श्रीमत्सारसुरेन्द्रचन्द्रनिकरैर्नागेन्द्रसत्खेचरैः
षट्खण्डाधिपभूचरैश्च नितरां भक्त्या सदाभ्यर्चितम् ।
धर्मं श्रीजिनभाषितं शुचितरं स्वर्गापवर्गप्रदं
नित्यं सारसुखाय शर्मनिलयं सन्तः श्रयन्त्वञ्जसा ॥ ९८ ॥

इति कथाकोशे चारुदत्तकथा समाप्ता ।

३६—पाराशरकथा ।

नत्वा श्रीमज्जिनं देवं ज्ञातुं चान्यमतं सताम् ।
वक्ष्ये पाराशरस्याहं कुमुनेर्लौकिकी कथा ॥ १ ॥
हस्तिनागपुरे पूर्वं गंगादिभटधीवरः ।
एकदासौ महामत्सीं धृत्वा जालेन पापधीः ॥ २ ॥
तां निहन्ति यदा ताव-त्तस्याः कुक्षेर्विनिर्गता ।
कन्यासद्रूपसंयुक्ता महादुर्गन्धविग्रहा ॥ ३ ॥
तेन सत्यवतीत्युक्त्वा पोषिता धीवरेण च ।
हा कष्टं दुर्दृशां शास्त्रं सर्वमेतदसत्यकम् ॥ ४ ॥
गंगातीरे च तां कन्यां सनावं सोपि धीवरः ।
धृत्वा गंगभटो गेहं गतश्चैकदिने मुदा ॥ ५ ॥
ततो आम्यमुनिस्तत्र नाम्ना पाराशरः कुधीः ।
मार्गश्रान्तः समागत्य नद्यास्तीरे निजेच्छया ॥ ६ ॥

गन्तुं नदीं समुत्तीर्य तां जगाद सुकन्यकाम् ।
एहि मां नय भो कन्ये नद्याः पारं मनोहरम् ॥ ७ ॥
तयागत्य तदा शीघ्रं नौ मध्येसौ धृतः सुखम् ।
नीयमानः पुनः प्राह दृष्ट्वा तद्रूपमद्भुतम् ॥ ८ ॥
मामिच्छेति समाकर्ण्य कन्या सत्यवती जगौ ।
दुर्जातिर्दुष्टगन्धाहं कथं स्पर्शं करोमि ते ॥ ९ ॥
त्वं तपस्वी सदा गंगा-नदीस्नानविधायकः ।
शापानुग्रहसंयुक्तो बिभेमीति स्वचेतसि ॥ १० ॥
ततस्तस्याश्च दुर्गन्धं स्फेटयित्वा स्वविद्यया ।
सुगन्धकुसुमामोदं स चक्रे तच्छरीरकम् ॥ ११ ॥
तया प्रोक्तमहो स्वामिँल्लोकाः पश्यन्ति सर्वतः ।
तदासौ धूमरीं कृत्वा नौ मध्ये कामलम्पटः ॥ १२ ॥
द्वीपं तत्र विधायोच्चैः परिणीय च तां पुनः ।
कामसेवां तया सार्द्धं यावत्पाराशरो व्यधात् ॥ १३ ॥
तत्क्षणे पञ्चकूर्चादि-जटायज्ञोपवीतभीक् ।
व्यासनामाऽभवत्पुत्रः पितुश्चक्रेभिवादनम् ॥ १४ ॥
लौकिकं लपितं चेति मत्तचेष्टा समानकम् ।
कस्य चित्ते समायाति सदृष्टेर्ज्ञानचक्षुषः ॥ १५ ॥

इत्थं मत्तजनप्रजल्पितमिमं भक्त्या कुवादीरितं
विद्वद्भिर्जिनतत्वसारनिपुणैः सार्द्धं सदा संगतिम् ।
कृत्वा श्रीजिनधर्मकर्मणि रता भूत्वा स्वयं भक्तितो
नित्यं शास्त्रमहाशुभे शुचिमतिं कुर्वन्तु सन्तः श्रिये ॥ १६ ॥

इति कथाकोशे पाराशरस्य लौकिकी कथा समाप्ता ।

३७–सात्यकिरुद्रयोः कथा।

श्रीजिनं केवलज्ञान-लोचनं सम्प्रणम्य च।
वक्ष्येहं पूर्वसूत्रेण कथां सात्यकिरुद्रयोः॥ १॥
गन्धारविषये रम्ये महेश्वरपुरेभवत्।
राजा सत्यन्धरस्तस्य राज्ञी सत्यवती मता॥ २॥
तयोः सात्यकिनामाभूत्पुत्रो राजकलान्वितः।
राजविद्यां विना राजा राजते नैव भूतले॥ ३॥
सिन्धुदेशे विशालाख्य-पत्तने चेटको नृपः।
श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्ज-सेवनैकमधुव्रतः॥ ४॥
तस्य राज्ञी सुभद्राऽभूत्सती व्रतमतल्लिका।
पुत्र्यस्तयोः समुत्पन्नाः सप्त सद्रूपमण्डिताः॥ ५॥
तासामाद्याभवत्पुत्री पवित्रा प्रियकारिणी।
मृगावती द्वितीया च तृतीया सुप्रभा मता॥ ६॥
प्रभावती चतुर्थी च पञ्चमी चेलिनी शुभा।
ज्येष्ठा षष्ठी बुधैः प्रोक्ता सप्तमी चन्दना सती॥ ७॥
अथाभयकुमारेण श्रेणिकाय महीभुजे।
चेलिन्या भूमिमार्गेण प्रच्छन्नं नीयमानया॥ ८॥
सा ज्येष्ठाभरणव्याजा-द्वञ्चिता दुःखिता सती।
यशस्वत्यार्यिकापार्श्वे दीक्षां जग्राह भक्तितः॥ ९॥
सात्यकेस्तस्य सा ज्येष्ठा पूर्वं दत्तास्ति वाक्यतः।
तस्या दीक्षां समाकर्ण्य सात्यकिस्तु विरक्तधीः॥ १०॥
मुनेः समाधिगुप्तस्य नत्वा पादद्वयं मुदा।
जिनदीक्षां समादाय सोपि जातो मुनिस्तदा॥ ११॥

एकदा वर्द्धमानस्य श्रीमत्तीर्थकरेशिनः ।
वन्दनार्थं प्रगच्छन्त्यो यशास्वत्यर्यिकादयः ॥ १२ ॥
महाटव्यामकालोत्थ-वृष्ट्या ताः पीडितास्तराम् ।
इतस्ततो गताः कष्टं प्रावृट्कालो हि दुःसहः ॥ १३ ॥
जेष्ठा कालगुहामध्यं संप्रविश्य स्ववाससः ।
चक्रे निपीडनं चित्ते मत्वैकान्तं निजेच्छया ॥ १४ ॥
अन्धकारे स्थितस्तत्र सात्यकिः स मुनिस्तदा ।
तां दृष्ट्वा विह्वलीभूत-मानसोजनि पापतः ॥ १५ ॥
तद्वपुर्वन्हिना मूढः स्वकीयं शीलरत्नकम् ।
भस्मीचकार हा कष्टं कामान्धः किं करोति न ॥ १६ ॥
ततस्तदिङ्गितैर्ज्ञात्वा यशास्वत्यर्यिका सती ।
नीत्वा तां चेलिनीपार्श्वे स्थापयामास शुद्धधीः ॥ १७ ॥
प्रच्छन्न च तया ज्येष्ठा चेलिन्या स्वगृहे धृता ।
सद्दृष्टयः प्रकुर्वन्ति दर्शनच्छादनं महत् ॥ १८ ॥
सा ज्येष्ठा नवभिर्मासैः प्रसूता तनुजं ततः ।
चेलिन्यास्तनुजो जातः श्रेणिकेनेति घोषितम् ॥ १९ ॥
कैश्चिद्दिनैरसौ सार्द्धं वृद्धिं प्राप दुराशयैः ।
यो वृक्षो मूलतो नष्टस्तत्फले कात्र मिष्टता ॥ २० ॥
एकदा रौद्रभावेन मारयत्परपुत्रकान् ।
चेलिन्या रुष्टया सोपि रुद्रनामेति जल्पितः ॥ २१ ॥
तथैकदा कृतेऽन्याये चेलिनी प्राह कोपतः ।
अन्येन जनितोप्यत्र सन्तापयति पापधीः ॥ २२ ॥

तच्छ्रुत्वा रुद्रकश्चित्ते किमप्यत्रास्ति कारणम् ।
विचार्येति नृपं प्राह को मे तातो महाग्रहात् ॥ २३ ॥
ततः कष्टेन तेनोक्तं समाकर्ण्य स्ववृत्तकम् ।
गत्वा सात्यकिसान्निध्ये रुद्रो दीक्षां गृहीतवान् ॥ २४ ॥
ततश्चैकादशाङ्गानि दशपूर्वमहाश्रुतम् ।
तस्योच्चैः पठतः शास्त्र-प्रभावेण समागता ॥ २५ ॥
विद्याः पञ्चशतान्याशु महत्यश्च तथा पराः ।
लव्ध्यः सप्तशतान्येव विद्याः सिद्धा मनोहराः ॥ २६ ॥
लोभतः सोपि ता विद्याः स्वीचक्रे रुद्रकस्तदा ।
श्रेयसे न भवेल्लोभो भाविसौख्यक्षयंकरः ॥ २७ ॥
रुद्रस्ताभिश्च विद्याभि-र्गोकर्णगिरिमस्तके ।
महातापनयोगस्थं सात्यकिं तं मुनीश्वरम् ॥ २८ ॥
वन्दितुं ये समायान्ति भक्ता भव्यमतल्लिकाः ।
सिंहव्याघ्रादिरूपेण दुष्टस्तांस्त्रासयते तराम् ॥ २९ ॥
तदाकर्ण्य तकं प्राह सात्यकिर्मुनिसत्तमः ।
अहो रुद्र वृथा चेष्टां मा कुरु त्वं प्रकष्टदाम् ॥ ३० ॥
स्त्रीनिमित्तात्तपोभङ्गः संभाविष्यति ते कुधीः ।
इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं स रुद्रो दुष्टमानसः ॥ ३१ ॥
चेष्टां न मुञ्चति स्मोच्चै-स्तां करोति स्म पापतः ।
मानसे नैव तिष्ठन्ति पापिनां सद्गुरोर्गिरः ॥ ३२ ॥
ततः कैलासनामानं पर्वतं सुमनोहरम् ।
गत्वा तापनयोगेन स्थितोसौ मुनिमर्कटः ॥ ३३ ॥

अथेह विजयार्द्धे च दक्षिणश्रेणिसंस्थितम् ।
पुरं मेघनिबद्धाख्यं मेघादिनिचयं पुनः ॥ ३४ ॥
तथा मेघनिदानं च तेपु राजा महानभूत् ।
कनकादिरथो नाम्ना राज्ञी तस्य मनोहरा ॥ ३५ ॥
तयोः पुत्रौ समुत्पन्नौ देवदारुर्द्वितीयकः ।
विद्युज्जिह्वो महाविद्या-रूपसौभाग्यमण्डितौ ॥ ३६ ॥
एकदा स महाराज-स्त्रिधा वैराग्ययोगतः ।
देवदारुसुपुत्राय राज्यं दत्वा प्रमोदतः ॥ ३७ ॥
दीक्षां गणधराख्यस्य मुनेः पार्श्वे विकल्मपः ।
समादाय मुनिर्जातो भव्यसन्दोहतारकः ॥ ३८ ॥
कैश्चिद्दिनैस्ततः सोपि देवदारुखगाधिपः ।
निर्घाटितो लघुभात्रा विद्युज्जिह्वेन लोभिना ॥ ३९ ॥
तस्मात्कैलासमागत्य संस्थितो मानभंगतः ।
कुटुम्बकलहेनात्र नष्टाः के के न भूतले ॥ ४० ॥
तस्याष्टौ च महाकन्याः प्रोल्लसद्रूपसम्पदाः ।
वाप्यां स्नातुं समायान्ता यत्रास्ते रुद्रको मुनिः ॥ ४१ ॥
यावद्वापी तटे धृत्वा वस्त्राभरणसंञ्चयम् ।
कन्यास्तोयं प्रविष्टास्ताः स्नानं कर्त्तुं निजेच्छया ॥ ४२ ॥
तदा तद्रूपसंसक्तः स रुद्रः स्मरपीडितः ।
विद्यया चोरयामास तासां वस्त्रादिकं कुधीः ॥ ४३ ॥
ततस्ताभिः समागत्य व्याकुलाभिः स्वेतसि ।
पृष्टः सोपि मुनिः स्वामिन्नस्माकं केन सहृतः ॥ ४४ ॥

वस्त्रालंकारसन्दोहो ब्रूहि भो नाथ वेगतः ।
आपदायां कुतो लज्जा प्राणिनां पापकर्मतः ॥ ४५ ॥
तेनोक्तं यदि मां यूय-मिच्छथेति सुनिश्चितम् ।
तदाहं दर्शयाम्युच्चै-र्युस्माकं सर्ववस्तुकम् ॥ ४६ ॥
ताभिरुक्तं यदास्माकं पिता तुभ्यं ददाति नः ।
त्वामिच्छामस्तदा सत्यं वाक्यमेतत्कुलस्त्रियः ॥ ४७ ॥
इत्युक्ते तेन तत्सर्वं तासामेव समर्पितम् ।
ताभिस्ततो गृहं गत्वा स्वपितुस्तं निरूपितम् ॥ ४८ ॥
तदाकर्ण्य ततस्तेन देवदारुखगेशिना ।
प्रधानः प्रेपितः शीघ्रं तत्समीपेपु कार्यवित् ॥ ४९ ॥
विद्युज्जिह्वं खगं हत्वा राज्यं मे त्रिपुरोद्भवम् ।
त्वं ददासि तदा तुभ्यं दीयन्ते सर्वकन्यकाः ॥ ५० ॥
इति श्रुत्वा प्रधानोक्तं सर्वमेवं करोम्यहम् ।
अंगीचकार तद्रुद्रः कामी किं न करोत्यधम् ॥ ५१ ॥
तदातेन खगेन्द्रेण नीतोसौ स्वगृहं मुदा ।
किं करोति न राज्यार्थं राज्यभ्रष्टो महीपतिः ॥ ५२ ॥
ततो रौद्रेण रुद्रेण स्वविद्यानां प्रभावतः ।
विजयार्द्धगिरिं गत्वा हत्वा तं दुष्टमानसम् ॥ ५३ ॥
विद्युज्जिह्वं खगाधीशं त्रिपुरेषु तदा द्रुतम् ।
देवदारुर्नृपो राज्ये स्थापितः सन्महोत्सवैः ॥ ५४ ॥
ततस्तेन महाभूत्या विद्याधरमहीभुजा ।
तस्मै रुद्राय ताः कन्या दत्ताश्चान्यास्तु भूरिशः ॥ ५५ ॥

तदा तस्य महातीव्र-कामसेवावशं गताः ।
अन्येषां भूभुजां कन्याः शतशश्च क्षयं ययुः ॥ ५६ ॥
ततोसौ पार्वतीख्यातां परिणीय गुणोज्वलाम् ।
संजातः कामभोगेषु सन्तुष्टो रुद्रको महान् ॥ ५७ ॥
दुरात्मना ततस्तेन सर्वे भूपादयस्तराम् ।
पीडिताः स्वस्य विद्याभि-र्दुष्टात्मा कस्य शान्तये ॥ ५८ ॥
ततस्तस्याश्च पार्वत्या-स्तातार्द्यैर्दुखतो भृशम् ।
कामसेवाक्षणे तस्य विद्यास्तिष्ठन्ति दूरतः ॥ ५९ ॥
इति ज्ञात्वा स संभोग-समये क्रूरमानसः ।
सस्त्रीको मारितः कष्टं पापिनां सुहृदोरयः ॥ ६० ॥
तदा तस्य महाविद्याः स्वनाथमरणक्षणे ।
प्रजानां पीडनं चक्रु-र्नाना व्याधिशतैस्तराम् ॥ ६१ ॥
ततो ज्ञानिमुनेर्वाक्यात्कस्यचित्तो पुनर्जनाः ।
एकवारं स्वशान्त्यर्थं कृत्वा लिङ्गं क्षमां जगुः ॥ ६२ ॥
इदं तस्मान्महामूढो गड्डरीणां प्रवाहवत् ।
देवत्वं मानसे ज्ञात्वा मानयन्ति स्म दुर्दृशः ॥ ६३ ॥
देवोर्हन्दोषनिर्मुक्तो देवेन्द्राद्यैः प्रपूजितः ।
केवलज्ञानसाम्राज्यो नान्यो रागादिदूषितः ॥ ६४ ॥
सकलभुवननाथैः पूजितो भक्तिभारैः
विमलतरगुणौघः केवलज्ञानचन्द्रः ।
निखिलसुखसुदाता सर्वसन्तापहर्त्ता
स जयतु जगदेकः श्रीजिनो मे प्रशान्त्यै ॥ ६५ ॥

इति कथाकोशे सात्यकिरुद्रयोः कथा समाप्ता ।

३८–ब्रह्मणः कथा ।

नत्वा जिनं जगत्पूज्य-माद्यब्रह्माणमद्भुतम् ।
ब्रह्मेति देवपुत्रोसौ वक्ष्येहं लौकिकीं कथाम् ॥ १ ॥
एवं मूढाः प्रजल्पन्ति ब्रह्मासावेकदामुदा ।
इन्द्रादीनां पदं जित्वा सर्वोत्कष्टो भवाम्यहम् ॥ २ ॥
इत्यास्थया महाटव्या-मूर्द्धबाहुः प्रकष्टतः ।
देवतार्द्धचतुर्वर्ष-सहस्राणि महातपः ॥ ३ ॥
कुर्वन्नेकपदेनोच्चै-र्भुञ्जानः पवनं स्थितः ।
तपःशक्त्या तदेन्द्रादे-र्जातमासनकम्पनम् ॥ ४ ॥
इन्द्रनागेन्द्ररुद्राद्याः स्वराजक्षयभीतितः ।
अप्सरोरूपमादाय कृत्वा देवीं तिलोत्तमाम् ॥ ५ ॥
नाना गन्धर्वसद्गान-पेटकाद्यैः समन्विताम् ।
तत्पार्श्वे प्रेषयामासुः सत्तपःक्षयहेतवे ॥ ६ ॥
सापि स्वर्गात्समागत्य तत्समीपे सुरांगना ।
हावैर्भावैर्विलासाद्यैः संचक्रे नर्त्तनं महत् ॥ ७ ॥
सोपि तद्रूपसंसक्तो भूत्वा ब्रह्मा स्वमानसे ।
प्रोत्फुल्ललोचनस्तां च पश्यति स्म स्मरोहतः ॥ ८ ॥
तच्चित्तं सा परिज्ञात्वा विद्धं कन्दर्पसायकैः ।
ब्रह्मणो वामपार्श्वे च गत्वा नृत्यं चकार च ॥ ९ ॥
दिव्यवर्षसहस्रोत्थ-तपसा दारुणेन च ।
तत्रापि वामपार्श्वेसौ चक्रे वक्त्रं द्वितीयकम् ॥ १० ॥
एवं क्रमात्तदासक्तो जातोसौ चतुराननः ।
ऊर्द्धं च गर्दभाकारं स्वतुण्डं कृतवान्पुनः ॥ ११ ॥

सा नर्त्तकी तपो भ्रष्टं तं विधायेति धूर्त्तिका ।
स्वर्गं गत्वा सुरेन्द्राणां नत्वा तद्वृत्तकं जगौ ॥ १२ ॥
भो स्वामिनः सुखं नित्यं यूयं तिष्ठथ लीलया ।
कन्दर्पमूर्च्छितो ब्रह्मा सम्पपात महीतले ॥ १३ ॥
इन्द्रेणोक्तं तदाकर्ण्य तत्र किं त्वं स्थिता न हि ।
सा जगादेति भो देव वृद्धोसौ नैव रोचते ॥ १४ ॥
ततः कारुण्यभावेन देवेन्द्रेण महाधिया ।
उर्वशी प्रेषिता वेश्या तत्समीपे मनोहरा ॥ १५ ॥
सापि तत्र समागत्य शक्रादेशेन भक्तितः ।
कृत्वा तत्पादसंस्पर्शं चक्रे तं च सचेतनम् ॥ १६ ॥
तदा तामुर्वशीं प्राप्य गृहं कृत्वा निजेच्छया ।
नाना भोगान्प्रभुञ्जानः स ब्रह्मा लौकिकः स्थितः ॥ १७ ॥
अहो मूढा न जानन्ति देवं देवस्वरूपकम् ।
जल्पन्ति मत्तवन्नित्यं स्वेच्छया सत्यवर्जितम् ॥ १८ ॥
इन्द्रादीनां पदं दिव्यं गृह्यते केन तद्धठात् ।
किं दुराचारमित्युच्चैः कुर्वन्ति सुरयोषितः ॥ १९ ॥
यो ब्रह्मा त्रिजगद्देवः किं करोति कुकर्म सः ।
सर्वमेतदसत्यं हि ज्ञातव्यं नीतिवेदिभिः ॥ २० ॥
श्रीमज्जिनागमे प्रोक्तो ब्रह्मासौ पञ्चधा ध्रुवम् ।
मोक्षे तथाऽऽत्मनिज्ञाने चारित्रे वृषभप्रभुः ॥ २१ ॥
अन्यथा न परो ब्रह्मा विद्यते भुवनत्रये ।
रागादिदूषितः कामी कथं देवो भवेद्भुवि ॥ २२ ॥

यस्तु रागादिभिर्मुक्तो लोकालोकप्रकाशकः ।
केवलज्ञानसच्चक्षुः स मे ब्रह्मा वृषध्वजः ॥ २३ ॥
यो जानात्यखिलं जगत्त्रयमिदं सत्केवलज्ञानभाक्
भव्याम्भोरुहभास्करोतिचतुरः संसारनिस्तारकः ।
ब्रह्मा श्रीवृषभेश्वरो गुणनिधिः स्वर्गापवर्गप्रदः
स स्यान्मे भवशान्तये शुचितरो देवेन्द्रवर्यैः स्तुतः ॥ २४ ॥

इति कथाकोशे लौकिकस्य ब्रह्मणः कथा समाप्ता ।

३९–परिग्रहाद्भीतस्य धनदत्तस्य कथा ।

नत्वा निर्ग्रन्थनाथेशं श्रीजिनं परमेश्वरम् ।
ग्रन्थोत्पन्नं भयं प्राप्तौ भ्रातरौ तत्कथां ब्रुवे ॥ १ ॥
दशार्णविषये रम्ये पुरे चैकरथाभिधे ।
धनदत्तोभवच्छ्रेष्ठी धनदत्ता प्रिया तयोः ॥ २ ॥
संजातौ धनदेवाख्य-धनमित्रौ सुतोत्तमौ ।
धनमित्राभवत्पुत्री स्वरूपगुणमण्डिता ॥ ३ ॥
धनदत्ते मृते तस्मिन्तौ पुत्रौ पापकर्मणा ।
दारिद्र्येण महाकष्टं पीडितौ शर्महारिणा ॥ ४ ॥
कौशाम्बीं नगरीं गत्वा प्रणम्य निजमातुलम् ।
ऊचतुः साश्रुपातं च स्वपितुर्मरणं तदा ॥ ५ ॥
मातुलोपि ततो धीमान् श्रुत्वा तद्वृत्तकं तयोः ।
समुद्धीर्य शुभैर्वाक्यै-रष्टानर्घ्यमणीन्ददौ ॥ ६ ॥

बन्धुत्वं तद्दयालुत्वं गम्भीरत्वं तदेव च ।
अर्थिनां यन्निजैर्वित्तै-र्भवेदाशाप्रपूरणम् ॥ ७ ॥
तौ तान्मणीन्समादाय मार्गे तल्लोभतस्तराम् ।
चिन्तयामासतुश्चित्ते मारणं च परस्परम् ॥ ८ ॥
ततः स्वपुरसान्निध्यं समागत्य स्वमानसे ।
पश्चात्तापं विधायोच्चै-स्तौ प्रकाश्य मनोमलम् ॥ ९ ॥
क्षिप्त्वा वेत्रवतीनद्यां तान्मणीन्गृहमागतौ ।
मत्स्येन गिलितास्ते तु मांसं मत्वा सुपापिना ॥ १० ॥
ततोसौ धीवरेणैव हतस्तोयचरः पुनः ।
तयोर्मातुः करे प्राप्ता मणयः कर्मयोगतः ॥ ११ ॥
तदासौ धनदत्तोपि मणीनादाय मानसे ।
पुत्रपुत्रीमहाघातं चिन्तयामास लोभतः ॥ १२ ॥
पुनर्निन्दां निजां कृत्वा स्वपुत्र्यै संददौ मणीन् ।
गृहीत्वा धनमित्रा च महापापप्रमोहिता ॥ १३ ॥
सापि स्वभ्रातृमातृणां चित्ते धत्ते स्म मारणम् ।
अहो कष्टं कुधीर्लोभो जन्तूनां पापकारणम् ॥ १४ ॥
ततस्तया निजे चित्ते पश्चात्तापं विधाय च ।
भ्रातृभ्यां मणयो दत्ता कष्टकोटिविधायकाः ॥ १५ ॥
तौ तान्मणीन्परिज्ञात्वा महावैराग्ययोग्यतः ।
त्यक्त्वा परिग्रहं सर्वं महाक्लेशस्य कारकम् ॥ १६ ॥
स्वमातृभगिनीयुक्तौ नत्वा दमधराभिधम् ।
मुनीन्द्रं परया भक्त्या स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥ १७ ॥

दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं सुरेन्द्राद्यैः समर्चिताम् ।
जातौ मुनी जगत्पूज्यौ निजात्मपरताकौ ॥ १८ ॥
मत्वैवं भवभूरिदुःखजनकं लोभं महापापदं
मातृभ्रातृकुटुम्बवञ्चनगृहं त्यक्त्वा त्रिधा धार्मिकैः ।
श्रीमज्जैनमते जगत्त्रयहिते धर्मे सुशर्मप्रदे
कर्त्तव्यं सुमनो दृढं प्रतिदिनं शुद्धं महाश्रेयसे ॥ १९ ॥

इति कथाकोशे परिग्रहाद्भयमिति कथा समाप्ता ।

४०–धनाद्भीतस्य सागरदत्तस्य कथा ।

प्रणम्य परमात्मानं श्रीजिनं केवलेक्षणम् ।
जातं भयं धनाच्चेति कथयामि कथानकम् ॥ १ ॥
कौशाम्ब्यां धनमित्राख्य-धनदत्तादयो मुदा ।
वाणिज्येन वणिक्पुत्रा निर्गता राजगेहकम् ॥ २ ॥
तस्करैश्च महाटव्यां पापिष्ठैस्तद्धनं हृतम् ।
हानिर्लोके विपुण्याना-मुद्यमेपि भवेद्ध्रुवम् ॥ ३ ॥
चोरास्तेपि धनार्थं च मारणार्थं परस्परम् ।
रात्रौ चक्रुर्विषाहारं हा कष्टं दुष्ट चेष्टितम् ॥ ४ ॥
दस्यवस्ते तदाहारं भुक्त्वाशु प्राणनाशकम् ।
मृत्युं प्रापुः प्रकष्टेन क्व भवेत्पापिनां शुभम् ॥ ५ ॥
तेषां मध्ये वणिक्पुत्रः सुधीः सागरदत्तवाक् ।
रात्रिभुक्तिव्रतात्तेन न भुक्तं तद्विषान्नकम् ॥ ६ ॥

समालोक्य तदा सोपि तेषां मृत्युं विरक्तवान् ।
संत्यक्त्वा तद्धनं त्रेधा मुनिर्जातो जगद्धितः ॥ ७ ॥
एकेनापि जिनेन्द्रदेवकथिते नोच्चैर्व्रतेन स्वयं
ज्ञात्वा संसृतिचेष्टितं च हृदये विद्युच्चलं जीवितम् ।
त्यक्त्वा तच्च धनं विशिष्टचरणो ज्ञातो मुनिः शुद्धधीः
स श्रीसागरदत्तवाग्गुणनिधिः कुर्यात्सतां मंगलम् ॥ ८ ॥

इति कथाकोशे धनाढ्यीतस्य सागरदत्तस्य कथा समाप्ता ।

४१—धनाढ्यमबुद्धिकुबेरदत्त-कथा ।

श्रीजिनं त्रिजगत्पूज्यं भारतीं भुवनोत्तमाम् ।
नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या वक्ष्ये संगकथानकम् ॥ १ ॥
देशे मणिवते ख्याते पुरे मणिवताभिधे ।
राजा मणिवतो नाम्ना तद्राज्ञी पृथिवीमती ॥ २ ॥
तत्पुत्रो मणिचन्द्राख्यः संजातो गुणसंयुतः ।
शूरो धीरोतिगंभीरो राजविद्याविराजितः ॥ ३ ॥
स राजा पूर्वपुण्येन कुर्वन्राज्यं निजेच्छया ।
संस्थितः श्रीजिनेन्द्रोक्त-धर्मकर्मपरायणः ॥ ४ ॥
दानं भक्त्या सुपात्रेषु पूजां श्रीमज्जिनेशिनाम् ।
नित्यं परोपकारं च करोति स्म स भूपतिः ॥ ५ ॥
एकदा पृथिवीदेवी कुर्वती केशसंस्कृतिम् ।
मस्तके स्वपतेः केशं पलितं वीक्ष्य सा ददौ ॥ ६ ॥

दृष्ट्वा मणिवतो राजा केशं वा यमपाशकम् ।
त्रिधा वैराग्यमापन्नो जैनतत्वविदाम्वरः ॥ ७ ॥
स्वराज्यं मणिचन्द्राय दत्वा पुत्राय धीमते ।
कृत्वा पूजां जिनेन्द्राणां महास्नपनपूर्वकम् ॥ ८ ॥
दानं दत्वा यथायोग्य-मर्थिभ्यो विनयान्वितः ।
जिनदीक्षां समादाय मुनिर्जातो जगद्धितः ॥ ९ ॥
एकदासौ विशुद्धात्मा संस्मरञ्जिनपादयोः ।
एकाकी विहरन्धीमा-नुज्जयिन्याः श्मशानके ॥ १० ॥
समागत्य स्थितो रात्रौ धीरो मृतकशय्यया ।
ध्यायंश्चित्ते महाशान्त्यै परमात्मानमुत्तमम् ॥ ११ ॥
तदा कापालिकः पापी तत्रागत्य श्मशानके ।
मृतकद्वयं समानीय मुनेः पार्श्वे सुनिर्घृणः ॥ १२ ॥
तन्मस्तकत्रयेणाशु कृत्वा चुल्लीं निजेच्छया ।
तत्र वेतालिकीविद्या-साधनार्थं नरस्य च ॥ १३ ॥
कपाले चरुकं कर्तुं प्रवृत्तो वह्निना तदा ।
मुनेस्तस्य नसादाहात्पतिते च कपालके ॥ १४ ॥
नष्टः कापालिकः सोपि भयाच्चकितमानसः ।
मुनीन्द्रो मेरुवद्धीरो तथैवोच्चैः स संस्थितः ॥ १५ ॥
प्रभाते तं मुनिं दृष्ट्वा केनचित्कर्मयोगतः ।
श्रेष्ठिनो जिनदत्तस्य प्रोक्तं तद्वृत्तकं तदा ॥ १६ ॥
श्रेष्ठिना तेन तच्छ्रुत्वा गत्वा शीघ्रं श्मशानके ।
तं विलोक्य मुनिं धीरं हाहाकारं विधाय च ॥ १७ ॥

समानीय निजं गेहं महायत्नेन धीमता ।
पृष्टो वैद्यो मुनेस्तस्य शान्त्यर्थं सोपि संजगौ ॥ १८ ॥
अहो श्रेष्ठिन्सुधीः सोम-शर्मभट्टगृहेस्ति च ।
लक्षपाकं शुभं तैलं तेन स्यादग्निशान्तिता ॥ १९ ॥
श्रेष्ठिना तत्समाकर्ण्य गत्वा विप्रगृहं तदा ।
तुंकारी नामतद्भार्या तत्तैलं याचिता सती ॥ २० ॥
तया प्रोक्तं गृहाणैकं भो श्रेष्ठिंस्तैलसद्घटम् ।
केचिल्लोकेर्थिनां सन्ति दानिनो वा सुरद्रुमाः ॥ २१ ॥
ततस्तद्घटमादाय निर्गतो यावदेव सः ।
भग्नो घटस्ततस्तेन पुनस्तस्या निरूपितम् ॥ २२ ॥
सा जगाद सुधीरन्यो घटः संगृह्यते त्वया ।
चित्तं सतां भवेन्नित्यं गंभीरं सागरादपि ॥ २३ ॥
स्फुटिते च द्वितीयेस्मिन्कर्मतस्तृतीयेपि च ।
सा तुंकारी सती प्राह भो श्रेष्ठिन्मा भयं कुरु ॥ २४ ॥
यावत्ते कार्यसिद्धिः स्यात्तावत्तैलं गृहाण मे ।
तच्छ्रुत्वा जिनदत्तेन श्रेष्ठिना निजमानसे ॥ २५ ॥
अस्याः क्षमा महाश्चर्य-माद्वितीयात्र दृश्यते ।
संविचार्येति सा पृष्टा भो मातः केन हेतुना ॥ २६ ॥
कृते महापराधेस्मिन्कोपो न क्रियते त्वया ।
तया प्रोक्तं मया प्राप्तं भो सुधीः कोपजं फलम् ॥ २७ ॥
तत्कथं श्रूयतां तात पुरे चानन्दनामनि ।
विप्रोभूच्छिवशर्माख्यो धनवान्नृप पूजितः ॥ २८ ॥

कमलंश्रीः प्रिया पुत्राः शिवभूत्यादयोऽभवन् ।
अष्टाहं नवमी पुत्री भट्टा नाम्नी मता जनैः ॥ २९ ॥
रूपलावण्यसौभाग्य-महामानविराजिता ।
तुंकर्तुं मां समर्थो न विद्यते कोपि भीतितः ॥ ३० ॥
एकदा मे पिता पुर्यां दापयामास घोषणाम् ।
तुंकारं मे सुतां कोपि माकरोत्विति सर्वथा ॥ ३१ ॥
तदा तुंकारिका चेति संजातं मम नामकम् ।
महामानो भवत्यत्र श्रेयसे नैव देहिनाम् ॥ ३२ ॥
कदाचिन्न करोम्यस्य तुंकारमिति निश्चयात् ।
सोमशर्मद्विजेनाहं परिणीता कुलक्रमात् ॥ ३३ ॥
अत्रैवोज्जयिनीमध्ये समानीता विभूतिभिः ।
यावत्स्थिता सुखं गेहे सारसम्पद्विराजिते ॥ ३४ ॥
तावच्चैकं दिने सोम-शर्मा मे प्राणवल्लभः ।
रात्रौ नाट्यकलां दृष्ट्वा दीर्घकाले समागतः ॥ ३५ ॥
द्वारे स्थित्वा जगादोच्चै-रुद्घाटय कपाटकम् ।
मया तदा प्रकोपेन मौनेनावस्थितं गृहे ॥ ३६ ॥
बृहद्वेला गता याव-त्तावत्तेन क्रुधा मम ।
तुंकारितं तदा चित्ते कोपनाहं प्रकम्पिता ॥ ३७ ॥
वह्निज्वालेव मूढात्मा कृत्वा द्वारं निरर्गलम् ।
त्यक्त्वा गेहं पुरं चापि बहिर्यावद्विनिर्गता ॥ ३८
तावच्चौरैः समालोक्य गृहीत्वाभरणादिकम् ।
नाम्ना विजयसेनस्य भिल्लस्याहं समर्पिता ।

संविचार्य मुनेः पार्श्वं गत्वा देव मम ध्रुवम् ।
त्वां विना न रतिश्चित्ते तस्मादागच्छ भो पुरम् ॥ ६२ ॥
इत्यादि मायया पश्चा-त्तं समानीय सन्मुनिम् ।
पृच्छति स्म मुने ब्रूहि काञ्चिद्धर्मकथामिति ॥ ६३ ॥
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह भो श्रेष्ठिंस्त्वं महानपि ।
चिरश्रावकतो दिव्यं कथयात्र कथानकम् ॥ ६४ ॥
ततोऽसौ जिनदत्ताख्यः श्रेष्ठी स्वाभिमतार्थकम् ।
सूचयन्समुवाचैवं ख्याते पद्मरथे पुरे ॥ ६५ ॥
वसुपालो महाराज-स्तेनायोध्यापतिं प्रति ।
जितशत्रुं द्रुतं दूतः प्रेपितः कार्यहेतवे ॥ ६६ ॥
स दूतस्तु महाटव्यां तृपितो मूर्च्छयान्वितः ।
वृक्षाधः पतितः कष्टं गतप्राणधनोथवा ॥ ६७ ॥
दूतं कण्ठगतप्राणं तमालोक्यैकवानरः ।
निमज्य सरासि स्वच्छे तत्रागत्य दयापरः ॥ ६८ ॥
तस्योपरि स्वकीयं च संविधूय शरीरकम् ।
अग्रे भूत्वा जलं तस्य दर्शयामास निर्मलम् ॥ ६९ ॥
सोपि पापी पयः पीत्वा हत्वा तं वानरं पुनः ।
तच्चर्मभास्त्रिकां कृत्वा ततो गमनहेतवे ॥ ७० ॥
तोयमादाय दुष्टात्मा निर्गतो धर्मवर्जितः ।
किं स्वामिंस्तस्य दूतस्य युक्तं मर्कटमारणम् ॥ ७१ ॥
तदाकर्ण्य मुनीन्द्रोसौ प्रोक्त्वा युक्तं न तद्भुवि ।
निर्दोषत्वं स्वकीयं च सूचयन्सत्कथां जगौ ॥ ७२ ॥

कौशाम्बीपत्तने विप्रः शिवशर्माभिधानकः ।
ब्राह्मणी कपिला तस्य संजाता पुत्रवर्जिता ॥ ७३ ॥
एकदा शिवशर्मासौ दृष्ट्वाटव्यां द्विजोत्तमः ।
पिल्लकं नकुलस्योच्चैः समानीय स्वयोषितः ॥ ७४ ॥
इमं पुत्रं गृहाणेति कपिलायाः समर्पयत् ।
किं करोति न मोहान्धः प्राणी तत्वपराङ्मुखः ॥ ७५ ॥
ततोसौ पालितः सौख्यं शिक्षितो गृहकर्मकम् ।
करोति नकुलः किंचित्स्वशक्त्या प्रेषणं तदा ॥ ७६ ॥
ततश्च कपिला कुक्षौ पुत्रोद्भूत्कर्मयोगतः ।
तं सुतं मञ्चके पुत्रं सैकदा कपिला द्रुतम् ॥ ७७ ॥
नकुलस्य समर्प्योच्चै-स्तण्डुलान्खण्डितुं गता ।
तदा सर्पेण पुत्रोसौ भक्षितो मृत्युमाप्तवान् ॥ ७८ ॥
कोपतो नकुलः सोपि हत्वा सर्पं सुदारुणम् ।
रक्तलिप्तमुखः पश्चात्संप्राप्तः कपिलान्तिकम् ॥ ७९ ॥
अनेन मारितः पुत्रः इत्याशंक्य स्वमानसे ।
मारितो नकुलः कष्टं ब्राह्मण्या मुशलेन सः ॥ ८० ॥
पश्चात्स्वगेहमागत्य मृतं दृष्ट्वा भुजंगमम् ।
पश्चात्तापस्तया चक्रे धिङ्मूढानां विचेष्टितम् ॥ ८१ ॥
भो श्रेष्ठिन्सर्पदोषेण किं तस्या विप्रयोषितः ।
युक्तं निरपराधस्य नकुलस्यैव मारणम् ॥ ८२ ॥
न युक्तमिति भो देव श्रेष्ठी प्राह कथानकम् ।
वाणारस्यां महाराजो जितशत्रुर्विचक्षणः ॥ ८३ ॥

भूभुजा सहकाराणां वनं तत्रैकदा पुरा ।
सौलिका सर्पमादाय स्थिता चाम्रतरूपरि ॥ १०६ ॥
तदा सर्पविषेणाशु पक्वमेकं फलं च तत् ।
गृहीत्वा वनपालोपि दर्शयामास भूपतेः ॥ १०७ ॥
स्वराज्ञ्यै धर्मसेनायै ददौ राजा च तत्फलम् ।
तद्भक्षणात्तदा सापि राज्ञी प्राप्ता यमालयम् ॥ १०८ ॥
रुष्टो राजा ततः सर्व-तदुद्यानस्य खण्डनम् ।
कारयामास भो श्रेष्ठिन्तत्किं युक्तं महीपते ॥ १०९ ॥
नैव युक्तमिति प्रोक्त्वा ततः श्रेष्ठी कथां जगौ ।
कश्चिन्नरो महाटव्यां गच्छन्सिंहं विलोक्य च ॥ ११० ॥
शीघ्रं सिंहभयान्नष्ट्वा-ऽऽसन्नपल्लीमहाद्रुमम् ।
समारुह्य स्थितः सौख्यं ततः सिंहे गते सति ॥ १११ ॥
अवतीर्य तरोर्मार्गे गच्छता तेन पापिना ।
तदान्वेषयत्तां काष्ठं महद्भूमिपतेर्नृणाम् ॥ ११२ ॥
सारभेरीनिमित्तं च दर्शितः सोपि पादपः ।
तैस्तु संखंडितो वृक्षः सुच्छायः सुमनोहरः ॥ ११३ ॥
रक्षाविधायिनस्तस्य सुजनस्येव सत्तरोः ।
तत्किं कारयितुं युक्तं भो मुने तस्य पापिनः ॥ ११४ ॥
तच्छ्रुत्वा मुनिनाथोसौ संजगाद कथानकम् ।
कौशाम्बीपत्तने राजा गन्धर्वानीक संज्ञकः ॥ ११५ ॥
स्वर्णकारोभवत्तत्र सज्जातिः पत्तने तराम् ।
नामतोङ्गारदेवोसौ रत्नसंस्कारकोविदः ॥ ११६ ॥

एकदा राजकीयोरु-मुकुटाग्रहामणिम् ।
तेनोज्वालयता गेहे समायातो मुनीश्वरः ॥ ११७ ॥
चर्यार्थे संप्रणम्याशु भक्त्या मेदृजसंज्ञकः ।
स्थापितः कर्मशालायां स मुनिस्तु सुखं स्थितः ॥ ११८ ॥
तत्समीपे मणिं धृत्वा भार्याग्रे स गतो यदा ।
मणिः संगालितस्ताव-द्रक्तत्वात्क्रौञ्चपक्षिणा ॥ ११९ ॥
आगतेन ततस्तेन माणिं चापश्यता द्रुतम् ।
सम्पृष्टोसौ मुनीन्द्रोपि जानन्मौनेन संस्थितः ॥ १२० ॥
स्वर्णकारः पुनः प्राह ब्रूहि त्वं भो माणिं मुने ।
अन्यथा सकुटुम्बस्य संक्षयो मे भविष्यति ॥ १२१ ॥
तथैव संस्थितः सोपि मुनीन्द्रः करुणापरः ।
ततो रुष्टेन तेनाशु चोरोयं चेति मानसे ॥ १२२ ॥
ज्ञात्वा वध्वा महाकाष्ठै-राहतोसौ मुनीश्वरः ।
धिग्धनं धिक्च मूढत्वं वेत्ति किंचिन्न यज्जनः ॥ १२३ ॥
एककाष्ठे तदा क्रौञ्च-गले लग्ने लसद्द्युतिः ।
पद्मरागमणिः सोपि निर्गतो वा यशस्ततिः ॥ १२४ ॥
तं विलोक्य माणिं सोपि स्वर्णकारः सुदुःखितः ।
हाहाकारं विधायोच्चै-र्लग्नस्तन्मुनिपादयोः ॥ १२५ ॥
अहो श्रेष्ठिन्यथा तेन जानता मुनिना मणिः ।
प्रोक्तो नैव दयालुत्वा-त्तथाहं ते च सद्व्रतम् ॥ १२६ ॥
जानन्नपि ध्रुवं धीर कथयामि न संयमी ।
कुरु त्वं यच्च जानासि साम्प्रतं त्वन्मनोगतम् ॥ १२७ ॥

तदा कुबेरदत्तोसौ प्रच्छन्नं तन्निशम्य च ।
समानीय घटं शीघ्रं प्रोल्लसद्रत्नसंभृतम् ॥ १२८ ॥
कियन्तमुपसर्गं भो करिष्यति भवान्मुने ।
इत्युक्त्वा कोपतः पित्रे जिनदत्ताय तं ददौ ॥ १२९ ॥
ततोसौ जिनदत्ताख्यः श्रेष्ठी लज्जाभरान्वितः ।
कुबेरदत्तोपि पुत्रः पश्चात्तापं विधाय च ॥ १३० ॥
नत्वा तं मेरुवद्धीरं मुनीन्द्रं सत्तपोनिधिम् ।
भक्त्यां क्षमापयित्वा च तस्यैव चरणान्तिके ॥ १३१ ॥
त्रिधा वैराग्यमासाद्य जैनीं दीक्षां सुखप्रदाम् ।
गृहीत्वा तौ मुनी जातौ निजात्मपरतारकौ ॥ १३२ ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-प्रोल्लसद्बोधसिंधवः ।
सारसम्यक्त्वरत्नाढ्या लसच्छीलोर्मिराजिताः ॥ १३३ ॥
ये ते मुनयो नित्यं सुरेन्द्राद्यैः समर्चिताः ।
अस्माकं वन्दिता भक्त्या शान्तये सन्तु शर्मदाः ॥ १३४ ॥
जातः श्रीमतिमूलसंघतिलके श्रीकुन्दकुन्दान्वये
विद्यानन्दिगुरुप्रपट्टकमलोल्लासप्रदो भास्करः ।
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरू रत्नात्रयालंकृतः
कुर्यात्सूरिमतल्लिको गुणनिधिर्नित्यं सतां मङ्गलम् ॥ १३५ ॥

इति कथाकोशे भट्टारक-श्रीमल्लिभूषण-शिष्य-ब्रह्मनेमिदत्त-विरचिते संगभयाधिकारे मणिवतमुनि-तुंकारी-कथा-वर्णनायां द्वितीयः परिच्छेदः ।

४२–पिण्याकगन्धस्य कथा ।

प्रणम्य त्रिजगन्नाथं श्रीजिनं सारशर्मदम् ।
वक्ष्ये पिण्याकगन्धस्य चरित्रं धनलोभिनः ॥ १ ॥
कांपिल्यनगरे राजा नाम्ना रत्नप्रभोभवत् ।
राज्ञी विद्युत्प्रभा जाता रूपसौभाग्यमण्डिता ॥ २ ॥
श्रेष्ठी श्रीजिनदत्ताख्यो जिनपादाब्जषट्पदः ।
राजादिपूजितो धीमान् श्रावकाचारकोविदः ॥ ३ ॥
तत्रैव नगरें श्रेष्ठी परः पिण्याकगन्धवाक् ।
द्वात्रिंशत्कोटिसुद्रव्यो लोभाद्भुंक्ते खलं खलः ॥ ४ ॥
द्रव्यं लब्ध्वा कुधीर्यस्तु दातुं भोक्तुं क्षमो न हि ।
पापतः कृपणत्वाच्च स भुंक्ते दुःखमेव च ॥ ५ ॥
तस्य स्त्री सुन्दरी नाम्नी विष्णुदत्तः सुतोजनि ।
एकदा राजकीयं च तडागं खनता तदा ॥ ६ ॥
उडुनैकेन संलब्ध्वा सुवर्णकुशिकाभृता ।
मञ्जूषा कर्मयोगेन चिरकालस्थिता ततः ॥ ७ ॥
महाकिट्टिप्रलिप्तत्वा-देका लोहस्य मूल्यतः ।
दत्ता श्रीजिनदत्ताख्य-श्रेष्ठिने कुशिका मुदा ॥ ८ ॥
सोपि श्रेष्ठी सुधीर्ज्ञात्वा पश्चात्स्वर्णमनोहरम् ।
पापभीरुस्तदा तेन सुवर्णेन सुखप्रदाम् ॥ ९ ॥
जिनेन्द्रप्रतिमां कृत्वा तत्प्रतिष्ठां जगद्धिताम् ।
कारयामास सद्दृष्टि-र्धर्मिणामीदृशी मतिः ॥ १० ॥

द्वितीया च कुशी तेन जिनदत्तेन धीमता ।
परद्रव्यमिति ज्ञात्वा गृहीता नैव तद्व्रतात् ॥ ११ ॥
ततः पिण्याकगन्धस्तां गृहीत्वा लोहमूल्यतः ।
ज्ञात्वा सुवर्णमयीं तां च पुनर्देहीति संजगौ ॥ १२ ॥
तथाष्टानवतिः कुश्यः प्रच्छन्नं चोड्डुकेन हि ।
तस्य तावद्दिनैर्दत्ता लोहमूल्यादजानता ॥ १३ ॥
ततः पिण्याकगन्धाख्यः स श्रेष्ठी धनलम्पटः ।
भागिनेयविवाहार्थं भगिन्याग्रहतो द्रुतम् ॥ १४ ॥
कुशीनां ग्रहणे पुत्रं तं निरूप्य प्रलोभतः ।
संप्राप्तः पिप्पलग्रामं प्रेरितः पापकर्मणा ॥ १५ ॥
तेनोड्डुना समानीतां विष्णुदत्तस्तु तां कुशीम् ।
किं कार्यमनया चेति तदासौ न गृहीतवान् ॥ १६ ॥
ततो राजभटेनाशु खननार्थं हठेन ताम् ।
गृहीत्वा खनता तेन सुवर्णकुशिका शतम् ॥ १७ ॥
इत्यक्षराणि संवीक्ष्य दर्शिता सा महीपतेः ।
उड्डुश्चाकारितो राज्ञा पृष्टोसौ संजगाविति ॥ १८ ॥
एका श्रीजिनदत्ताय कुश्योष्टानवतिर्ध्रुवम् ।
अन्याः पिण्याकगन्धाय मया दत्ता महीपते ॥ १९ ॥
आहूतो जिनदत्तोसौ प्रोक्त्वा तद्वृत्तकं पुनः ।
दर्शयामास जैनेन्द्रीं प्रतिमां पापनाशिनीम् ॥ २० ॥
तां दृष्ट्वा भूपतिश्चित्ते परमानन्दनिर्भरः ।
वस्त्राद्यैः पूजयामास श्रेष्ठिनं तं गुणोज्ज्वलम् ॥ २१ ॥

पिण्याकश्रेष्ठिनो गेहं गृहीत्वा तत्कुटुम्बकम् ।
निक्षिप्तं कष्टतो राज्ञा कारागारे प्रकोपतः ॥ २२ ॥
येन तृष्णातुरेणोच्चै-र्गृहीतं परवित्तकम् ।
निजं तेन स्वहस्तेन क्षयं नीतं च सर्वथा ॥ २३ ॥
विवाहान्तरं सोपि समागच्छन्निजं गृहम् ।
श्रुत्वा स्वगेहवृत्तान्तं मार्गे पिण्याकगन्धकः ॥ २४ ॥
इमौ पादौ दुरात्मानौ सर्वलक्ष्मीक्षयङ्करौ ।
गतौ ग्राममिति क्रोधाद्धत्वा पाषाणकेन च ॥ २५ ॥
मृत्वार्तध्यानतो कष्टं षष्ठेसौ नरके कुधीः ।
लेल्लकप्रस्तरे पापी पपात प्रौढलोभतः ॥ २६ ॥
इति ज्ञात्वा बुधैर्नित्यं विवेकोत्कृष्टमानसैः ।
त्याज्यः पापप्रदो लोभो यस्त्वन्यायप्रवर्त्तकः ॥ २७ ॥
स जयतु जिननाथः सर्वदेवेन्द्रवन्द्यः
सकलगुणसमुद्रो विश्वतत्त्वैकदीपः ।
विगतनिखिलदोषो दत्तभव्यप्रलक्ष्मी-
विमलतरगिरीशो बोधसिन्धुः सतां वै ॥ २८ ॥

इति कथाकोशे कृपण-पिण्याकगन्धस्य कथा समाप्ता ।

४३-लुब्धकस्य कथा।

प्रोल्लसत्केवलज्ञानं श्रीजिनं त्रिजगद्गुरुम्।
प्रणम्य परया भक्त्या वक्ष्ये लुब्धकथानकम् ॥ १ ॥
चम्पापुर्यां महाराजः संजातोभयवाहनः।
पुण्डरीकाऽभवद्राज्ञी पुण्डरीकसमेक्षणा ॥ २ ॥
लुब्धनामाजनि श्रेष्ठी पापतो धनलम्पटः।
श्रेष्ठिनी नागवस्वाख्या तस्याभूत्प्राणवल्लभा ॥ ३ ॥
पुत्रौ गुरुडदत्ताख्य-नागदत्तौ मनःप्रियौ।
लुब्धकश्रेष्ठिना तेन स्वगेहे भूरिवित्ततः ॥ ४ ॥
यक्षयक्षीगजोष्ट्रादि-महिषाश्वयुगानि च।
हैमानि कारितान्युच्चैः शृङ्गपुच्छखुरादिषु ॥ ५ ॥
नाना रत्नप्रवालादि-जटितानि निजेच्छया।
बलीवर्दस्तु वैकाकी सुवर्णाभावतस्तदा ॥ ६ ॥
द्वितीयवृषभस्योच्चै-र्निमित्तेनैकदा कुधीः।
सप्ताहोरात्रिसद्वृष्टौ जातायां कर्मयोगतः ॥ ७ ॥
गंगाप्रवाहतः काष्ठं कष्टादानयति स्म सः।
अहो दुरात्मनां तृष्णा कदा केन प्रशाम्यति ॥ ८ ॥
पुण्डरीका तदा राज्ञी स्वप्रासादोपरि स्थिता।
आनयन्तं महाकाष्ठं कष्टतो वीक्ष्य लुब्धकम् ॥ ९ ॥
स्वनाथं प्रति सा प्राह हंहो स्वामिंस्तवापि च।
राज्ये कोपि दरिद्रोयं दृश्यते कष्टमाश्रितः ॥ १० ॥

अस्मै किञ्चिद्धनं देव दीयते करुणाधिया ।
युक्तं कारुण्ययुक्तानां चित्ते दानमतिर्भवेत् ॥ ११ ॥
तदाकर्ण्य नृपो धीमांस्तं समाहूय लुब्धकम् ।
संजगाद त्वया वित्तं यावदत्र प्रयोजनम् ॥ १२ ॥
तावत्संगृह्यते शीघ्रं तच्छ्रुत्वा लुब्धकोवदत् ।
एकाकी मे गृहे देव बलीवर्दः प्रवर्त्तते ॥ १३ ॥
विलोक्यते द्वितीयस्तु तन्निशम्य महीपतिः ।
जगावित्थं मदीयेषु बलीवर्देषु साम्प्रतम् ॥ १४ ॥
बलीवर्दं गृहाण त्वं यः सर्वेषु मनोहरः ।
राजकीयान्समालोक्य ततोसौ वृषभोत्तमात् ॥ १५ ॥
अस्माद्रूपेन साहश्यो नास्ति देवेति ते वृषः ।
लुब्धकः प्राह भूपाग्रे ततो राज्ञा प्रजल्पितम् ॥ १६ ॥
कीदृशस्ते बलीवर्दो भो वणिक्मे प्रदर्शय ।
ततस्तेन गृहं नीत्वा राज्ञः सन्दर्शितो वृषः ॥ १७ ॥
तं समालोक्य भूपालः सुवर्णवृषभोत्तमम् ।
ईदृशस्ते वृषभोस्ति परमाश्चर्यमाप्तवान् ॥ १८ ॥
श्रेष्ठिन्या नागवस्वा च रत्नैः स्थालं प्रपूरितम् ।
दत्वा श्रेष्ठिकरे प्रोक्तं समर्पय महीभुजे ॥ १९ ॥
तदा तस्य प्रलोभत्वात्स्थालं च ददतो द्रुतम् ।
हस्तस्याङ्गुल्यो जाताः फणाकाराः सुकष्टतः ॥ २० ॥
दत्तं येन कदा किञ्चित्कस्मैचिन्नैव पापतः ।
तन्मतिः प्रेरिता चापि नास्ति दाने कदाचन ॥ २१ ॥

ततो राजा विलोक्योच्चै-स्तच्चरित्रं सुनिन्दितम् ।
दुष्टात्मा फणहस्तोय-मित्युक्त्वा स्वगृहं गतः ॥ २२ ॥

एकदासौ महालोभ-ग्रहग्रस्तस्तु लुब्धकः ।
तद्द्वितीयबलीवर्द-निमित्तं पापकर्मतः ॥ २३ ॥

गत्वा च सिंहलद्वीप-प्रमुखेषु बहुष्वपि ।
चतस्रः स्वर्णकोट्यस्तु समुपार्ज्य प्रकृष्टतः ॥ २४ ॥

सिन्धुमध्ये समागच्छन्स्फुटिते यानपात्रके ।
मृत्वा सर्पो निजे गेहे निधिस्थाने बभूव च ॥ २५ ॥

तत्रापि तद्धनं कस्य गृहीतं न ददाति सः ।
कोपाद्गरुडदत्तेन ज्येष्ठपुत्रेण मारितः ॥ २६ ॥

तदा मृत्वा चतुर्थेसौ महार्त्तध्यानपीडितः ।
संजातो नारको घोरे नरके पापकर्मणा ॥ २७ ॥

एवं धर्मं विना जन्तु-र्नाना लोभादिवञ्चितः ।
कष्टं प्रयाति पापेन संसारे दुःखसागरे ॥ २८ ॥

ज्ञात्वैवं भवदुःखकोटिजनकं दुष्क्रोधलोभादिकं
त्यक्त्वा दूरतरं विशुद्धमनसस्त्रेधा सदा चेतसि ।
श्रीमत्सारजिनेन्द्रदेवगदितं धर्मं सुशर्मप्रदं
शक्त्या भक्तिभरेण शान्तिनिलयं सन्तो भजन्तु श्रिये ॥२९॥

इति कथाकोशे लुब्धकश्रेष्ठिनः कथा समाप्ता।

४४–वसिष्ठतापसस्य कथा ।

नत्वाष्टादशभिर्दोषै-र्निर्मुक्तं जिननायकम् ।
वसिष्ठतापसस्योच्चै-श्चरित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
मथुरानगरे राजा समभूदुग्रसेनवाक् ।
रेवतीनाम तद्राज्ञी संजाता चित्तवल्लभा ॥ २ ॥
श्रेष्ठी श्रीजिनदत्ताख्यो जिनपादाब्जषट्पदः ।
तस्यैव श्रेष्ठिनो दासी प्रियंगुलतिकाभवत् ॥ ३ ॥
पुरे तत्र वसिष्ठाख्य-स्तापसो यमुनातटे।
कृत्वा स्नानं च पञ्चाग्नि-साधनं कुरुते सदा ॥ ४ ॥
तदा पौरजनो मूढस्तं समालोक्य तापसम् ।
स जातो भक्तिकस्तस्य मूढा मूढक्रियारताः ॥ ५ ॥
पौरदास्यस्तथा सर्वाः पानीयानयनक्षणे ।
नित्यं प्रदक्षिणीकृत्य भक्तितस्तं नमन्ति च ॥ ६ ॥
सा प्रियंगुलता दासी सखीभिः प्रेरितापि च ।
प्रणामं कुरुते नैव जैनगेहप्रसंगतः ॥ ७ ॥
ततस्ताभिर्बलात्कारं संधृत्वा हस्तपत्सु ? च ।
पात्यमाना पदे तस्य निःशंकं सा जगाविति ॥ ८ ॥
यद्यस्य तापसस्यात्र प्रणामः क्रियते मया ।
तदा धीवरनायस्य प्रणामः क्रियते न किम् ॥ ९ ॥
तच्छ्रुत्वा सर्वदासीनां रुष्टोसौ तापसः कुधीः ।
नष्टास्ताश्च मदोन्मत्ताः कृत्वा हास्यं च दासिकाः ॥ १०

उग्रसेननृपस्याग्रे गत्वासौ तापसोवदत् ।
भो प्रभो जिनदत्तेन धीवरो भणितोप्यहम् ॥ ११ ॥
ततो राज्ञा समाहूतो स श्रेष्ठी जिनदत्तवाक् ।
सद्दृष्टिर्निर्भयः प्राह भूपाग्रे सत्यमण्डितः ॥ १२ ॥
देवायं तापसश्चैव प्रमाणं तपसा युतः ।
यद्यसौ धीवरः प्रोक्तो मया भो नाऽथ निश्चयात् ॥ १३ ॥
तापसेन ततः प्रोक्तं दास्याहं भणितोस्य च ।
हसित्वा वचनं तस्य साहूता भूभुजा तदा ॥ १४ ॥
तां दृष्ट्वा तापसः कोपात्स च प्राह कुधीस्तदा ।
रे रण्डे विप्रपुत्रोहं वायुभक्षी सुतापसः ॥ १५ ॥
कथं त्वयातिपापिन्या धीवरो भणितो भुवि ।
सा प्रियंगुलतावोच-त्तदोच्चैर्निर्भया सती ॥ १६ ॥
मत्स्यान्मारयाति व्यक्तं धीवरस्त्वमपि ध्रुवम् ।
ततस्ते धीवरस्यापि विशेषो नैव भूतले ॥ १७ ॥
परीक्षार्थं जटाभारं झाटय त्वं शठ द्रुतम् ।
तस्मिन्कृते तदा तेन पतिताः क्षुद्रमत्स्यकाः ॥ १८ ॥
तदा राजा जिनेन्द्राणां धर्मस्योच्चैः प्रशंसनम् ।
कृत्वा निष्काशितः शीघ्रं तापसो मानवर्जितः ॥ १९ ॥
गंगागंधवतीनद्योः संगमे सोपि तापसः ।
पञ्चाग्निसाधनं कर्त्तुं प्रवृत्तः कष्टतः पुनः ॥ २० ॥
तत्र पञ्चशतैर्युक्तो मुनीन्द्रो मुनिभिस्तदा ।
वीरभद्रः समायातो जैनतत्वविदांवरः ॥ २१ ॥

दृष्ट्वा तं तापसं तत्र मुनिश्चैको जगौ तदा ।
अस्य घोरं तपो देव तच्छुत्वा गुरुरब्रवीत् ॥ २२ ॥
अज्ञानिनां दयाहीनं किं तपस्तु प्रशस्यते ।
ततो रुष्टाहमज्ञानी कथं भो तापसोवदत् ॥ २३ ॥
आचार्येण तदा प्रोक्तं यदि त्वं ज्ञानवान्ध्रुवम् ।
मृत्वा गुरुः क्व ते जातो वद त्वं चेति तापस ॥ २४ ॥
स च प्राह गतः स्वर्गं मे गुरुस्तापसोत्तमः ।
तच्छ्रुत्वा वीरभद्रेण प्रोक्तं संज्ञानचक्षुषा ॥ २५ ॥
नन्वस्मिन्दह्यमाने च महाकाष्ठे प्रकष्टतः ।
गुरुस्ते सर्परूपेण दह्यमानस्तु तिष्ठति ॥ २६ ॥
ततो रुष्टेन तेनाशु तत्काष्ठे च द्विधाकृते ।
दृष्टो भुजंगमः सोपि हा कष्टं मूढचेष्टितम् ॥ २७ ॥
तं दृष्ट्वा तापसश्चापि त्यक्त्वा गर्वं ततो द्रुतम् ।
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं मुनिर्जातो दिगम्बरः ॥ २८ ॥
एकदा मथुराभ्यर्णे गोवर्द्धनगिरौ शुभे ।
वसिष्ठयतिनस्तस्य महामासोपवासिनः ॥ २९ ॥
सुविद्यादेवताः सिद्धाः संजगुश्चेति भो प्रभो ।
आदेशं देहि नः शीघ्रं किं कुर्मो दासिका वयम् ॥ ३० ॥
तेनोक्तं लोभभावेन यदास्माकं प्रयोजनम् ।
तदागच्छथ यूयं भो देवता गुणमण्डिताः ॥ ३१ ॥
पूर्णे मासोपवासेथ भक्तितश्चोग्रसेनकः ।
स्थापयत्यत्र मा कोपि वसिष्ठमुनिसत्तमम् ॥ ३२ ॥

अहं संस्थापयिष्यामि पत्तने चेति घोषणम् ।
दापयामास भूभर्त्ता मूढभक्तिस्तु कष्टदा ॥ ३३ ॥
पारणादिवसे पूर्वं पट्टहस्तिमदाश्रितः ।
आलानस्तंभमुन्मूल्य निर्गतो निजलीलया ॥ ३४ ॥
स राजा व्यग्रचित्तोभू-दुग्रसेनः सुविस्मृतः ।
मुनिः सोपि क्षुधाक्रान्तो भ्रमित्वा पत्तनेखिले ॥ ३५ ॥
राजालये तथा नैव प्राप्तवान्भ्रामरीं ततः ।
अलाभेन समागत्य स्वस्थानं तपसि स्थितः ॥ ३६ ॥
द्वितीये पारणाघस्त्रे वह्निदाहे पुरे सति ।
कर्मतश्चोग्रसेनोसौ संजातो व्याकुलाशयः ॥ ३७ ॥
तृतीयस्य तथा मासो-पवासस्य परे दिने ।
प्रेषिते श्रीजरासन्ध-राजेनादेशके तदा ॥ ३८ ॥
उग्रसेनः स मूढात्मा संजातो व्यग्रमानसः ।
अज्ञानादत्र जन्तूनां कार्यसिद्धिः कुतो भवेत् ॥ ३९ ॥
अन्तरायं ततः कृत्वा निर्गच्छन्तं पुराद्बहिः ।
मूर्च्छया विकलीभूतं दृष्ट्वा तं कष्टमाश्रितम् ॥ ४० ॥
वृद्धका कोपतः प्राह मुनिं स्थापयतो जनान् ।
वारयत्येष भूनाथः स्वयं न स्थापयत्यहो ॥ ४१ ॥
मारितोनेन राज्ञासौ मुनीन्द्रस्तपसां निधिः ।
इत्याकर्ण्य मुनिः सोपि महाकोपाग्निमास्थितः ॥ ४२ ॥
गत्वा गोवर्द्धनं शीघ्रं पर्वतं ताः स्वदेवताः ।
प्रोक्तवान्पापकर्मायं युष्माभिर्मार्यतां नृपः ॥ ४३ ॥

ताभिः प्रोक्तं मुने नैव युक्तं ते जिनलिङ्गिनः ।
तच्छ्रुत्वा स पुनः प्राह मूढधीः कोपमण्डितः ॥ ४४ ॥
जन्मान्तरे तु युष्माभि-र्मदीयाज्ञा विधीयताम् ।
इत्युक्त्वा मारयिष्यामि भवेन्यस्मिन्सुपापिनम् ॥ ४५ ॥
उग्रसेनमिमं दान-महाविघ्नविधायकम् ।
कृत्वा निदानकं चेति स्वतपःक्षयकारकम् ॥ ४६ ॥
मृत्वासौ रेवतीगर्भे समायातो निदानतः ।
हा कष्टं पापरूपोयं कोपः कार्यविनाशकः ॥ ४७ ॥
एकदा क्षीणदेहां च रेवतीं वीक्ष्य भूपतिः ।
उग्रसेनो जगौ देवि किं ते दौर्बल्यकारणम् ॥ ४८ ॥
तयोक्तं देव संजातो दोहलो दुष्टको मम ।
कीदृशो दोहलश्चेति पृष्टा सापि पुनर्जगौ ॥ ४९ ॥
वक्तुं न शक्यते स्वामिन्दुष्टत्वात्सोपि दोहलः ।
आग्रहेण तदावोच-द्रेवती प्राणवल्लभम् ॥ ५० ॥
विदार्य हृदयं तेत्र रक्तपानं करोम्यहम् ।
यादृशो बालको गर्भे तादृशः स्त्रीमनोरथः ॥ ५१ ॥
ततस्तेन नरेन्द्रेण कारिते लेपनिर्मिते ।
स्वाकारे च तया चक्रे हा कष्टं पापकर्म तत् ॥ ५२ ॥
कैश्चिद्दिनैः सुतः सोपि संजातः कुलनाशकः ।
यथा वंशोद्भवो वन्हि-र्दहत्येव सुकाननम् ॥ ५३ ॥
तन्मुखं चोग्रसेनस्य तदालोकयतः स्वयम् ।
क्रूरदृष्टिं विधायोच्चै-र्बद्धो मुष्टिः ... न ॥ ५

दुष्टोयमिति संज्ञात्वा स वालो भूभुजा तदा ।
स्वनाममुद्रिकारत्न-कम्बलाभ्यां समन्वितः ॥ ५५ ॥
धृत्वा कांस्यसमुत्पन्न-मंजूषायां प्रवेगतः ।
यमुनायां विनिर्मुक्तो दुष्टात्मा कस्य वा प्रियः ॥ ५६ ॥
कौशाम्ब्यां गंगभट्टाख्य-कल्पपालस्य भामिनी ।
राजोदरी समागत्य नदीतीरं जलार्थिनी ॥ ५७ ॥
तां समादाय मंजूषां दृष्ट्वा तं वालकं मुदा ।
कंसनाम विधायोच्चैः पोषयामास सा गृहे ॥ ५८ ॥
यदाष्टवार्षिको जातो दुष्टत्वात्परपुत्रकान् ।
निर्दयं हन्ति पापिष्ठः प्राणी कस्य सुखप्रदः ॥ ५९ ॥
निर्घाटितस्तया गेहात्स कंसो रौद्रमानसः ।
सौरीं पुरीं समागत्य वसुदेवमहीपतेः ॥ ६० ॥
शिष्यो भूत्वा सुशास्त्रज्ञो वरं कञ्चिच्च लब्धवान् ।
अत्रान्तरे कथां वक्ष्ये नत्वा श्रीमज्जिनेश्वरान् ॥ ६१ ॥
अथ सिंहरथो राजा जरासंधस्य शत्रुकः ।
नैव सिद्ध्यति दुष्टत्वा-त्ततोसौ चक्रभृज्जगौ ॥ ६२ ॥
सर्वसामन्तभूपाना-मग्रणीर्यस्तु सद्भटः ।
शीघ्रं सिंहरथं शत्रुं धृत्वा चानयाति ध्रुवम् ॥ ६३ ॥
तस्मै जीवंजसां पुत्रीं स्वदेशं वाञ्छितं पुनः ।
ददामीति पुरे शीघ्रं दापयामास घोषणम् ॥ ६४ ॥
तच्छ्रुत्वा वसुदेवोसौ समुद्रविजयस्य वै ।
ज्येष्ठभ्रातुः समादेशा-त्सर्वसैन्यसमान्वितः ॥ ६५ ॥

पोदनंपुरमासाद्य सैन्यं धृत्वा पुराद्बहिः ।
सार्थवाहस्य रूपेण पुरे प्रच्छन्नभावतः ॥ ६६ ॥
सिंहमूत्रादिकं तत्र दापयित्वा गजादिषु । ?
रणे सिंहरथं जित्वा पातयामास भूतले ॥ ६७ ॥
पुनः कंसं प्रति प्राह वसुदेवः स्वसारथिम् ।
गृह्यते भो त्वया शीघ्रं शत्रुकश्चेति धीमता ॥ ६८ ॥
तेन क्रुद्धेन कंसेन बद्धः सिंहरथो नृपः ।
स्वयं तप्तो भवेद्वन्हिः किं पुनर्वायुना हतः ॥ ६९ ॥
तं गृहीत्वा द्रुतं सोपि वसुदेवो विचक्षणः ।
जरासन्धमहीभर्त्तु-रर्पयामास शत्रुकम् ॥ ७० ॥
जरासन्धस्तु सन्तुष्टो जगाद मम देहजाम् ।
गृहाणेमं शुभं देशं यत्तुभ्यं रोचते तराम् ॥ ७१ ॥
प्रोक्तं श्रीवसुदेवेन नायं बद्धो मया प्रभो ।
बद्धः कंसेन भो देव ततोस्मै दीयतेखिलम् ॥ ७२ ॥
कुलं पृष्टस्ततः प्राह कंसोयं सुभटाग्रणीः ।
कल्पपालीसुतोहं च भो नरेन्द्रेति सेवकः ॥ ७३ ॥
तल्लक्षणं समालोक्य जरासन्धो नरेश्वरः ।
तस्याः पुत्रोयमित्युच्चै-र्निश्चयो नैव संभवेत् ॥ ७४ ॥
इत्यालोच्य तदा शीघ्रं तामाकारयति स्म सः ।
भवन्ति प्रायशो भूपा भूतले चतुराशयाः ॥ ७५ ॥
कल्पपाली ततो भीत्या धृत्वा मंजूषिकां करे ।
तत्रागत्य नृपस्याग्रे तां मुक्त्वा चेति संजगौ ॥ ७६ ॥

नायं देव सुतो मेस्ति मंजूषायाः सुतोप्ययम् ।
इत्याकर्ण्य ततश्चक्री दृष्ट्वा तद्बलकम्बलम् ॥ ७७ ॥
उग्रसेनमहीभर्त्तु-स्तां विलोक्य च मुद्रिकाम् ।
ज्ञात्वा राजकुलोत्पन्नं ददौ तस्मै स्वपुत्रिकाम् ॥ ७८ ॥
जीवंजसाभिधां कंसः परिणीय महोत्सवैः ।
स्वपितुः पर्ववैरेण देशमादाय दुष्टधीः ॥ ७९ ॥
मथुरायां समागत्य प्रज्वलन्कोपवान्हिना ।
उग्रसेनं च संग्रामे धृत्वा कष्टेन तातकम् ॥ ८० ॥
पुरीगोपुरसान्निध्ये कृत्वा तं पंजरे दृढम् ।
दत्वा कोद्रवकाहारं काञ्जिकेन तु मिश्रितम् ॥ ८१ ॥
स्वयं राज्यं प्रकुर्वाणः संस्थितः क्रूरमानसः ।
अहो लोके भवत्येव कुपुत्रः कुलनाशकः ॥ ८२ ॥
तदा कंसलघुभ्राता दृष्ट्वा संसारचेष्टितम् ।
अतिमुक्तकनामासौ संजातो मुनिसत्तमः ॥ ८३ ॥
ततः कंसेन सद्भक्त्या गुरुत्वाद्वसुदेववाक् ।
संस्थापितः स्वसान्निध्ये प्रीतितो गुणमण्डितः ॥ ८४ ॥
अथेह मृतिकावत्यां पुर्यां देवकिभूपतेः ।
भार्याया धनदेव्यास्तु देवकीं चारुकन्यकाम् ॥ ८५ ॥
प्रतिपन्नस्वभगिनीं तां विवाहप्रयुक्तितः ।
कंसोसौ वासुदेवाय कुरुवंशोद्भवां ददौ ॥ ८६ ॥
देवक्याश्चैकदा पूर्वं पुष्पवत्याः सुचीरकम् ।
धृत्वा स्वमस्तके तूर्य-निनादेन महोत्सवैः ॥ ८७ ॥

पुरीमध्ये प्रनृत्यन्ती तदा जीवंजसा मुदा ।
चर्यागतमुनिं हास्या-दतिमुक्तकसंज्ञकम् ॥ ८८ ॥
चक्रिपुत्री जगौ तं च देवर त्वमपि स्फुटम् ।
नृत्यं कुरु स्वयं चेति यौवनादिमदोद्धता ॥ ८९ ॥
तेनोक्तं ज्ञानिना मुग्धे नृत्यं मे नैव कल्पते ।
मार्गं रुद्धा स्थिता सापि पापिनी कंसभामिनी ॥ ९० ॥
तदातिपीडितेनोक्तं मुनीन्द्रेणेति मूढधीः ।
किं नृत्यं त्वं करोषीति देवक्या पुत्रकेन हि ॥ ९१ ॥
भर्त्ता तव प्रहन्तव्य-स्तच्छ्रुत्वा तच्च चीरकम् ।
कोपतः सा द्विधा चक्रे पुनस्तेन प्रजल्पितम् ॥ ९२ ॥
त्वयेदं चीरकं मुग्धे कृतं द्वेधा यथा ध्रुवम् ।
तथा च देवकीभावीपुत्रः शूरमतल्लिकः ॥ ९३ ॥
संकरिष्यति भो वाले त्वत्पितुर्देहखण्डनम् ।
तत्समाकर्ण्य सा शीघ्रं कष्टतः स्वगृहं गता ॥ ९४ ॥
हसन्पापं प्रपुष्णाति प्राणी चाज्ञानभावतः ।
पश्चात्तत्कर्मणः सोपि फलं भुंक्ते सुकष्टतः ॥ ९५ ॥
पृष्टा कंसेन सा प्राह गल्दश्रुविलोचना ।
तन्मुनेर्वचनं चित्ते महाचिन्ताविधायकम् ॥ ९६ ॥
तच्छ्रुत्वा कंसराजोसौ मूढात्मा जीविताशया ।
दुष्टबुद्ध्या ततो नत्वा वसुदेवं गुणोज्ज्वलम् ॥ ९७ ॥
देवक्या जनितः पुत्रो हन्तव्यः स मया ध्रुवम् ।
देवकी च प्रसूतिं मे गृहे कुर्यादिति स्फुटम् ॥ ९८ ॥

वरं याचितवान्पूर्वं सोपि तस्मै प्रदत्तवान् ।
नैव छद्म सतां चित्ते स्ववाक्यप्रतिपालने ॥ ९९ ॥
तन्निशम्य तदा प्राह देवकी स्वपतिं प्रति ।
तपो गृह्णामि भो देव पुत्रदुःखं सुदुस्सहम् ॥ १०० ॥
ततश्च वसुदेवोसौ देवक्या भार्यया सह ।
गत्वोद्याने समालोक्य फलिताम्रतरोरधः ॥ १०१ ॥
अतिमुक्तकनामानं मुनीन्द्रं ज्ञानलोचनम् ।
प्रणम्य च महाभक्त्या संजगौ भो यतीश्वर ॥ १०२ ॥
केन मे तनुजेनोच्चै-र्जरासन्धश्च कंसकः ।
हन्तव्यो ब्रूहि योगीन्द्र जिनेन्द्रपदपद्मभाक् ॥ १०३ ॥
देवक्या च तदा हस्त-धृताम्रतरुशाखिका ।
मुक्त्वा तस्यास्तु शाखायाः फलयुग्मत्रयं शुभम् ॥ १०४ ॥
ऊर्द्ध्वंगतं ततश्चैकं फलं भूमौ पपात तत् ।
अष्टमं च फलं पक्व-मूर्द्धभागं गतं पुनः ॥ १०५ ॥
तं निमित्तं समालोक्य तेनोक्तं ज्ञानचक्षुषा ।
शृणु भो वासुदेव त्वं महाभव्यशिरोमणे ॥ १०६ ॥
षट् पुत्रास्तेत्र निर्वाण-गामिनो नास्ति संशयः ।
सप्तमस्तु जरासन्ध-कंसयोः प्राणनाशकः ॥ १०७ ॥
अष्टमश्चाष्ट कर्माणि क्षयं नीत्वा विचक्षणः ।
ज्ञातव्यो मुक्तिकान्तायाः कान्तो भावी गुणाष्टभाक् ॥ १०८ ॥
तच्छ्रुत्वा मुनिनाथोक्तं परमानन्ददायकम् ।
स्वचित्ते संविचार्येति नान्यथा मुनिभाषितम् ॥ १०९ ॥

भक्त्या तौ तं मुनिं नत्वा संप्राप्तौ हर्षितौ गृहे ।
धर्मे श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते विश्वासः शर्मकारणम् ॥ ११० ॥
अथैकदा सती सैव देवकी शुद्धमानसा ।
कंसगेहे सुतं द्वंद्वं संप्रसूता शुभप्रदम् ॥ १११ ॥
तत्क्षणे पुण्ययोगेन तच्च देवतया द्वयम् ।
भद्रिलाख्यपुरे रम्ये श्रेष्ठी श्रीश्रुतदृष्टिवाक् ॥ ११२ ॥
अल्काख्या प्रिया तस्याः प्रसूतायाः समर्प्य च ।
मृतं तत्पुत्रयुग्मं तु देवक्याग्रे शनैर्धृतम् ॥ ११३ ॥
अहो पुण्यवतां पुंसां सुराः कुर्वन्ति रक्षणम् ।
तस्मात्पुण्यं जिनेन्द्रोक्तं कार्यं सत्सौख्यकारणम् ॥ ११४ ॥
पुण्यं जिनेन्द्रपादाब्ज-चर्चनं परया मुदा ।
पात्रदानं व्रताद्यैस्तु संयुक्तं मुनिभिः स्मृतम् ॥ ११५ ॥
पापिना तेन कंसेन धृत्वा तन्मृतकद्वयम् ।
आस्फालितं शिलापीठे पापिनां धिक्च जीवितम् ॥ ११६ ॥
एवं तस्याः सुदेवक्याः पुत्रयुग्मत्रयं मुदा ।
देवतापूर्वपुण्येन स्थापयामास यत्नतः ॥ ११७ ॥
भद्रिलाख्यपुरे तत्र षट् पुत्रास्ते गुणोज्वलाः ।
चरमाङ्गधरा धीराः प्राप्ता वृद्धिं यथासुखम् ॥ ११८ ॥
ततोऽसौ सप्तमे मासे देवक्या चाष्टमीनिशि ।
सप्तमः शत्रुसन्दोह-ध्वंसकस्तनुजोऽभवत् ॥ ११९ ॥
तदा रात्रौ गलत्तोये तं समादाय देहजम् ।
संचचाल पिता धीरो रक्षार्थं वसुदेववाक् ॥ १२० ॥

छत्रं श्रीबलभद्रेण संधृतं बालकोपरि ।
रक्षाविधायिनी सापि देवता पुण्ययोगतः ॥ १२१ ॥
शीघ्रं वृषभरूपेण शृङ्गे कृत्वा सुदीपकम् ।
द्योतयामास सन्मार्ग-मग्रे भूत्वा शुभोदयात् ॥ १२२ ॥
वासुदेवपदाङ्गुष्ठ-स्पर्शमात्रेण पुण्यतः ।
अभूत्प्रतोलिकासार-कपाटं च निरर्गलम् ॥ १२३ ॥
समुत्तीर्य नदीं दत्त-पारां तां यमुनां ततः ।
मातृकादेवतागेहं सम्प्रविश्य सबालकौ ॥ १२४ ॥
प्रच्छन्नं देवतापृष्ठे यावत्तौ संस्थितौ भटौ ।
तावदेव प्रपुण्येन नन्दाख्यो यस्तु गोपकः ॥ १२५ ॥
तस्य प्रिया यशोदा च चन्दनाक्षतपुष्पकैः ।
पुत्रार्थिनी समाराध्य भक्त्या तां पुरदेवताम् ॥ १२६ ॥
तस्यामेव सती रात्रौ प्रसूता स्वगृहे सुताम् ।
तां विलोक्य ततो रुष्टा नन्दगोपस्य भामिनी ॥ १२७ ॥
गृहीत्वा पुत्रिकां कोपा-त्तत्रागत्य मठे तदा ।
धृत्वा तां देवताग्रे च गृहाण तव देवते ॥ १२८ ॥
इत्युक्त्वा निर्गता याव-त्तावत्तेनैव धीमता ।
तां पुत्रीं वसुदेवेन गृहीत्वा परया मुदा ॥ १२९ ॥
देवताग्रे निजं पुत्रं धृत्वा प्रच्छन्नतो द्रुतम् ।
गच्छन्ती भणिता सैवं हे यशोदे मनोहरम् ॥ १३० ॥
पुत्रमेतं गृहाण त्वं तच्छ्रुत्वा साच मूढधीः ।
तं समादाय संतुष्टा स्वगेहं गोपिका गता ॥ १३१ ॥

अहो पुण्यस्य सामग्री लक्ष्यते केन भूतले ।
यत्प्रसादाद्भवत्युच्चै-रचिन्त्यं फलमद्भुतम् ॥ १३२ ॥
तौ समादाय तां पुत्री-मागत्य स्वगृहं शनैः ।
अर्पयामासतुः शीघ्रं देवक्याः सुभटोत्तमौ ॥ १३३ ॥
तां प्रभाते समालोक्य देवक्यग्रे च पुत्रिकाम् ।
दुष्टात्मा नासिकाभङ्गं तस्याश्चक्रे स कंसकः ॥ १३४ ॥
वर्द्धमानेथ तत्रोच्चै-र्वासुदेवे स्वलीलया ।
कंसो गेहे च नक्षत्र-पाताद्युत्पातवीक्षणात् ॥ १३५ ॥
तदा नैमित्तिकं प्राह किमेतदिति कारणम् ।
ततः शकुनशर्माख्यो जगौ नैमित्तिकाग्रणीः ॥ १३६ ॥
हन्तव्यो येन भो देव त्वं क्षणेन प्रकोपतः ।
गोकुले वर्द्धमानस्तु सोपि संतिष्ठेत भटः ॥ १३७ ॥
तदाकर्ण्य स कंसोपि स्मृत्वा पूर्वभवागताः ।
सिद्धा विद्याः प्रति प्राह भो देव्यो यत्र मे रिपुः ॥ १३८ ॥
मारणीयः स युष्माभि-र्वेगतो दुष्टमानसः ।
तच्छ्रुत्वा देवतास्ताश्च तं हन्तुं चक्रिरे मनः ॥ १३९ ॥
पूतना प्रथमा विद्या विषदुग्धस्तनी तदा ।
हन्तुकामा गता तत्र वासुदेवसमीपकम् ॥ १४० ॥
पीत्वा तत्क्षीरमत्युच्चै-र्वासुदेवेन वैरिणा ।
निर्वाटिता गता देवी प्राणसन्देहमाश्रिता ॥ १४१ ॥
द्वितीया काकदेवी च चञ्चुपक्षप्रलुञ्चनात् ।
यमलार्जुनदेवी सा बद्धोदूखलकेन च ॥ १४२ ॥

चतुर्थी निर्जिता विद्या निजपादप्रहारतः ।
शीघ्रं शाकटिका नष्टा मानभंगेन लज्जिता ॥ १४३ ॥
वृषाख्या गलभंगेन पंचमी दमिता तराम् ।
अश्वदेवी तथा षष्ठी गलस्योन्मोटनेन च ॥ १४४ ॥
मेघदेवी तदा तेन सप्ताहोरात्रिवर्षणैः ।
निर्जिता सप्तमी देवी वासुदेवेन धीमता ॥ १४५ ॥
शीघ्रं गोवर्द्धनोत्तुङ्ग-पर्वतोद्धारणेन च ।
काली नामाष्टमी देवी हता पद्मन्ह्दे मुदा ॥ २४६ ॥
भग्नास्ता देवताः सर्वाः प्रोक्त्वा कंसं प्रति द्रुतम् ।
समर्था देव नैवात्र वयं चेति स्वयं गताः ॥ १४७ ॥
ततश्चाणूरमल्लादि-मर्दनेसौ रणाङ्गणे ।
हत्वा कंसं दुरात्मानं वासुदेवः सुनिर्दयम् ॥ १४८ ॥
उग्रसेनं तथा राज्ये धृत्वा प्राज्ये गुणोज्वलम् ।
जरासन्धं द्विधा कृत्वा त्रिखण्डेशो बभूव च ॥ १४९ ॥
श्रीमन्महापुराणे च कथासौ विस्तरेण वै ।
ज्ञातव्या श्रीजिनेन्द्रोक्त-धर्मशास्त्रविचक्षणैः ॥ १५० ॥
इत्युच्चैर्वहुरागरोषवशतः के के न नष्टा स्वयं
लोकेधर्मपराङ्मुखा जडधियो दुष्कर्मजालाश्रिताः ।
ज्ञात्वैवं बुधसत्तमैः शुचितमैर्धर्मोजिनेन्द्रोदितः
संसेव्यो भवसिन्धुतारणपरः स्वर्गापवर्गप्रदः ॥ १५१ ॥

इति कथाकोशे वसिष्ठमुनेः कथा समाप्ता ।

४५–लक्ष्मीमत्या मानकथा ।

यस्य ज्ञानं जगद्वन्धो-र्लोकालोकप्रकाशकम् ।
श्रेयसे तं जिनं नत्वा वक्ष्ये मानकथानकम् ॥ १ ॥
देशेत्र मगधे ख्याते लक्ष्मीग्रामे मनोहरे ।
सोमदेवद्विजस्यासी-ल्लक्ष्मीमत्यभिधा प्रिया ॥ २ ॥
रूपसौभाग्यसल्लक्ष्मी-र्यौवनोन्मत्तमानसा ।
सदा विप्रत्वगर्वेण मण्डिता मण्डनप्रिया ॥ ३ ॥
एकदा सोमदेवोसौ ब्राह्मणो धर्मवत्सलः ।
पक्षमासोपवासादि-तपोरत्नाकरं मुनिम् ॥ ४ ॥
समाधिगुप्तनामानं चर्याकाले समागतम् ।
भक्त्या संस्थाप्य तं शीघ्रं दानार्थं त्रिजगद्धितम् ॥ ५ ॥
हे प्रिये भोजयेत्युच्चै-र्मुनीन्द्रं गुणशालिनम् ।
प्रोक्त्वेति कार्यन्यग्रत्वा-न्निर्गतो गेहतः स्वयम् ॥ ६ ॥
साप्यासने स्थिता मूढा पश्यन्ती दर्पणे मुखम् ।
स्वगर्वेण मुनेस्तस्य दत्वा दुर्वचनानि च ॥ ७ ॥
विचिकित्सां पुनः कृत्वा द्वाःकपाटं पिधाय च ।
तस्थौ दुष्टाशया कष्टं हा पापं किमतः परम् ॥ ८ ॥
मुनीन्द्रोपि जगद्वन्द्यो गतश्चारित्रमण्डितः ।
युक्तं पापात्मनां याति निधानं च गृहागतम् ॥ ९ ॥
तत्पापात्सप्तमे घस्रे महोदुम्बरकुष्ठिनी ।
संजाता ब्राह्मणी मानान्मुनेर्निन्दा न शान्तये ॥ १० ॥
सर्वैस्त्यक्ता जनैः पापा-त्तत्कष्टं सोढुमक्षमा ।
अग्निं प्रविश्य सा लक्ष्मी-मती मृत्वार्त्तमानसा ॥ ११ ॥

तत्रैव रजकस्याभू-द्गर्दभी पापकर्मणा ।
दुग्धपानं विना मृत्वा जाता तत्रैव शूकरी ॥ १२ ॥
कुक्कुरी क्रूरपापेन पुनस्तत्रैव कुक्कुरी ।
सापि दावाग्निना दग्धा कुक्कुरी प्राणहारिणा ॥ १३ ॥
अहो हालाहलं घोरं वरं जन्मैकदुःखदम् ।
भक्षितं न पुनर्निन्दा मुनीनां शीलशालिनाम् ॥ १४ ॥
पत्तने भृगुकच्छाख्ये नर्मदारुनदीतटे ।
काणा नाम्नी सुदुर्गन्धा साभूद्धीवरपुत्रिका ॥ १५ ॥
मानतो ब्राह्मणी जाता क्रमाद्धीवरदेहजा ।
जातिगर्वो न कर्त्तव्य-स्ततः कुत्रापि धीधनैः ॥ १६ ॥
तत्र नावा जनान्नित्यं सा समुत्तारयत्यलम् ।
एकदा तं समालोक्य मुनीन्द्रं ज्ञानलोचनम् ॥ १७ ॥
नदीतीरे प्रणम्योच्चैः संजगौ त्वं मया प्रभो ।
क्वापि दृष्टोसि तच्छ्रुत्वा तेनोक्तं पूर्ववृत्तकम् ॥ १८ ॥
त्वं बालिके पुरा लक्ष्मी-ग्रामे लक्ष्मीमती कुधीः ।
सोमदेवाद्विजस्योच्चै-र्भामिनी मानवञ्चिता ॥ १९ ॥
कृत्वा मे निन्हवं मुग्धे महाकष्टेन पीडिता ।
अग्नौ मृत्वा पुनर्जाता गर्दभी शूकरी क्रमात् ॥ २० ॥
तत्रैव कुक्कुरी भूत्वा कुक्कुरी च ततो मृता ।
अत्र जातासि दुर्गन्धा धीवरीकुक्षिसंभवा ॥ २१ ॥
इत्यादिकं समाकर्ण्य सैव धीवरबालिका ।
ततो जातिस्मरी भूत्वा नत्वा तं मुनिनायकम् ॥ २२ ॥

मो मुने पापकर्माहं संजगादेति दुःखिता ।
रक्ष रक्षात्र योगीन्द्र मां पतन्तीं कुयोनिषु ॥ २३ ॥
ततः समाधिगुप्तेन मुनीन्द्रेण प्रजल्पितम् ।
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं सुरेन्द्राद्यैः समर्चितम् ॥ २४ ॥
संजाता क्षुल्लिका तत्र तपः कृत्वा स्वशक्तितः ।
मृत्वा स्वर्गं समासाद्य तस्मादागत्य भूतले ॥ २५ ॥
कुण्डाख्यनगरे राजा भीष्मो राज्ञी यशस्वती ।
तयोः पुत्री बभूवासौ रूपिणी रूपमण्डिता ॥ २६ ॥
वासुदेवेन सा कन्या परिणीता गुणोज्वला ।
पुण्येन सर्वजन्तूनां भवेयुः सम्पदोखिलाः ॥ २७ ॥

सुकुलजन्मयशोवरसम्पदा
सकलशास्त्रमतिर्बुधसंगमः ।
सुगतिरद्भुतशर्म शिवोद्भवं
भवति जैनमतोत्तमसेवनात् ॥ २८ ॥

इति कथाकोशे लक्ष्मीमत्या मानकथा समाप्ता ।

४६–मायाविनी-पुष्पदत्तायाः कथा ।

प्रणम्य त्रिजगन्नाथं श्रीजिनं शर्मकोटिदम् ।
मायाशल्यकथां माया-विनाशाय गदाम्यहम् ॥ १ ॥
अत्राभूदजितावर्त्त-पत्तने सुचिरंतने ।
पुष्पचूलो महाराजः पुष्पदत्ता प्रियाभवत् ॥ २ ॥

एकदासौ महीनाथो राज्यं कुर्वन्निजेच्छया ।
अमरादिगुरोः पार्श्वे मुनिन्द्रस्य महाधियः ॥ ३ ॥
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
त्रिधा वैराग्यमासाद्य मुनिर्जातो विचक्षणः ॥ ४ ॥
पुष्पदत्ता च सा राज्ञी बलिलाख्यार्यिकान्तिके ।
आर्यिकारूपमादाय कुलैश्वर्यादिगर्विता ॥ ५ ॥
अन्यासामार्यिकाणां च धर्मतत्वपराङ्मुखा ।
वन्दनां न करोति स्म विड्मूढाना कुचेष्टितम् ॥ ६ ॥
तथासौ पुष्पदत्ताख्या मूढात्मा स्वशरीरके ।
सुगंन्धद्रव्यकेनोच्चैः संस्कारं कुरुते स च ॥ ७ ॥
तदा सा ब्रलिला प्राह जैनमार्गे विचक्षणा ।
आर्यिके पुष्पदत्ते भो तवेदं नैव युज्यते ॥ ८ ॥
तच्छ्रुत्वा सापि दुष्टात्मा मायावाक्यं जगाद च ।
भो कन्तिके स्वभावेन सुगन्धं मे शरीरकम् ॥ ९ ॥
यस्य चित्ते स्वयं नास्ति धर्मः श्रीमज्जिनेशिनाम् ।
वोधितस्यापि दुष्टत्वा-त्तस्य दुष्कर्म पापिनः ॥ १० ॥
एवं मायामहाशल्य-मंडिता पुष्पदत्तिका ।
मृत्वा पापेन चम्पायां तद्राजश्रेष्ठिनो गृहे ॥ ११ ॥
जाता सागरदत्तस्य दासी पूतिमुखी कुधीः ।
इति ज्ञात्वा वुधैर्नित्यं त्याज्यं मायाकुकर्म तत् ॥ १२ ॥
मायासौ पशुयोनिदुःखजननी माया कुलध्वंसिनी
माया रूपयशोमहत्वसुगतिश्रीशर्मनिर्नाशिनी ।

ज्ञात्वेत्थं जिनधर्मकर्मनिरतैः सत्पंडितैर्दूरत—
रत्यक्त्वा तां भवसागरस्य लतिकां धर्मेत्र कार्या मतिः॥ १ ३॥

इति कथाकोशे मायाविनी-पुष्पदत्ता-कथा समाप्ता ।

४७—मरीचि-कथा ।

शर्मशस्याम्बुदं नत्वा श्रीजिनाङ्घ्रिद्वयं मुदा ।
वक्ष्ये मरीचिवृत्तान्तं पूर्वसूत्रानुसारतः ॥ १ ॥
अयोध्यानगरे पूर्वं चक्रिणो भरतेशिनः ।
पुत्रो मरीचिनामाभूद्भव्यात्मा भद्रमानसः ॥ २ ॥
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्राद्यैश्चर्चितेन निरन्तरम् ।
श्रीमदादिजिनेनामा सोपि जातो मुनिस्ततः ॥ ३ ॥
एकदा तं जिनाधीशं श्रीमत्तीर्थंकरं मुदा ।
समवादिसृतौ नत्वा जगाद भरतेश्वरः ॥ ४ ॥
स्वामिन्नग्रे भविष्यन्ति ये त्रयो विंशतिर्जिनाः ।
तेषां मध्येत्र कोप्यस्ति तीर्थेशां भावितीर्थकृत् ॥ ५ ॥
तेनोक्तं श्रीजिनेन्द्रेण केवलज्ञानचक्षुषा ।
भो वत्स ते सुतश्चायं मरीचिर्नैव संशयः ॥ ६ ॥
अन्त्यतीर्थकराधीशो भविष्यति गुणोज्वलः ।
तच्छ्रुत्वा भरताधीशः संजातो हर्षसंकुलः ॥ ७ ॥
मरीचिस्तु तदाकर्ण्य मूढबुद्धिप्रभावतः ।
त्यक्त्वा व्रतं च सम्यक्त्वं मुक्त्वा भूत्वा कुलिंगिभाक् ॥ ८ ॥

परिव्राजकरूपादिनाना सांख्यमतादिकम् ।
संप्रकाश्य स्वयं घोरे संसारे दुःखसागरे ॥ ९ ॥
नाना जन्मांतरा गाधे संभ्रान्तो भूरिभीतिदे ।
प्रमादो देहिनां लोके विघ्नकारीति शत्रुवत् ॥ १० ॥
अज्ञानाद्भव्यजन्तुश्च भवेद्दुःखी प्रमादवान् ।
तस्माद्भव्यैर्न कर्त्तव्यो धर्मकार्ये प्रमादकः ॥ ११ ॥
ततः कालान्तरे कष्टं भ्रमित्वा भूरि संसृतौ ।
मरीचिर्मोहमाहात्म्या-त्पश्चाच्छ्रीजिनधर्मतः ॥ १२ ॥
नन्दाख्यो भूपतिर्भूत्वा गुरुं नत्वाभवन्मुनिः ।
उपार्ज्य तीर्थकृन्नाम षोडशोत्कृष्टकारणैः ॥ १३ ॥
भुक्त्वा स्वर्गसुखं दिव्यं समागत्य महीतले ।
ख्याते कुण्डपुरेत्रैव श्रीसिद्धार्थमहीपतेः ॥ १४ ॥
पुत्रोऽभूत्प्रियकारिण्या-स्तीर्थकृद्भुवनार्चितः ।
कुमारत्वे समादाय दीक्षां जातो मुनीश्वरः ॥ १५ ॥
घातिकर्मक्षयं कृत्वा केवलज्ञानभास्करः ।
सर्वदेवेन्द्रनागेन्द्र-नरेन्द्राद्यैः प्रपूजितः ॥ १६ ॥
भव्यान्सम्बोध्य सन्मार्गे स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ।
शेषकर्मक्षयं कृत्वा सम्प्राप्तो मोक्षमक्षयम् ॥ १७ ॥
अहो भव्यास्ततो नित्यं भवन्तः सारशर्मणे ।
चित्ते संभावयन्तूच्चै-र्नान्यथा जिनभाषितम् ॥ १८ ॥
स जयतु शुभकर्त्ता वर्द्धमानो जिनेन्द्रः
सकलभुवननाथैः पूजितो बोधसांद्रः ।

सुरनरखचरेन्द्रोत्कृष्टसौख्यं प्रदत्वा
फलति परमलक्ष्मीं शाश्वतीं यस्य भक्तिः ॥ १९ ॥

इति कथाकोशे मरीचि-कथा समाप्ता ।

४८—गन्धमित्रस्य कथा ।

नत्वानन्तगुणाधीशं श्रीजिनं त्रिजगद्धितम् ।
घ्राणेन्द्रियकथां गन्ध-मित्रस्य रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
अयोध्यापत्तने राजा सुधीर्विजयसेनवाक् ।
राज्ञी विजयमत्याख्या तयोः पुत्रौ बभूवतुः ॥ २ ॥
ज्येष्ठोसौ जयसेनाख्यो द्वितीयो गन्धमित्रकः ।
नाना सुगन्धपुष्पादौ लम्पटो मधुलिट् यथा ॥ ३ ॥
एकदासौ महीनाथ-स्त्रिधा वैराग्ययोगतः ।
स्वराज्यं ज्येष्ठपुत्राय दत्वा स्नपनपूर्वकम् ॥ ४ ॥
गन्धमित्रं लघुं पुत्रं युवराज्ये विधाय च ।
मुनेः सागरसेनस्य पादमूले सुभक्तितः ॥ ५ ॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं मुनिर्जातो विचक्षणः ।
धर्मकर्मरतो नित्यं भवेत्प्राणी सुलक्षणः ॥ ६ ॥
गन्धमित्रेण तेनापि महातृष्णातुरेण च ।
राज्यमुद्दाल्य तत्पुर्या ज्येष्ठो निर्वाटितो हठात् ॥ ७ ॥
राज्यलक्ष्मीर्महापापं ज्ञातव्यं प्रायशो भुवि ।
यत्रासक्तो जनो मूढो हन्ति बन्धूनपि ध्रुवम् ॥ ८ ॥

तदासौ जयसेनश्च राज्यभ्रष्टः सुदुःखितः ।
तस्य संमारणोपायं स्वचित्ते चिन्तयत्यलम् ॥ ९ ॥
गन्धमित्रः सदा स्त्रीभिः संयुतः सरयूनदीम् ।
गत्वा तत्र जलक्रीडां घ्राणासक्तः करोति सः ॥ १० ॥
तन्मत्वा जयसेनेन ज्येष्ठभ्रात्रा प्रकोपतः ।
विपवासितपुष्पाणि सुगन्धानि प्रपञ्चतः ॥ ११ ॥
तेन मुक्तानि तन्नद्यां तान्यादाय प्रवेगतः ।
गन्धमित्रस्तु मूढात्मा पुष्पाण्याघ्राय लम्पटः ॥ १२ ॥
मृत्वा घ्राणेन्द्रियासक्तः संप्राप्तो नरकं कुधीः ।
इन्द्रियाणां वशाः प्राणी क्षयं यान्ति क्षितौ विधिः ॥ १३ ॥
एकेनापि वशीकृतोत्र विपयेनोच्चैर्नरेन्द्रात्मजः
सम्प्राप्तो नरकं सुदुःखकलितं हा गन्धमित्रः कुधीः ।
मूढो यस्तु समस्तभोगनिरतः कष्टं न किं यास्यति
सोप्येवं सुविचार्य पंडितजनः श्रीजैनधर्मेस्तु वै ॥ १४ ॥

इति कथाकोशे घ्राणदोषाख्याने गन्धमित्रस्य कथा समाप्ता।

४९–गन्धर्वसेनायाः कथा।

सर्वसौख्यप्रदं नत्वा पादद्वंतं जिनेशिनः ।
वक्ष्ये गन्धर्वसेनाया श्चरित्रं मूढचेतसः ॥ १ ॥
पुरे पाटलिपुत्राख्ये राजा गन्धर्वदत्तकः ।
राज्ञी गन्धर्वदत्ताभूत्तयोः पुत्री बभूव च ॥ २ ॥

नाम्ना गन्धर्वसेनासौ नाना गान्धर्वशास्त्रवित् ।
यो जयत्यत्र मां धीरो लसद्गन्धर्वविद्यया ॥ ३ ॥
स मे भर्त्ता भवत्येव नान्यथेति प्रगर्विता ।
प्रतिज्ञां च समादाय क्षत्रियाञ्जयति स सा ॥ ४ ॥
श्रुत्वा तां वार्त्तिकां धीमान्पोदनाख्यपुरात्स्वयम् ।
युतः पञ्चशतैश्छात्रैः पांचालस्तत्कलाचणः ॥ ५ ॥
उपाध्यायः समागत्य वादार्थी परया मुदा ।
तत्र पाटलिपुत्रस्य स्थित्वोद्याने मनोहरे ॥ ६ ॥
समायाति यदा कोपि सूचनीयः स मे ध्रुवम् ।
इत्युक्त्वाशोकवृक्षाधः सुप्तोसौ छात्रकान्प्रति ॥ ७ ॥
पुरं द्रष्टुं गतास्तेपि छात्रकाः कौतुकात्तदा ।
तत्र गन्धर्वसेना सा वीक्षितुं तं समागता ॥ ८ ॥
पृष्ट्वा छात्रं च तन्नाम दृष्ट्वा तं निद्रयाश्रितम् ।
वीणासमूहमध्यस्थं लालालिप्तमुखाम्बुजम् ॥ ९ ॥
तत्रारुचिं विधायोच्चै-र्गन्धपुष्पादिवस्त्रकैः ।
तं पादपं समभ्यर्च्य गता गेहं नृपात्मजा ॥ १० ॥
पाञ्चालोशोकवृक्षं च समालोक्य समर्चितम् ।
श्रुत्वा तद्वृत्तकं सर्वं हंहो जातं विरूपकम् ॥ ११ ॥
इत्युक्त्वा तत्पुरं गत्वा नत्वा तं भूपतिं बुधः ।
तत्कन्यामन्दिराभ्यर्णे स्वस्थानं संगृहीतवान् ॥ १२ ॥
तत्र पश्चिमरात्रौ च वीणायाः सुस्वरं मुदा ।
गीतं चकार पाञ्चालो जनानां श्रुतिपेशलम् ॥ १३ ॥

श्रुत्वा गन्धर्वसेना सा गीतं चेतोनुरंजनम् ।
तदासक्ता ततो भूत्वा कुरंगीव प्रवेगतः ॥ १४ ॥
तत्सम्मुखं प्रगच्छन्ती प्रासादाद्भद्रसात्तदा ।
पपात भ्रान्तितः कष्टं मृत्वा दीर्घभवं गता ॥ १५ ॥
कन्याकर्णरसेन लम्पटमतिर्गंधर्वसेना कुधीः
सम्प्राप्ता भवसागरेति विषमे दुष्कर्मणा मज्जनम् ।
चित्ते चेति विचार्य दुःखजनकं पञ्चेन्द्रियाणां सुखं
सन्तः श्रीजिनधर्मशर्मनिलयं नित्यं श्रयन्तु श्रिये ॥१६॥

इति कथाकोशे कर्णेन्द्रियाख्याने गन्धर्वसेनायाः कथा समाप्ता ।

५०–भीमराज्ञः कथा ।

नत्वाहं केवलज्ञान-लोचनं श्रीजिनेश्वरम् ।
वक्ष्ये भीमनृपाख्यानं सतां वैराग्यकारणम् ॥ १ ॥
कांपिल्यनगरे राजा भीमो भीमाशयः कुधीः ।
सोमश्रीर्भामिनी तस्यां भीमदासः सुतोभवत् ॥ २ ॥
कुलक्रमागतत्वाच्च नन्दीश्वरमहाविधौ ।
जीवघातनिषेधस्य दापिता तेन घोषणा ॥ ३ ॥
तत्र तेनैव भीमेन मांसासक्तेन पापिना ।
सूपकारः स्वयं मांसं याचितो दुष्टचेतसा ॥ ४ ॥
सोपि बालं श्मशानाच्च समानीय मृतं तदा ।
भूपतेस्तस्य संस्कृत्य ददौ भीमस्य पापिनः ॥ ५ ॥

तद्भक्षणात्तदा भीमो जिह्वादुस्वादुलम्पटः ।
सूपकारं प्रति प्राह कस्मान्मृष्टमिदं वद ॥ ६ ॥
लब्धाभयेन तेनापि प्रोक्ते तस्मिन्कुकर्मणि ।
भीमो जगाद मे देहि तदेवं नरजंगलम् ॥ ७ ॥
सूपकारस्तदा पापी लड्डुकादिप्रवञ्चनैः ।
नित्यमेकं कुधीर्बालं जनानां हन्ति तत्कृते ॥ ८ ॥
यस्तु पापीजनो लोके संगतिस्तस्य तादृशी ।
यथा भीमस्य सम्पन्नः सूपकारोतिपापधीः ॥ ९ ॥
ज्ञात्वा जनेन तत्सर्वं तयोः पापप्रचेष्टितम् ।
प्रोक्तं मंत्रिकुमाराणां ततस्तैर्नीतिवेदिभिः ॥ १० ॥
भीमदासो विशिष्टात्मा राजपुत्रो महोत्सवैः ।
राज्ये संस्थापितो भक्त्या प्रजानां हितकारकः ॥ ११ ॥
कांपिल्यनगरात्सोपि भीमो दुष्टाशयो द्रुतम् ।
निर्घाटितः कुधीस्तेन सूपकारेण संयुतः ॥ १२ ॥
पापिनः स्वप्रजापुत्र-मित्रमंत्र्यादयो जनाः ।
सर्वे स्युर्बान्धवाश्चापि शत्रवो नात्र संशयः ॥ १३ ॥
ततस्तेन च भीमेन कानने सूपकारकः ।
महाक्षुधातुरेणाशु भक्षितः पापकर्मणा ॥ १४ ॥
सोपि भीमः स्वपापेन मेखलाख्यपुरं गतः ।
मारितो वसुदेवेन संप्राप्तो नरकं ततः ॥ १५ ॥
विगतधर्ममतिर्भवसागरे
पतति कर्मकलंकवशीकृतः ।

बुधजनाश्च ततो वरशर्मणे
शुभकरं जिनधर्म भजन्तु वै ॥ १६ ॥

इति कथाकोशे रसनेन्द्रियलुब्धभीमराज्ञः कथा समाप्ता।

५१–नागदत्तायाः कथा।

श्रीजिनं त्रिजगत्स्वामि–समर्चितपदद्वयम्।
नत्वाहं नागदत्ताया-श्चरित्रं रचयामि च ॥ १ ॥
आभीराख्यमहादेशे नासक्यनगरे वरे।
वणिक्सागरदत्तोभू-न्नागदत्ता च तत्प्रिया ॥ २ ॥
श्रीकुमारस्तयोः पुत्रः श्रीषेणा तनुजाजनि।
निजेन नन्दगोपेन नागदत्ता रताभवत् ॥ ३ ॥
एकदा नागदत्ताया वाक्यतः सोपि गोपकः।
व्याधिव्याजेन दुष्टात्मा संस्थितश्च गृहे तदा ॥ ४ ॥
स्वयं सागरदत्तस्तु गृहीत्वा गोधनं तदा।
गत्वा पश्चिमरात्रौ च सुप्तोटव्यां सुनिश्चलः ॥ ५ ॥
तत्र गत्वा स नन्देन मारितः पापकर्मणा।
परस्त्रीलम्पटो जीवः किं करोति न निन्दितम् ॥ ६ ॥
तदासौ नागदत्ता च नन्दको निन्दितो भुवि।
दुराचारं प्रकुर्वन्तौ स्थितौ गेहे दुराशयौ ॥ ७ ॥
श्रीकुमारस्तदा मातुः पापकर्मप्रपीडितः।
नित्यं चित्ते करोत्येव महाकष्टं सुलज्जितः ॥ ८ ॥

रुष्टया च तया नन्दः पापिन्या प्रेरितः पुनः ।
श्रीकुमारमपि त्वं रे मारयेत्यत्र गोपकः ॥ ९ ॥
तथा नन्दः स्थितो गेहे रोगव्याजेन पापधीः ।
ततो गोधनमादाय गच्छन्स श्रीकुमारकः ॥ १० ॥
भगिन्या भणितः शीघ्रं बान्धवः श्र्यादिषेणया ।
नागदत्ताज्ञया धीर यथा ते मारितः पिता ॥ ११ ॥
मार्यसे त्वमपि व्यक्तं नन्दकेनाद्य पापिना ।
कुरु त्वं यत्नमत्युच्चै-स्तच्छ्रुत्वा श्रीकुमारवाक् ॥ १२ ॥
गत्वाटव्यां महाकाष्टं वस्त्रेणाच्छाद्य वेगतः ।
धृत्वा वने स्वयं तत्र तिरो भूत्वा च संस्थितः ॥ १३ ॥
ततो नन्देन गत्वाशु हते खड्गेन दारुके ।
सेह्लेन श्रीकुमारेण हतो नन्दः सुपृष्ठतः ॥ १४ ॥
प्रभाते गृहमायातो गृहीत्वा गोधनं तदा ।
दोहनार्थं कुमारोसौ तया पृष्टः सुदुष्टया ॥ १५ ॥
त्वां गवेषयितुं पुत्र प्रेषितो नन्दको मया ।
कुत्र संतिष्ठते सोपि तच्छ्रुत्वा नन्दनोवदत् ॥ १६ ॥
अयं जानाति सेह्लो मे ततस्तं वीक्ष्य सेह्लकम् ।
रक्तलिप्तं सुपापिन्या दुष्टया नागदत्तया ॥ १७ ॥
आहत्य मुपलेनैव मारितः श्रीकुमारकः ।
श्रीषेणयातिकोपेन सा तदा दुष्टमानसा ॥ १८ ॥
मारिता मुशलेनाशु नागदत्ता सुपापिनी ।
मृत्वा च नरकं प्राप्ता पापी पापेन पच्यते ॥ १९ ॥

५३–मद्यदोष-कथा ।

श्रीमत्सर्वज्ञमानम्य वक्ष्ये सम्पद्विधायकम् ।
जनानां प्रतिबोधाय मद्यदोषकथानकम् ॥ १ ॥
एकचक्रपुरात्पूर्वं गंगां गन्तुं विनिर्गतः ।
एकपादविधो वेद-वेदाङ्गानां सुपारगः ॥ २ ॥
स परिव्राजको विष्णु-चरणाम्भोजषट्पदः ।
मार्गे गच्छन्विधेर्योगा-त्प्राप्तो विन्ध्याटवीं तदा ॥ ३ ॥
तत्राटव्यां वयोन्मत्तैः प्रोन्मत्तैर्मद्यपानतः ।
मांसासक्तैः कुमातंगै-र्मातंगीगीतसङ्गतैः ॥ ४ ॥
मार्गे रुद्ध्वा धृतः सोपि भणितश्चेति रे द्विज ।
मद्यमांसनवस्त्रीणां मध्ये यद्रोचते तराम् ॥ ५ ॥
तदेकं क्रियते कर्म त्वया भो नान्यथा ध्रुवम् ।
जीवता दृश्यते गंगा-नदी रे मूढमानस ॥ ६ ॥
सोपि तत्र स्मृतेर्वाक्यं चिन्तयामास चेतसि ।
तिलसर्षपमात्राच्च दोषाः स्युर्मांसभक्षणात् ॥ ७ ॥

यतः—

तिलसर्षपमात्रं च मांसं खादन्ति ये नराः ।
तिष्ठन्ति नरके ताव-द्यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥
चाण्डालीसंगमे चात्र द्विजानां सुकुलोद्भुवाम् ।
प्रायश्चित्ताद्भवेच्छुद्धिः काष्ठभक्षणसंज्ञकात् ॥
य एवं विधां सुरां पिबति न तेन सुरा पीता भवतीति निखिलमखमणौ सूत्रामणौ ।

धातकीपिष्टपानीयै-र्गुडाद्यैर्मद्यसंभवः ।
तस्माद्धेतोर्न दोषोत्र, स्वचित्ते चेति मूढधीः ॥ ८ ॥
संविचार्य महापापं मद्यपानं चकार सः ।
तस्य माहात्म्यतो गाढं संजातो नष्टमानसः ॥ ९ ॥
दूरीकृत्य स्वकौपीनं चक्रे चोद्भटनर्त्तनम् ।
ग्रहग्रस्तो यथा कष्टं कुसङ्गः कुलनाशकः ॥ १० ॥
ततस्तीव्रक्षुधाक्रान्तो मतिभ्रष्टः स तापसः ।
पापकर्मोदये शीघ्रं पलं भक्षितवान्पुनः ॥ ११ ॥
पूर्णकुक्षिस्ततः सोपि प्रोल्लसत्कामपीडितः ।
मातंगीं मदनोन्मत्तां कुधीः कामितवांस्तदा ॥ १२ ॥

भवतिचात्र श्लोक—

हेतुशुद्धेः श्रुतेर्वाक्यात्पीतमद्यः किलैकपात् ।
मासमातङ्गिकासङ्ग-मकरोन्मूढमानसः ॥

इति ज्ञात्वा बुधैस्त्याज्या हेतुशुद्धेर्मतिर्भुवि ।
मृष्टतोयात्समुत्पन्नं विषं हन्त्येव देहिनाम् ॥ १३ ॥
नित्यस्नानविधायको हरिपदद्वन्द्वे सुसेवापरो
वेदज्ञोपि किलैकपात्स्मृतिमतिर्नष्टः परिव्राजकः ।
अज्ञानादिह हेतुशुद्धिचलितो मुक्त्वा सुशीलं ततो -
ज्ञात्वैवं बुधसत्तमैर्जिनपतेः संज्ञानमासेव्यताम् ॥ १४ ॥

इति कथाकोशे मद्यदोषाख्याने एकपात्परिव्राजकस्य कथा समाप्ता ।

५४-सगरचक्रवर्त्तिनः कथा।

संप्रणम्य जिनाधीशं सुराधीशैः समर्च्चितम्।
श्रीमद्द्वितीयचक्रेश-चरित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
जम्बूद्वीपेत्र विख्याते प्राग्विदेहे मनोहरे।
सीतानद्या अवाग्भागे सुदेशो वत्सकावती ॥ २ ॥
तत्रस्थे पृथिवीनाम-पत्तने सुचिरन्तने।
जयसेनो महाराजो जयसेनास्य तत्प्रिया ॥ ३ ॥
तयोः पुत्रः समुत्पन्नो रतिषेणो गुणोज्वलः।
द्वितीयो धृतिषेणश्च चारुसौभाग्यशोभितः ॥ ४ ॥
एकदा रतिषेणाख्यो मृत्युं प्राप्तो विधेर्वशात्।
तच्छोकेन महीनाथो जयसेनो विशुद्धधीः ॥ ५ ॥
स्वराज्यं धृतिषेणाय दत्वा पुत्राय धीमते।
समभ्यर्च्च्य जिनाधीशान्कार्यसिद्धिविधायिनः ॥ ६ ॥
सार्द्धं महारुतेनोच्चै-र्मैथुनेन तथा नृपैः।
यशोधरगुरोः पार्श्वे दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः ॥ ७ ॥
दीर्घकालं तपः कृत्वा संन्यासेन प्रसन्नधीः।
मृत्वा महाबलो नाम्ना देवोभूदच्युतो महान् ॥ ८ ॥
महारुतोपि तत्रैव मणिकेतुः सुरोभवत्।
जिनेन्द्रपदपद्मेषु चञ्चरीकोतिभक्तिमान् ॥ ९ ॥
स्वर्गलक्ष्मीं समासाद्य तयोः सन्तुष्टचेतसोः।
आवयोर्यो महीभागे पूर्वं याति नृजन्मताम् ॥ १० ॥

तस्यान्यो बोधको भूया-ज्जैनदीक्षाकृते सुधीः ।
धर्मानुरागतश्चेति संजाते वचसि स्थिरे ॥ ११ ॥
द्वाविंशत्यब्धिभिः पूर्णं भुक्त्वा सौख्यं सुराश्रितम् ।
च्युत्वासावच्युतः स्वर्गा-च्छेषपुण्यप्रभावतः ॥ १२ ॥
सुधीर्महाबलो देवः साकेतनगरे शुभे ।
समुद्रविजयस्योच्चै-र्भूपतेः सुबलापतेः ॥ १३ ॥
पुत्रोभूत्सगराख्योसौ सज्जनानन्ददायकः ।
पूर्वाणां सप्ततिर्लक्षा-स्तस्यायुःपरमावधिः ॥ १४ ॥
चतुःशतानि चापानां पञ्चाशदधिकानि च ।
कनत्काञ्चनसद्वर्ण-कायोत्सेधोस्य वर्णितः ॥ १५ ॥
रूपलावण्यसंयुक्तः प्राप्तसद्यौवनो गुणी ।
श्रित्वा राज्यश्रियं धीमान्षट्खण्डाधिपतिर्बभौ ॥ १६ ॥
भुञ्जानस्य महाभोगा-ञ्जिनभक्तिप्रपूर्वकम् ।
तस्य षष्ठि सहस्राणि पुत्राणामभवन्सुखम् ॥ १७ ॥
अहो पुण्येन जन्तूनां भवेयुः सारसम्पदः ।
तस्मात्पुण्यं जिनोद्दिष्टं कुर्वन्तु सुधियो जनाः ॥ १८ ॥
तदा सिद्धवने श्रीम-च्चतुर्मुखमहामुनेः ।
केवलज्ञानसम्प्राप्तौ पूजार्थं परया मुदा ॥ १९ ॥
देवेन्द्राद्यैः समायातैः सहागत्य सुरोत्तमः ।
ज्ञात्वा तं सगराधीशं मणिकेतुर्मुदावदत् ॥ २० ॥
भो प्रभो स्मरसि व्यक्तं यदावाभ्यां पुरोदितम् ।
अच्युताख्ये महास्वर्गे प्रोल्लसत्प्रीतियोगतः ॥ २१ ॥

नृलोकं याति यः पूर्वं स्वर्गस्थेन महाधिया ।
शीघ्रं सम्बोधनीयश्च स श्रीजैनतपोविधौ ॥ २२ ॥
त्वया भुक्तं महाराज्यं दीर्घकालं विचक्षणः ।
किं पुनर्भूरिभिर्भोगै-र्मन्यात्मन्दुःखकारणैः ॥ २३ ॥
अतस्त्वं श्रीजिनेन्द्रोक्तं तपो धृत्वा जगद्धितम् ।
सावधानस्तरां भूत्वा कुरु प्रीतिं शिवश्रिये ॥ २४ ॥
इति श्रीसगरश्चक्री बोधितोपि सुधाशिना ।
विरक्तः संसृतेर्नैव पुत्राणां मोहमूर्च्छितः ॥ २५ ॥
ज्ञात्वा तन्मानसं भूरि सम्पदाप्रमदाश्रितम् ।
स्वस्थानं स सुरः प्राप्तः कुतो लब्ध्या विना शुभम् ॥ २६ ॥
तथैकदा सुरः सोपि तं तपो ग्राहितुं पुनः ।
मणिकेतुः समागत्य धृत्वा चारणरूपकम् ॥ २७ ॥
भावयन्संयमं जैनं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
सगरस्य जिनागारे जिनबिम्बानि भक्तितः ॥ २८ ॥
वन्दित्वा शर्मदान्युच्चैः संस्थितो दिव्यरूपभाक् ।
दृष्ट्वा तं विस्मयं प्राप्तो जगाद सगरो नृपः ॥ २९ ॥
किं कारणं तपो लक्ष्म्या भो मुने यौवनोद्यते ।
तवेत्याकर्ण्य गूढात्मा संजगौ स मुनीश्वरः ॥ ३० ॥
यौवनं तडिदाभं भो भूपते भाति भूतले ।
कोयं कायोशुचिर्गाढं भोगा वा भोगिनोऽहिताः ॥ ३१ ॥
संसाराब्धिर्महाघोरो दुस्तरो मोहिनां विभो ।
तीर्यतेत्र मया चारु-तपोनावा जिनेशिनः ॥ ३२ ॥

इत्यादिकैः शुभैर्वाक्यै-र्बोधितोपि महीपतिः ।
जानन्संसारसद्भावं पुत्रपाशं न मुक्तवान् ॥ ३३ ॥
वर्त्तते नातितुच्छोस्य संसारश्चेति मानसे ।
ज्ञात्वा देवः सखेदोसौ मणिकेतुर्दिवं गतः ॥ ३४ ॥
अथैकदा सुतास्तेपि नृपं सिंहासनस्थितम् ।
नत्वा भक्त्या जगुः सर्वे श्रूयतां भो नृपाधिप ॥ ३५ ॥
ये पुत्राः क्षत्रियाणां च शूरा धीरा धरातले ।
असाध्यं स्वपितुर्नैव साधयन्ति सुभक्तितः ॥ ३६ ॥
तेषां जन्म भटत्वं च निष्फलं वन्ध्यवृक्षवत् ।
अतोस्माकं कृपां कृत्वा भवद्भिः सुविचक्षणैः ॥ ३७ ॥
दीयते प्रेषणं किंचि-द्येन स्यात्सफलं तनुः ।
तत्समाकर्ण्य चक्रेशो जगाद मधुरं वचः ॥ ३८ ॥
न मेऽसाध्यमहो पुत्राः षट्खण्डेषु प्रवर्त्तते ।
तस्मादेष ममादेशो भवद्भिर्भुज्यते धनम् ॥ ३९ ॥
तच्छ्रुत्वा भूपतेर्वाक्य-मनुल्लंघ्यं च ते सुताः ।
नत्वा मौनं विधायोच्चैः संस्थिताः शंकिताशयाः ॥ ४० ॥
तथान्येद्युः समासाद्य भूपतिं स्थिरसंस्थितम् ।
पुनः प्रणम्य सद्भक्त्या प्रोचुस्ते सुभटोत्तमाः ॥ ४१ ॥
प्रेषणेन विना देव क्रियते नैव भोजनम् ।
अस्माभिश्चेति तच्छ्रुत्वा संविचार्य प्रभुर्जगौ ॥ ४२ ॥
भो पुत्रा धर्मकार्यं मे वर्त्तते शर्मकारणम् ।
कैलासे कारिताः श्रीम-च्चक्रिणा भरतेशिना ॥ ४३ ॥

चतुर्विंशतितीर्थेशां गृहाः काञ्चननिर्मिताः ।
प्रोल्लसद्रत्ननिर्माणा यत्रार्हत्प्रतिमाः शुभाः ॥ ४४ ॥
तेषां यत्नाय कुर्वन्तु भवन्तः परितो गिरिम् ।
गंगासत्खातिकां शीघ्रं दुस्तरां दुष्टचेतसाम् ॥ ४५ ॥
ततस्ते तं नृपं नत्वा परमानन्दनिर्भराः ।
दण्डरत्नेन तां चक्रुः सत्वरं साहसोद्धताः ॥ ४६ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे धीमान्सम्बोधाय महीपते ।
मणिकेतुः सुरः सोपि कुमारान्देवमायया ॥ ४७ ॥
क्रूरनागाकृतिं धृत्वा भस्मीचक्रे बुधोत्तमः ।
क्वचित्सन्तः प्रकुर्वन्ति सद्धिताय हितेतरम् ॥ ४८ ॥
ज्ञात्वापि मरणं तेषां मंत्र्याद्यास्तस्य भूपतेः ।
तद्दुःखमसमर्थस्य सोढुं चक्रुर्न तां कथाम् ॥ ४९ ॥
तदा ब्राह्मणरूपेण स देवो मणिकेतुवाक् ।
समागत्य नृपप्रान्ते शोकाकुलितमानसः ॥ ५० ॥
अहो चक्रेश भूचक्रं रक्षत्युच्चैस्त्वयि प्रभो ।
अन्तकेन सुतो मेत्र गृहीतो दुष्टचेतसा ॥ ५१ ॥
तं त्वं प्राणप्रियं पुत्रं समानीय प्रभो द्रुतम् ।
यावत्प्राणस्थितिर्मेत्र तावद्देहि महीपते ॥ ५२ ॥
चक्रे पूत्कारकं चेति तन्निशम्य धराधिपः ।
किंचिद्धास्यं विधायोच्चै-स्तस्य सम्बोधनाय च ॥ ५३ ॥
जगौ भो विप्र किं मुग्ध-स्त्वं जातोसि महीतले ।
विना सिद्धैर्निराबाधैर्यमः केनात्र वार्यते ॥ ५४ ॥

तं निवारयितुं वाञ्छा वर्त्तते भवतो यदि ।
दीक्षां जैनीं समादाय कुरु त्वं स्वात्मनो हितम् ॥ ५५ ॥
तच्छ्रुत्वा स द्विजः प्राह सत्यमेतन्महीपते ।
यमधर्मं प्रति नैवात्र समर्थोऽस्ति नरोऽपि कः ॥ ५६ ॥
त्वया भयं न कर्त्तव्यं मया किंचित्प्रकथ्यते ।
पुत्रास्ते मारिताः सर्वे यमेन प्राणहारिणा ॥ ५७ ॥
तत्समाकर्ण्य भूपालो प्रोल्लसच्छोकमूर्च्छितः ।
महादुःखवचः श्रुत्वा कस्य मूर्च्छा न जायते ॥ ५८ ॥
तदा शीतोपचाराद्यैर्गुरोर्वाक्यामृतैरिव ।
चेतनां स नृपो नीतः सज्जनैश्चित्तरञ्जनैः ॥ ५९ ॥
ततस्त्रिविधवैराग्यं समासाद्यैव चक्रभृत् ।
दत्वा भागीरथायोच्चैः स राज्यं मोहवर्जितः ॥ ६० ॥
दृढधर्मजिनेन्द्रस्य पादपद्मद्वयान्तिके ।
दीक्षां जग्राह जैनेन्द्रीं भवभ्रमणनाशिनीम् ॥ ६१ ॥
तदासौ वेगतो गत्वा कैलासं च सुरोत्तमः ।
मायामृत्युमपाकृत्य चक्रिपुत्रानुजगौ पुनः ॥ ६२ ॥
अहो पुत्रा भवन्मृत्युं समाकर्ण्यैव दुःखितः ।
युष्मत्पिता श्रियं त्यक्त्वा तपो धृत्वा वनं श्रितः ॥ ६३ ॥
यस्मादहं समायातो महाचिन्ताहताशयः ।
युष्मत्कुलद्विजोन्वेष्टुं भवतो नृपदेहजान् ॥ ६४ ॥
सर्वे षष्ठि सहस्राणि पुत्रास्ते तद्वचः श्रुतेः ।
दृढधर्मजिनस्यैव पार्श्वे दीक्षां समाश्रिताः ॥ ६५ ॥

श्रीमान्भगीरथश्चापि नत्वा तान्मुनिसत्तमान् ।
श्रुत्वा धर्मं जिनेन्द्राणां संजातः श्रावकोत्तमः ॥ ६६ ॥
तदासौ प्रगटीभूय मणिकेतुसुरः सुधीः ।
नत्वा श्रीसगरादींश्च मुनीन्सुतपासि दृढान् ॥ ६७ ॥
क्षन्तव्यं सेवकेनोच्चै-र्निर्मितेत्रापराधके ।
भवद्भिर्जैनतत्वज्ञै-र्भक्त्या चेति जगौ गिरम् ॥ ६८ ॥
तच्छ्रुत्वा मुनयः प्राहुर्भो सुरेन्द्र बुधोत्तम ।
कोपराधस्तवास्माकं कार्यसिद्धिर्विधायिनः ॥ ६९ ॥
यत्त्वया निर्मितं कार्यं महामित्रेण धीमता ।
तत्कर्तुं कः क्षमो लोके त्वां विना धर्मवत्सलः ॥ ७० ॥
अतस्त्वेमव भो देव जैनपादाब्जपट्पदः ।
मुक्तिलक्ष्म्याः परिप्राप्त्यै कारणं शर्मकारणम् ॥ ७१ ॥
इत्यादिकं वचः श्रुत्वा स देवो सुखदायकम् ।
तान्प्रणम्य महाभक्त्या सिद्धकार्यो दिवं गतः ॥ ७२ ॥
ते मुनीद्रा जिनेन्द्रोक्तं तपः कृत्वा सुदुस्सहम् ।
सम्मेदपर्वते मोक्षं शुक्लध्यानेन संययुः ॥ ७३ ॥
तेषां निर्वाणसम्प्राप्तिं श्रुत्वा निर्विण्णमानसः ।
सुधीर्भगीरथश्चापि वरदत्ताय धीमते ॥ ७४ ॥
दत्वा राज्यं निजं प्राज्यं जिनस्नपनपूर्वकम् ।
कैलासाख्यगिरिं गत्वा शिवगुप्तमहामुनेः ॥ ७५ ॥
नत्वा पादद्वयं भक्त्या गृहीत्वा सुतपःश्रियम् ।
भूत्वा महामुनिर्गंगा-नदीतीरे मनोहरे ॥ ७६ ॥

संस्थितः प्रतिमायोगं समादाय बुधोत्तमः ।
तदा सर्वे सुरेन्द्राद्याः क्षीराब्धेस्तोयसद्‌घटैः ॥ ७७ ॥
श्रीमद्भगीरथस्यास्य भक्त्या पादाब्जयोर्मुदा ।
चक्रुर्महाभिषेकं च शर्मकोटिविधायकम् ॥ ७८ ॥
तत्प्रवाहं समासाद्य सापि गंगा नदी तराम् ।
तदा प्रभृति तीर्थत्वं जनानां समुपागता ॥ ७९ ॥
तस्मिन्गंगातटे चापि भगीरथमुनीश्वरः ।
कृत्वा तपः शिवं प्राप्तो जरामरणवर्जितम् ॥ ८० ॥
स जयतु सगराख्यः केवलज्ञानचक्षुः
सकलसुरसमर्च्यो मुक्तिकान्तासुकान्तः ।
विदितपरमतत्वास्ते मुनीन्द्राश्च नित्यं
मम विशदसुखश्रीकारणं सन्तु सन्तः ॥ ८१ ॥

इति कथाकोशे द्वितीयचक्रवर्त्तिसगरस्य कथा समाप्ता ।

५५–मृगध्वजस्य कथा ।

नत्वा जिनं महाभक्त्या त्रैलोक्यप्रभुपूजितम् ।
वक्ष्ये मृगध्वजाख्यानं पूर्वाचार्यैः प्रभाषितम् ॥ १ ॥
अयोध्या नगरे रम्ये राजा सीमन्धरोभवत् ।
तत्प्रिया जिनसेनाख्या तयोः पुत्रो मृगध्वजः ॥ २ ॥
राजकीयोपि तत्रैको महिषो भणितो जनैः ।
समायाति प्रयात्येव पादयोश्च पतत्यलम् ॥ ३ ॥

क्रीडन्तं पुष्करिण्यां तं समालोक्यैकदा पशुम् ।
मंत्रिश्रेष्ठिकुमाराभ्यां सहायातो मृगध्वजः ॥ ४ ॥
राजपुत्रो जगौ तत्र मांसासक्तः स्वसेवकम् ।
पश्चिमं चरणं चास्य मह्यं देहीति पापधीः ॥ ५ ॥
तथा कृते च भृत्येन महिषः सोपि कष्टतः ।
त्रिभिः पादैर्नृपस्याग्रे गत्वा संपतितस्तदा ॥ ६ ॥
राजा सीमन्धरस्तस्मै जिनधर्मधुरन्धरः ।
सारपञ्चनमस्कारान्ददौ संन्याससंयुतान् ॥ ७ ॥
परोपकारिणः केचित्सन्ति सन्तो गुणाकराः ।
चन्द्रार्ककल्पवृक्षोरु-तोयदेभ्योतिसुन्दराः ॥ ८ ॥
तत्प्रभावेन सौधर्म-स्वर्गे देवो बभूव सः ।
श्रीमज्जैनेन्द्रसद्धर्मो देहिनां सुहितंकरः ॥ ९ ॥
पुत्रवृत्तान्तमाकर्ण्य ततो रुष्टेन भूभुजा ।
सिद्धार्थमंत्रिणः प्रोक्तं मारय त्रीनपि द्रुतम् ॥ १० ॥
तां वार्तां च ततः श्रुत्वा मंत्रिश्रेष्ठिनृपात्मजाः ।
मुनिदत्तमुनेः पार्श्वे जैनीं दीक्षां समाश्रिताः ॥ ११ ॥
ततो वैराग्यभावेन तपः कृत्वा सुदुस्सहम् ।
मृगध्वजो मुनिः सोपि जैनतत्वविदाम्वरः ॥ १२ ॥
क्षयं नीत्वा सुधीर्ध्यानाद् घातिकर्मचतुष्टयम् ।
केवलज्ञानमुत्पाद्य संजातो भुवनार्चितः ॥ १३ ॥
महापापप्रकर्त्तापि प्राणी श्रीजैनधर्मतः ।
भवेत्त्रिलोक्यसंपूज्यो धर्मात्किं भो परं शुभम् ॥ १४ ॥

स श्रीकेवललोचनोतिचतुरो भव्यौघनिस्तारको
देवेन्द्रादिसमर्चितो हितकरो धीरो मृगादिध्वजः ।
नाना शर्मयशःप्रबोधजनकैर्भक्त्या समाराधितो
दद्यान्मे भवतां च निर्वृतिपदं नित्यं महामङ्गलम् ॥ १९ ॥

इति कथाकोशे मृगध्वजमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

५६–परशुरामस्य कथा ।

नमस्कृत्य जिनाधीशं संसाराम्भोधितारणम् ।
श्वेतरामस्य संवच्मि चरित्रं चित्रकारणम् ॥ १ ॥
अयोध्यापत्तने राजा कार्त्तवीर्योऽतिमूढधीः ।
पद्मावती महाराज्ञी तस्यासीत्प्राणवल्लभा ॥ २ ॥
अटव्यां तापसावास-पल्लिकायां च तापसः ।
रेणुका कामिनीनाथ-स्तत्रास्ते यमदग्निवाक् ॥ ३ ॥
तयोः पुत्रौ मनःप्रीतौ श्वेतरामस्तु पूर्वकः ।
महेन्द्रारामनामा च द्वितीयः प्राणवल्लभः ॥ ४ ॥
एकदा रेणुकाभ्राता वरदत्तो मुनीश्वरः ।
तत्पल्लिकासमीपेसौ वृक्षमूले सुखास्थितः ॥ ५ ॥
तत्र तं रेणुका वीक्ष्य भ्रातरं मुनिसत्तमम् ।
महाप्रीत्या प्रणम्योच्चैः पादमूले च संस्थिता ॥ ६ ॥
तेनोक्तं वरदत्ताख्य-मुनीन्द्रेण महाधिया ।
शृणु त्वं भो भगिन्यत्र सावधानेन चेतसा ॥ ७ ॥

सम्यक्त्वं त्रिगजत्पूतं दुर्गतिच्छेदकारणम् ।
स्वर्गमोक्षतरोर्बीजं भवभ्रान्तिनिवारणम् ॥ ८ ॥
तच्च, देवो जिनाधीशो रागद्वेषादिवर्जितः ।
केवलज्ञानसाम्राज्यः सुरासुरनमस्कृतः ॥ ९ ॥
तद्धापितो भवेद्धर्मो लोकद्वयसुखप्रदः ।
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्राद्यैः पूजितो दशधा मुदा ॥ १० ॥
उत्तमादिक्षमादिस्तु प्रसिद्धो भुवनत्रये ।
भवेद्वाले गुरुश्चापि शीलसंयमतत्परः ॥ ११ ॥
ज्ञानध्यानरतो नित्यं भार्यादिग्रन्थवर्जितः ।
इत्येतच्छर्मदं विद्धि सम्यक्त्वं मुग्धमानसे ॥ १२ ॥
पात्रदानं गुणाधानं जिनार्चा शर्मदायिनी ।
शीलपर्वोपवासादि-धर्मोयं गृहिणां शुभः ॥ १३ ॥
इत्यादिकं समाकर्ण्य रेणुका वान्धवोदितम् ।
धर्मं श्रीमज्जिनेन्द्राणा सन्तुष्टा मानसे तदा ॥ १४ ॥
सम्यक्त्वरत्नमादाय सा सती भक्तितस्तराम् ।
स्वात्मनो मण्डनं चक्रे भव्यानां तद्विभूषणम् ॥ १५ ॥
ततो धर्मानुरागेण तस्यै श्रीवरदत्तवाक् ।
परश्वाख्यां महाविद्यां भगिन्यै मुनिसत्तमः ॥ १६ ॥
कामधेनुसुविद्यां च दत्वा शर्मप्रदायिनीम् ।
स्वस्थानं प्राप्तवान्धीरो जैनतत्वविदाम्वरः ॥ १७ ॥
सम्यक्त्वशालिनी सा च रेणुका स्वगृहे सुखम् ।
संस्थिता जिनपादाब्ज-भृङ्गी सद्धर्मवत्सला ॥ १८ ॥

एकदा कार्त्तवीर्योऽसौ राजा तत्र वने घने ।
गजस्य बन्धनार्थं च समायातस्तदा मुदा ॥ १९ ॥
कामधेनुमहाविद्या-प्रभावेन मनोहरम् ।
कारितः षड्रसोपेतं भोजनं यमदग्निना ॥ २० ॥
स पापी कार्त्तवीर्योऽपि संभुक्त्वा लोभपूरितः ।
संग्रामे तापसं हत्वा कुधीस्तं यमदग्निकम् ॥ २१ ॥
कामधेनुं समादाय निर्गतस्तद्वनाज्जवात् ।
पोषितो दुर्जनः प्राणी सर्पवत्प्राणनाशकः ॥ २२ ॥
तदा तौ रेणुकापुत्रौ गृहीत्वा समिधादिकम् ।
समागतौ गृहं मातुर्ज्ञात्वा तां कष्टवार्त्तिकाम् ॥ २३ ॥
श्वेतरामस्ततो ज्येष्ठः पुत्रोऽसौ सुभटाग्रणीः ।
रेणुकायाः समादाय तां विद्यां परशुप्रथाम् ॥ २४ ॥
गत्वा महेन्द्ररामेण संयुतः कौशलां पुरीम् ।
कीर्त्तवीर्यं सुसंग्रामे मारयामास भूपतिम् ॥ २५ ॥
मृत्वासौ निजपापेन कार्त्तवीर्यो नृपः कुधीः ।
सम्प्राप्तो नरकं घोरं पापिनामीदृशी गतिः ॥ २६ ॥
धिक्तृष्णां पापिनीं जन्तोर्महादुःखप्रदायिनीम् ।
यत्रासक्तो जनोऽन्यायं कृत्वा कष्टं प्रयात्यलम् ॥ २७ ॥
अन्यायेन नरेन्द्राद्याः क्षयं गच्छन्ति किं परे ।
यद्वायुना द्विपा यान्ति तत्र किं शलभादयः ॥ २८ ॥
तदायोध्यापुरे सोऽपि श्वेतरामः स्वविद्यया ।

 ...ति संजातः

भवति जगति शूरः पण्डितो दिव्यलक्ष्मी-
पतिरिह सुखयुक्तः पुण्यपण्येन जीवः ।
इति मनसि विचारं चारु कृत्वा सुभव्याः
कुरुत जिनमतोक्तं सारपुण्यं सुखाय ॥ ३० ॥

इति कथाकोशे परशुरामस्य कथा समाप्ता ।

५७-सुकुमालमुनेः कथा ।

यन्नामस्मृतिमात्रेण प्राप्यते सारसम्पदा ।
तं प्रणम्य जिनं वक्ष्ये सुकुमालकथां मुदा ॥ १ ॥
कौशाम्बीनगरे ख्याते संजातोऽतिबलो नृपः ।
पुरोहितोऽभवत्तस्य सोमशर्मा विचक्षणः ॥ २ ॥
काश्यपी कामिनी तस्यां काश्यप्यां संबभूवतुः ।
अग्निभूतिस्तथा वायु-भूतिनामा सुतोपि च ॥ ३ ॥
तौ द्वौ पुत्रौ प्रमादेन शास्त्राभ्यासं न चक्रतुः ।
विना पुण्येन जन्तूनां मुखाब्जे नैव भारती ॥ ४ ॥
सोमशर्मण्यतस्तस्मि-न्कालव्याधेन भक्षिते ।
पुरोहितपदं तस्य गृहीतं गोत्रिभिस्तदा ॥ ५ ॥
मूर्खत्वान्न तयोर्दत्तं भूभुजातिबलेन तत् ।
क्व भवेन्मूढजन्तूनां दानमानादिकक्रिया ॥ ६ ॥
ततस्तौ मानभंगेन गत्वा राजगृहं पुरम् ।
पितृव्यं सूर्यमित्राख्यं नत्वा वृत्तान्तमूचतुः ॥ ७ ॥

कैश्चिद्दिनैस्ततस्तेन सूर्यमित्रेण धीमता ।
नाना शास्त्राणि तावुच्चैः पाठितौ पोषितावपि ॥ ८ ॥
तौ विद्वांसौ ततो भूत्वा समागत्य निजं गृहम् ।
स्वविद्यां भूपतेस्तस्य दर्शयामासतुस्तराम् ॥ ९ ॥
स राजातित्रलस्ताभ्यां पुरोहितपदं ददौ ।
सरस्वत्याः प्रसादेन किं न जायेत भूतले ॥ १० ॥
अथ राजगृहे तस्य सूर्यमित्रस्य चैकदा ।
सन्ध्यायां सरसो मध्ये सूर्यार्घं ददतो मुदा ॥ ११ ॥
मुद्रिका राजकीया च हस्ताद् ध्वस्ता जलान्विते ।
पद्मे सम्पतिता तत्र ततो भीतेन तेन तु ॥ १२ ॥
मुनिं सुधर्मनामानं प्रणम्यावविलोचनम् ।
प्रोक्तं मे मुद्रिका देव न जाने क्व गता मुने ॥ १३ ॥
ब्रूहि भो करुणासिन्धो सा मया प्राप्यते कथम् ।
मुनिः प्राह सुधीः सास्ति तडागे कमलोपरि ॥ १४ ॥
पुरोहितः प्रभातेसौ सूर्यमित्रश्च मुद्रिकाम् ।
दृष्ट्वा तस्मात्समादाय सन्तुष्टो मुनिपादयोः ॥ १५ ॥
नत्वा जगाद योगीन्द्र विद्यां मे देहि धीधन ।
यया प्रश्नं सुजानामि भवत्पादप्रसादतः ॥ १६ ॥
तेनोक्तं मुनिना धीर जैनदीक्षां विना भुवि ।
विद्यैषा न समायाति ततोसौ सूर्यमित्रवाक् ॥ १७ ॥
केवलं लोभतस्तस्य पादमूले मुनेर्मुदा ।
दीक्षां जग्राह जैनेन्द्रीं सर्वसिद्धिप्रदायिनीम् ॥ १८ ॥

पुनः पुनश्च तां विद्यां संपृच्छन्भक्तितस्तदा ।
क्रियागमं जिनेन्द्रोक्तं पाठितो गुरुणाखिलम् ॥ १९ ॥
ततोसौ गुरुसद्वाक्य-प्रदीपोद्योतनेन च ।
हत्वाज्ञानतमस्तोमं संजातो धर्मतत्ववित् ॥ २० ॥
येन भव्येन सद्भक्त्या गुरुः सन्मार्गदर्शकः ।
आराधितो जगद्बन्धुः किं न सिद्ध्यति तस्य वै ॥ २१ ॥
ततः श्रीजैनसद्धर्मे भूत्वा यो प्रौढधीर्मुनिः ।
पृष्ट्वा गुरुसुधर्माख्य-मेकाकी विहरन्भुवि ॥ २२ ॥
कौशाम्बीं नगरीं गत्वा चर्यार्थं युक्तितो भ्रमन् ।
सूर्यमित्रो मुनिर्धीमा-नग्निभूतिगृहं गृतः ॥ २३ ॥
तदाग्निभूतिना तेन महाभक्त्या प्रयुक्तितः ।
अन्नदानं जगत्सारं तस्मै दत्तं सुखप्रदम् ॥ २४ ॥
वायुभूतिर्लघुभ्राता प्रेरितश्चाप्यनेन तु ।
स तस्मै वन्दनां नैव चक्रे चक्रे च निन्दनम् ॥ २५ ॥
भाविदुर्गतिभाक्प्राणी सद्धर्मे प्रेरितोपि च ।
कदाचिन्न रतो मूढ भवेत्पापात्कुकर्मसु ॥ २६ ॥
अग्निभूतिः सुपूतात्मा सूर्यमित्रं मुनीश्वरम् ।
अनुव्रजन्क्रियन्मार्गं धर्ममाकर्ण्य शर्मदम् ॥ २७ ॥
त्रिधा वैराग्यमापन्नो-ऽसौ गृहीत्वा तपस्तराम् ।
मुनिर्जातो लसद्भक्त्या सुधीः स्वपरतारकः ॥ २८ ॥
अग्निभूतिप्रिया या च सोमदत्ता महासती ।
श्रुत्वा तां स्वपतेर्वार्त्तां दुःखतो देवरं जगौ ॥ २९ ॥

वायुभूते त्वया पापान्न कृता मुनिवन्दना ।
कृतं तन्निन्दनं चापि रे कुधीस्तन्निमित्ततः ॥ ३० ॥
भ्राता ते स मुनिर्जातो महावैराग्यतो ध्रुवम् ।
तच्छ्रुत्वा कोपतस्तेन पापिना वायुभूतिना ॥ ३१ ॥
गच्छ गच्छ त्वकं चापि पार्श्वे नग्नस्य तस्य च ।
विटलस्याशुचेश्चेति प्रोक्त्वा पादेन सा हता ॥ ३२ ॥
सोमदत्ता तदा श्रुत्वा तद्वाक्यं कष्टकोटिदम् ।
जन्मान्तरे सपुत्राहं पादं ते सुखदायकम् ॥ ३३ ॥
भक्षयिष्यामि मूढात्मा निदानं सा करोदिति ।
धिङ्मूढत्वं यतो मूढा भस्मीकुर्वन्ति सच्छुभम् ॥ ३४ ॥
वायुभूतिस्तु पापात्मा मुनिनिन्दाप्रभावतः ।
उदुम्बरोरुकुष्ठेन पीडितः सप्तभिर्दिनैः ॥ ३५ ॥
यो मुनिस्त्रिजगत्पूज्यो धर्ममार्गोपदेशकः ।
तन्निन्दको महापापी किं कष्टं न प्रयाति सः ॥ ३६ ॥
मृत्वा ततः कुधीः सोपि दुष्टकष्टप्रकष्टतः ।
कौशाम्बीनगरे तत्र नटस्याजनि गर्दभी ॥ ३७ ॥
तत्रैव सा पुनर्मृत्वा संजाता शूकरी ततः ।
चम्पापुर्यां स्वपापेन जाता चाण्डालकुक्करी ॥ ३८ ॥
चम्पायां च पुनस्तत्र जाता चाण्डालपुत्रिका ।
दुष्टदुर्गन्धसंयुक्ता चक्षुपान्धा स्वकर्मणा ॥ ३९ ॥
जम्बूवृक्षतले कष्टा-द्भक्षयन्ती च तत्फलम् ।
दृष्ट्वा चाण्डालपुत्रीं तां कर्मयोगेन धीधनः ॥ ४० ॥

अग्निभूतिमुनिः प्राह सूर्यमित्रं गुरुं प्रति ।
वराकीयं महाकष्टं हा कथं जीवति क्षितौ ॥ ४१ ॥
तच्छ्रुत्वा सूर्यमित्रेण प्रोक्तं संज्ञानचक्षुषा ।
तवेयं वायुभूतिस्तु भ्राता धर्मपराङ्मुखः ॥ ४२ ॥
मन्निन्दापापतः कुष्ठी मृत्वा भूत्वा च गर्दभी ।
शूकरी कुक्करी चापि जाता चाण्डालपुत्रिका ॥ ४३ ॥
ततस्तेन मुनीन्द्रेण प्रोल्लसत्करुणाधिया ।
ग्राहिता शर्मदान्युच्चैः सा पंचाणुव्रतानि च ॥ ४४ ॥
ततो मृत्वा च चम्पायां नागशर्माभिधस्य सा ।
पुरोहितस्य संजाता नागश्रीर्नाम कन्यका ॥ ४५ ॥
नागोद्याने तदा श्रेष्ठि-मंत्रिकन्यादिभिः सह ।
एकदा नागपूजार्थं सा गता तत्र पुण्यतः ॥ ४६ ॥
सूर्यमित्राग्निभूती तौ समायातौ मुनीश्वरौ ।
दृष्ट्वा सद्भावतः सा च तयोः पार्श्वे स्थिता तदा ॥ ४७ ॥
नागश्रियं समालोक्य तां कन्यां च लघोर्मुनेः ।
पूर्वजन्मस्वसम्बन्धा-त्स्नेहोभून्मानसे तराम् ॥ ४८ ॥
पृष्टेन सूर्यमित्रेण संप्रोक्ते स्नेहकारणे ।
ततोऽग्निभूतिना तस्यै सारसम्यक्त्वपूर्वकम् ॥ ४९ ॥
अणुव्रतानि पञ्चैव दत्वा प्रोक्तं च बालिके ।
व्रतान्येतानि ते तातो यदि त्याजयति त्वया ॥ ५० ॥
अत्रागत्य पुनः पुत्रि दीयन्ते मे गुणोज्वले ।
भवन्ति मुनयो धीराः सत्यं सन्मार्गदर्शकाः ॥ ५१ ॥

ततोऽसौ भक्तिभारेण नत्वा तौ द्वौ मुनीश्वरौ ।
नागश्रीः स्वगृहं प्राप्ता यावच्चित्ते प्रमोदतः ॥ ५२ ॥
अन्याभिर्लोककन्याभिः श्रुत्वा तां वार्त्तिकां तदा ।
नागशर्मद्विजेनोक्तं भो सुते मुग्धमानसे ॥ ५३ ॥
अस्माकं न कुले युक्तं ब्राह्मणानां मुनेर्व्रतम् ।
कर्त्तुं पुत्रि ततः शीघ्रं त्यज त्वं व्रतसञ्चयम् ॥ ५४ ॥
तत्समाकर्ण्य सावोच-त्तर्हि तानि व्रतानि तु ।
समर्पयामि तस्यैव मुनेश्चैतानि निश्चयात् ॥ ५५ ॥
ततस्तां स्वकरे धृत्वा ब्राह्मणः कोपसंयुतः ।
वने तन्मुनिसान्निध्ये संचचाल प्रवेगतः ॥ ५६ ॥
मार्गे तया प्रगच्छन्त्या शूलाभ्यर्णे सुकष्टतः ।
वाद्यमाने कुवादित्रे जाते कोलाहले स्वरे ॥ ५७ ॥
बद्धमेकं नरं दृष्ट्वा पृष्टोसौ कन्यया द्विजः ।
किमर्थं कष्टतो बद्ध-स्तावार्य ब्रूहि कारणम् ॥ ५८ ॥
तेनोक्तं वरसेनाख्यो याचमानो निजं धनम् ।
मारितोत्र वणिक्पुत्रः पुत्रि चानेन पापिना ॥ ५९ ॥
तस्मादयं प्रकष्टेन मार्यते राजकिंकरैः ।
तन्निशम्य सुता प्राह शृणु त्वं तात मे वचः ॥ ६० ॥
एतद्व्रतं जगत्सारं दत्तं मे मुनिना सुधीः ।
कथं सन्त्यज्यते धीर महाशर्मविधायकम् ॥ ६१ ॥
विप्रः प्राह सुते चैतद्व्रतं तिष्ठतु साम्प्रतम् ।
पश्चादन्यानि दीयन्ते तस्मै नग्नाय बालिके ॥ ६२ ॥

ततश्चाग्रे प्रगच्छन्त्या दृष्ट्वा नागश्रिया परम् ।
बद्धं तथा द्विजः पृष्टः संजगादेति पुत्रिके ॥ ६३ ॥
वणिक्नारदनामासौ व्यलीकवचनैः कुधीः ।
जनानां वंचनं पुत्रि करोत्यत्र स्वपापतः ॥ ६४ ॥
तद्दोषेण सुते चायं हन्यते पापधीरिह ।
शेषं वक्तव्यमत्रापि ज्ञातव्यं पूर्ववद्बुधैः ॥ ६५ ॥
एवं चोर्यपरस्त्रीक-भूरिलोभाश्रिताञ्जनान् ।
नागशर्मा द्विजः प्रोक्त्वा पुनः प्राह सुतां प्रति ॥ ६६ ॥
अहो पुत्रि प्रतिष्ठन्तु व्रतान्येतानि किं तु वै ।
त्वमागच्छ मुनिः सोपि तर्ज्यते वचनोत्करैः ॥ ६७ ॥
येनासौ परबालानां व्रतं नैवं ददात्यतः ।
दुर्जनो न भवत्येव सर्वथा सुजनैः रतः ॥ ६८ ॥
ततो गत्वा सुदूरस्थो द्विजो कोपाग्निपूरितः ।
जगौ किं रे मुने नग्न वंचिता मत्सुता व्रतैः ॥ ६९ ॥
हा कष्टं मूर्खजन्तूनां चेष्टितं पापकर्मणाम् ।
व्रतैः शीलैः शुभोपेतै-र्वंचितः कोपि किं भुवि ॥ ७० ॥
सूर्यमित्रेण संप्रोक्तं भो विप्रेयं सुता मम ।
नागश्रीर्न त्वदीया च सर्वथा भणितापि सा ॥ ७१ ॥
एहि पुत्रीति मत्पार्श्वे तच्छ्रुत्वा सा च कन्यका ।
भट्टारकस्य सान्निध्ये गत्वोच्चैः संस्थिता तदा ॥ ७२ ॥
अन्यायोन्यायकश्चेति कुर्वन्पूत्कारकं द्विजः ।
गत्वा चम्पापुरीमध्ये चन्द्रवाहनभूपतिम् ॥ ७३ ॥

जगौ देव मुनीन्द्रेण गृहीता मत्सुता हठात् ।
तच्छ्रुत्वा सर्वलोकाना-माश्चर्यं समभूद्धृदि ॥ ७४ ॥
ततः सर्वजनैर्युक्त-श्चन्द्रवाहनभूपतिः ।
समागत्य मुनेः पार्श्वे नत्वां तं कौतुकाश्रितः ॥ ७५ ॥
मदीयासौ मदीयासौ पुत्रिका मुनिविप्रयोः ।
विवादे चेति संजाते जगौ भट्टारकस्तदा ॥ ७६ ॥
चतुर्दश लसद्विद्या पाठितासौ मया प्रभो ।
मदीयेयं ततः पुत्री तच्छ्रुत्वा स नृपोवदत् ॥ ७७ ॥
यद्येवं भो मुनिस्वामि-न्पाठयेमां स्वकन्यकाम् ।
सूर्यवत्सूर्यमित्रोसौ स्ववाक्यकिरणैस्तदा ॥ ७८ ॥
जगच्चित्तस्थमूढत्व-प्रौढान्धतिमिरं हरन् ।
मुनिः प्राहेति भो वायु-भूते संपठ्यते त्वया ॥ ७९ ॥
तच्छ्रुत्वा प्रोल्लसद्विद्याः पूर्वजन्माश्रितास्तया ।
नागश्रिया महाश्चर्यं प्रव्यक्तं पठितास्तदा ॥ ८० ॥
विस्मितेन नरेन्द्रेण प्रोक्तं नत्वा मुनीश्वरम् ।
महामुने स्वसम्बन्धं ब्रूहि भो करुणाकर ॥ ८१ ॥
संज्ञानलोचनोवोच-त्तदासौ मुनिसत्तमः ।
वायुभूतिभवादेस्तु साक्षात्पूर्वप्रचेष्टितम् ॥ ८२ ॥
तच्छ्रुत्वा मुनिनाथोक्तं परमाश्चर्य कारणम् ।
ज्ञात्वा मोहादिकं सर्वं मानसे दुःखकारणम् ॥ ८३ ॥
चन्द्रवाहनभूपालो महावैराग्ययोगतः ।
भूरि राजसुतैः सार्द्धं जिनदीक्षां गृहीतवान् ॥ ८४ ॥

स विप्रो नागशर्मापि श्रुत्वा धर्मं जिनेशिनाम् ।
मुनिर्भूत्वाऽच्युते स्वर्गे देवोभूत्पुण्यपावनः ॥ ८५ ॥
नागश्रीश्च जिनेन्द्रोक्तं तपः कृत्वा स्वपुण्यतः ।
तत्रैवाच्युतकल्पेसौ देवो जातो महर्द्धिकः ॥ ८६ ॥
अहो भव्या जगत्सारो गुरुश्चिन्तामणिर्यथा ।
यत्प्रसादेन जन्तूनां सम्पदा विविधाः सदा ॥ ८७ ॥
अग्निमन्दरसच्छैले सूर्यमित्राग्निभूतिकौ ।
तौ मुनीन्द्रौ जगद्वन्द्यौ घातिकर्मक्षयंकरौ ॥ ८८ ॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य भूत्वा त्रैलोक्यपूजितौ ।
संप्राप्तौ परमानन्द-दायकौ मोक्षमक्षयम् ॥ ८९ ॥
तौ द्वौ सत्केवलज्ञान-लोचनौ श्रीजिनेश्वरौ ।
अस्माकं भवतां नित्यं सच्छ्रिये भुवनोत्तमौ ॥ ९० ॥
अथावन्तिलसद्देशे विख्यातोज्जयिनीपुरे ।
इन्द्रदत्तो महाश्रेष्ठी परमेष्ठीप्रभक्तिमान् ॥ ९१ ॥
श्रेष्ठिनी गुणवत्याख्या रूपसौभाग्यमण्डिता ।
तस्यागर्भे समागत्य स्वर्गादच्युतसंज्ञकात् ॥ ९२ ॥
नागशर्मचरो देवः पूर्वपुण्यप्रसादतः ।
पुत्रः सुरेन्द्रदत्ताख्यः संजातो सुगुणान्वितः ॥ ९३ ॥
तत्रैव नगरे श्रीम-त्सुभद्रश्रेष्ठिनः सुताम् ।
यशोभद्रां सुरेन्द्रादि-दत्तोसौ परिणीतवान् ॥ ९४ ॥
नाना भोगान्प्रभुञ्जानौ तौ स्थितौ पूर्वपुण्यतः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-धर्मकर्मसुतत्परौ ॥ ९५ ॥

एकदा सा यशोभद्रा प्रणम्यावधिलोचनम् ।
मुनिं प्राह सुधीर्मेऽत्र पुत्रो भावी न वा मुने ॥ ९६ ॥
तेनोक्तं श्रीमुनीन्द्रेण भो सुते संभविष्यति ।
पुत्रस्ते नैव सन्देहो भव्यानामग्रणीः सुधीः ॥ ९७ ॥
भर्त्ता सुरेन्द्रदत्तस्ते दृष्ट्वा तन्मुखपंकजम् ।
ग्रहीष्यति ध्रुवं जैनीं दीक्षां स्वर्मोक्षदायिनीम् ॥ ९८ ॥
सोपि पुत्रि सुतस्ते तु सुधीः सन्मुनिदर्शनात् ।
त्यक्त्वा भोगान्विशुद्धात्मा तपः शीघ्रं गृहीष्यति ॥ ९९ ॥
ततः कैश्चिद्दिनैः सापि यशोभद्रा गुणोज्वलम् ।
नागश्रीचरदेवं तं संप्राप्ता सुतमुत्तमम् ॥ १०० ॥
महोत्सवशतैस्तत्र बन्धुभिः परमादरात् ।
सुकुमाल इति व्यक्तं प्रोक्तः शर्मप्रदायकः ॥ १०१ ॥
श्रेष्ठी सुरेन्द्रदत्तस्तु दृष्ट्वा तं तनयं तदा ।
दत्वा श्रेष्ठिपदं तस्मै मुनिर्जातो जगद्धितः ॥ १०२ ॥
ततोसौ पूर्वपुण्येन श्रेष्ठी श्रीसुकुमालवाक् ।
नवयौवनमासाद्य परिणीय कुलोत्तमाः ॥ १०३ ॥
द्वात्रिंशत्प्रोल्लसत्कन्या रूपलावण्यमण्डिताः ।
नित्यं ताभिः प्रभुञ्जानो दिव्यान्भोगान्सुखं स्थितः ॥ १०४ ॥
तन्माता च यशोभद्रा स्वगेहे पुत्रमोहतः ।
मुनीनामपि तत्रोच्चैः प्रवेशं सा निराकरोत् ॥ १०५ ॥
उज्जयिन्यां समागत्य केनचिच्चैकदा तदा ।
राज्ञः प्रद्योतनाम्नश्च दर्शितो रत्नकम्बलः ॥ १०६ ॥

भूरि मूल्यभराद्राजा गृहीतुं न क्षमोभवत् ।
ततस्तं सा यशोभद्रा गृहीत्वा रत्नकम्बलम् ॥ १०७ ॥
खण्डं खण्डं विधायाशु पादत्राणार्थमञ्जुतम् ।
द्वात्रिंशत्स्ववधूभ्यश्च लीलया संददौ सती ॥ १०८ ॥
एकदा मौलिका चैकं पादत्राणं सुरक्तकम् ।
चञ्च्वादाय क्वचिच्छीघ्रं पातयामास तत्तदा ॥ १०९ ॥
वेश्यया च समादाय राज्ञः संदर्शितं ततः ।
तत्समालोक्य भूपालो ज्ञात्वा तद्वृत्तकं पुनः ॥ ११० ॥
महाश्चर्येण तद्गेहे सुधीः प्रद्योतवाक् स्वयम् ।
द्रष्टुं श्रीसुकुमालं तं समायातः शुभाशयः ॥ १११ ॥
तज्जनन्या विधायोच्चै-रभ्युत्थानादिकं तदा ।
राज्ञः पुत्रस्य चैकत्र चक्रे स्वारार्त्तिकां मुदा ॥ ११२ ॥
तत्तेजसा तथाकण्ठ- हारसत्तेजसाकुलम् ।
सुकुमालं समालोक्य तथा सद्भोजनक्षणे ॥ ११३ ॥
एकैकं सिक्तकं सारं भुंजानं तं महीपतिः ।
दृष्ट्वा पृष्ट्वा यशोभद्रां ज्ञात्वा तत्कारणं मुदा ॥ ११४ ॥
महाविस्मयमापन्नो भो श्रेष्ठिन्पूर्वपुण्यभाक् ।
अवन्ति सुकुमालस्त्वं तं जगादेति हर्षतः ॥ ११५ ॥
भोजनानन्तरं तत्र क्रीडावाप्यां स भूपतिः ।
कुर्वन्स्वयं जलक्रीडां पतितां निजमुद्रिकाम् ॥ ११६ ॥
तां पश्यन्प्रोल्लसत्कान्ति नानासद्भूपणोत्करम् ।
समालोक्य जले तत्र महाश्चर्येण चेतसि ॥ ११७ ॥

अहो पुण्येन सामग्री कीदृशीति विचारयन् ।
लज्जित्वा स्वगृहं प्राप्त-स्तत्पुण्यं संस्तुवन्मुहुः ॥ ११८ ॥
शृण्वन्तु महाभव्या धनं धान्यं सुसम्पदाः ।
पुत्रं मित्रं कलत्रं च रूपसौभाग्यमण्डितम् ॥ ११९ ॥
सद्बान्धवान्सुखोपेता न्नानावस्त्रादिभूषणम् ।
एकद्वित्र्यादिसद्भूमि-लसत्प्रासादसञ्चयम् ॥ १२० ॥
यानजं पानसन्मान-यत्सारं भुवनत्रये ।
लभन्ते श्रीजिनेन्द्रोक्त-पुण्यपण्येन देहिनः ॥ १२१ ॥
तस्मात्त्यक्त्वाशु दुर्मार्गं कष्टदं बुधसत्तमैः ।
स्वर्गमोक्षश्रियो बीजं कार्यं पुण्यं जिनोदितम् ॥ १२२ ॥
तत्सुपुण्यं भवेदत्र भक्त्या श्रीमज्जिनार्चनैः ।
पात्रदानैस्तथाशीलो-पवासादिव्रतोत्तमैः ॥ १२३ ॥
अथैकदा जगत्पूज्यः सुकुमालस्य मातुलः ।
नाम्ना गणधराचार्यो जैनतत्वविदांवरः ॥ १२४ ॥
ज्ञात्वा श्रीसुकुमालस्य स्वल्पायुर्मुनिसत्तम ।
तदीयोद्यानमागत्य सुधीर्योगं गृहीतवान् ॥ १२५ ॥
यशोभद्रा च तन्माता प्रोचे. स्वाध्यायघोषणम् ।
यावद्योगपरिप्राप्ति-र्वारयामास तं मुनिम् ॥ १२६ ॥
ततस्तेन मुनीन्द्रेण योगनिष्ठापनक्रियाम् ।
कृत्वा पश्चादूर्द्ध्वलोक-प्रज्ञप्तिपठनोच्चकैः ॥ १२७ ॥
अच्युतस्वर्गदेवाना-मायुरुत्सेधसत्सुखे ।
व्यावर्णनं तरां कर्त्तुं प्रारब्धं पुण्ययोगतः ॥ १२८ ॥

तच्छ्रुत्वा सुकुमालोसौ स्वामी जातिस्मरोभवत् ।
गत्वा तस्य मुनेः पार्श्वे नत्वा तं भक्तितः स्थितः ॥ १२९ ॥
मुनिः प्राह सुधीर्वत्स तवायुश्च दिनत्रयम् ।
यज्जानासि हितं स्वस्य कुरु त्वं तद्धि वेगतः ॥ १३० ॥
तत्समाकर्ण्य धीरोसौ सुकुमालो गुणोज्वलः ।
शीघ्रं दीक्षां समादाय जैनीं स्वसौख्यदायिनीम् ॥ १३१ ॥
त्रिधा वैराग्यतः कृत्वा संन्यासं शल्यवर्जितम् ।
प्रायोपयानसन्नाम्नि संस्थितो मरणे सुधीः ॥ १३२ ॥
अग्निभूतेस्तु या भार्या सोमदत्ता निदानतः ।
सा संसारे परिभ्रम्य तत्रैवोज्जयिनीपुरे ॥ १३३ ॥
शृगाली पापतो भूत्वा चतुःपुत्रसमन्विता ।
पूर्ववैरेण पादाभ्यां समारभ्यैव तं मुनिम् ॥ १३४ ॥
भक्षयामास हा कष्टं निदानं पापराशिदम् ।
तस्माद्भव्यैर्न कर्त्तव्यं तत्त्रिधा दुःखकारणम् ॥ १३५ ॥
सुकुमालमुनिः सोपि मेरुवद्धीरमानसः ।
शत्रुमित्रसमश्चित्ते सुधीः सारसमाधिना ॥ १३६ ॥
तृतीये दिवसे तं च सहमानः परीषहम् ।
मृत्वा तदाच्युतस्वर्गे जातो देवो महर्द्धिकः ॥ १३७ ॥
क्व ते भोगा मनोभीष्टा-स्तपः क्वेदं सुदारुणम् ।
अहो भव्या सतां वृत्तं परमाश्चर्यकारणम् ॥ १३८ ॥
तत्राच्युते सुधीः स्वर्गे देवोसौ सारसौख्यभाक् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्ज-संजातो भक्तिनिर्भरः ॥ १३९ ॥

उज्जयिन्यां तदा देवैर्महाकोलाहलः कृतः ।
महाकालः कुतीर्थोभूज्जन्तूनां तत्र नाशकृत् ॥ १४० ॥
गन्धतोयलसद्वृष्टिः कृता देवैः सुभक्तितः ।
तत्र गन्धवती नाम्नी नदी जातेति भूतले ॥ १४१ ॥
स श्रीमान्वरभोगसंगनिरतो ज्ञात्वा मुनेर्वाक्यतः
स्वल्पं जीवितमात्मनो हि सकलं त्यक्त्वा कलत्रादिकम् ।
धृत्वा चारु तपो जिनेन्द्रकथितं सोढापशूपद्रवं ।
देवोभूत्सुकुमालनिर्मलमुनिर्भूयात्सतां शान्तये ॥ १४२ ॥
इति कथाकोशे श्रीसुकुमालमुनेराख्यानं समाप्तम् ॥

५८—सुकोशलमुनेः कथा ।

अर्हन्तं त्रिजगत्पूतं भारतीं भुवनोत्तमाम् ।
नत्वा गुरुं प्रवक्ष्येहं सुकोशलकथामिमाम् ॥ १ ॥
अयोध्यायां महाराजः प्रजापालो गुणोज्वलः ।
श्रेष्ठी सिद्धार्थनामाभूद्धनैर्धान्यैः समान्वितः ॥ २ ॥
द्वात्रिंशत्तस्य संजाता भार्याः सद्रूपमण्डिताः ।
सर्वास्ताः कर्मयोगेन कामिन्यः पुत्रवर्जिताः ॥ ३ ॥
अहो पुत्रं विना नारी राजते नैव भूतले ।
रूपलावण्ययुक्तापि वल्लीव निष्फला भुवि ॥ ४ ॥
तासां मध्ये तु या भार्या श्रेष्ठिनः प्राणवल्लभा ।
पुत्रार्थं यक्षदेवान्सा पूजयन्ती जयावती ॥ ५ ॥
प्रोक्ता ज्ञानिमुनीन्द्रेण भो सुते दुःखदायिनीम् ।
त्यक्त्वा भक्तिं कुदेवानां जैनधर्मे स्थिरा भव ॥ ६ ॥

येन ते सप्तवर्षाणां मध्ये स्याद्गर्भसंभवः ।
तच्छ्रुत्वा सा च संतुष्टा जिनधर्मे दृढाभवत् ॥ ७ ॥
यद्वाञ्छा मानसे नित्यं वर्तते सुतरां भुवि ।
तद्वस्तु प्राप्तिसान्निध्ये भवेद्दर्पो न कस्य वै ॥ ८ ॥
ततः कैश्चिद्दिनैस्तस्या जयावत्याः सुधर्मतः ।
सुकोशलो लसत्कान्तिः पुत्रो जातो मनोहरः ॥ ९ ॥
श्रेष्ठी सिद्धार्थनामासौ दृष्ट्वा तन्मुखपंकजम् ।
नयंधरमुनेः पार्श्वे सुधीर्दीक्षां गृहीतवान् ॥ १० ॥
मां बालपुत्रसंयुक्तां मुक्त्वा जातो मुनिस्त्विति ।
जयावती महाकोपं चक्रे सिद्धार्थसन्मुनौ ॥ ११ ॥
अहो चास्मै मुनीन्द्रस्य युक्तं दातुं तपः किमु ।
कोपान्मुनिप्रवेशस्तु निषिद्धः स्वगृहे तया ॥ १२ ॥
हा कष्टं मोहतो जन्तुः सद्धर्मं त्यजति ध्रुवम् ।
जन्मान्धको यथा चिन्ता-मणिं हस्तस्थितं कुधीः ॥ १३ ॥
वृद्धिं प्राप्य ततः सोपि सुकोशलवणिक्पतिः ।
द्वात्रिंशत्कुलजाः कन्याः परिणीय गुणोज्वलाः ॥ १४ ॥
नाना भोगान्प्रभुञ्जानः संस्थितः पूर्वपुण्यतः ।
जन्तूनां पूर्वपुण्येन सम्पदो विविधा भवेत् ॥ १५ ॥
एकदा जननीभार्या-धात्रिकाभिः समान्वितः ।
स्वप्रासादोपरिस्थोसौ सुकोशलवणिग्वरः ॥ १६ ॥
पश्यन्पुरस्य सच्छोभां तत्रायातं मुनीश्वरम् ।
नाना देशान्विहृत्योच्चै-र्दृष्ट्वा सिद्धार्थमद्भुतम् ॥ १७ ॥

क्वोयं मातः सुधीरेवं पृष्टवान् जननीं मुदा ।
जयावती क्रुधा प्राह रंकोयं याति कोपि भो ॥ १८ ॥
तदा सुकोशलेनोक्तं सावधानेन धीमता ।
सर्वलक्षणयुक्तत्वान्नायं रंको भवत्यहो ॥ १९ ॥
सुनन्दा धात्रिकावोचत्तदा तन्मातरं प्रति ।
न युक्तं निन्दितं वाक्यं वक्तुं चास्य महामुनेः ॥ २० ॥
मुग्धे कुलप्रभोस्ते च ततो रुष्टा तु सा जगौ ।
तिष्ठ मौनेन नेत्राभ्यां वारयामास धात्रिकाम् ॥ २१ ॥
दुष्टस्त्रीमानसे नास्ति धर्मस्नेहः कदाचन ।
यथा ज्वलन्महावह्निमध्यभागो न शीतलः ॥ २२ ॥
मात्राहं वंचितः कष्टं चिन्तयन्निजचेतसि ।
तदा सुकोशलो धीमान्सूपकारेण भाषितः ॥ २३ ॥
जाता भोजनवेलेति भो स्वामिन्क्रियते कृपा ।
तथा मातृस्वभार्याभिः प्रेरितो भोजनाय सः ॥ २४ ॥
तेनोक्तं धीमता तत्र मया सत्यस्वरूपकम् ।
अस्योत्तमपुरुषस्य ज्ञात्वा भोक्तव्यमित्यलम् ॥ २५ ॥
ततः सुनन्दया धात्र्या प्रोक्तं पूर्वं प्रपञ्चकम् ।
सुकोशलः समाकर्ण्य महावैराग्ययोगतः ॥ २६ ॥
गत्वा तस्य मुनेः पार्श्वं नत्वा पादद्वयं मुदा ।
ज्ञात्वा धर्मस्य सद्भावं जिनेन्द्रैः परिकीर्त्तितम् ॥ २७ ॥
सुभद्रायाः स्वभार्याया गर्भस्थाय सुताय च ।
दत्वा श्रेष्ठिपदं शीघ्रं त्यक्त्वा मोहादिकं धनम् ॥ २८ ॥

नत्वा सिद्धार्थनामानं पुनस्तं मुनिसत्तमम् ।
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं मुनिर्जातो विचक्षणः ॥ २९ ॥
यः सुधीः पूर्वपुण्येन संयुक्तो धर्मवत्सलः ।
सावधानो हिते नित्यं स केन भुवि वंच्यते ॥ ३० ॥
आर्त्तध्यानेन सा मृत्वा श्रेष्ठिनी तु जयावती ।
देशे मगधसंज्ञे च गिरौ मौद्गिलनामनि ॥ ३१ ॥
व्याघ्री स्वपापतो जाता त्रिपुत्रा क्रूरमानसा ।
मुक्त्वा धर्मं जिनेन्द्रोक्तं जन्तुर्यात्येव दुर्गतिम् ॥ ३२ ॥
तदा तौ कर्मयोगेन मुनीन्द्रौ गुणशालिनौ ।
मौद्गिलपर्वते योगं गृहीत्वा भुवनोत्तमौ ॥ ३३ ॥
चतुर्मासोपवासान्ते पूर्णयोगे जगद्धितौ ।
चर्यार्थं निर्गतौ तौ च दृष्ट्वा व्याघ्री दुराशया ॥ ३४ ॥
संन्यासेन स्थितौ यावत्तया तावत्क्रमेण च ।
भक्षितौ मरणं प्राप्य तदा सारसमाधिना ॥ ३५ ॥
जातौ सर्वार्थसिद्धौ तौ सिद्धार्थाख्यसुकोशलौ ।
भाविमुक्तिश्रियः कान्तौ शान्तौ मे भवतां श्रिये ॥ ३६ ॥
सा व्याघ्री च समालोक्य खादन्ती तत्पलं तदा ।
सुकोशलकरे चारु लाञ्छनं भुवनोत्तमम् ॥ ३७ ॥
भूत्वा जातिस्मरी शीघ्रं त्यक्त्वा तत्पापकर्मकम् ।
हा कष्टं दुष्टसंसारे त्यक्तश्रीजैनसद्वृषाः ॥ ३८ ॥
भ्रमन्ति प्राणिनो मूढा मादृश्यः पापपंडिताः ।
पुत्रादीन्भक्षयन्तीति कृत्वा संसारनिन्दनम् ॥ ३९ ॥

संन्यासं च समादाय मृत्वा शुद्धाशयेन सा ।
प्राप्ता सौधर्मसत्स्वर्गं जीवानां शक्तिरद्भुता ॥ ४० ॥
अहो श्रीजैनसद्धर्म-प्रभावोभुवनोत्तमः ।
क व्याघ्री पापकर्मासौ क स्वर्गे सारसंभवः ॥ ४१ ॥
ततः श्रीजैनसद्धर्मो स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ।
आराध्यो भक्तितो नित्यं भव्यैः स्वात्मप्रसिद्धये ॥ ४२ ॥
सिद्धश्रीमूलसंघाख्ये प्रोत्तुंगोदयभूधरे ।
भानुर्भट्टारकः स्वामी जीयान्मे मल्लिभूषणः ॥ ४३ ॥
प्रोद्यत्सम्यक्त्वरत्नो जिनकथितमहासप्तभंगीतरङ्गैः—
निर्द्धूतैकान्तमिथ्यामतमलनिकरः क्रोधनक्रादिदूरः ।
श्रीमज्जैनेन्द्रवाक्यामृतविशदरसः श्रीजिनेन्दुप्रवृद्धो
जीयान्मे सूरिवर्यो व्रतनिचयलसत्पुण्यपण्यः श्रुताब्धिः ॥४४॥

इति कथाकोशे भट्टारकश्रीमल्लिभूषणशिष्यब्रह्मनेमिदत्त-विरचिते श्रीसुकोशलश्रेष्ठिनः कथा समाप्ता ।

५९—गजकुमारमुनेः कथा ।

प्रसिद्धं स्वगुणैः सिद्धं पूजार्थं जिननायकम् ।
नत्वा गजकुमारस्य कथयामि कथानकम् ॥ १ ॥
श्रीमद्द्वारवतीपुर्यां प्रसिद्धायां जगत्त्रये ।
श्रीमन्नेमिजिनेन्द्रस्य पवित्रायां सुजन्मना ॥ २ ॥
वासुदेवोभवद्राजा त्रिखण्डेशो महाबलिः ।
तस्य गन्धर्वसेनायां राज्यां गजकुमारवाक् ॥ ३ ॥

पुत्रोभूद्भटकोटीनां मध्येसौ सुभटाग्रणीः ।
यत्प्रतापेन शत्रूणां दग्धा मानलता तता ॥ ४ ॥
पोदनादिपुरे राजा तथाभूदपराजितः ।
स च श्रीवासुदेवस्य नैव सिद्ध्यति दुष्टधीः ॥ ५ ॥
ततः श्रीवासुदेवेन घोपणा दापिता पुरे ।
योपराजितभूपालं समानयति विद्विपम् ॥ ६ ॥
तस्मै ददामि सत्प्रीत्या वाञ्छितं वरमुत्तमम् ।
श्रीमान् गजकुमारोसौ तत्समाकर्ण्य वेगतः ॥ ७ ॥
पितुः पादद्वयं नत्वा गत्वा तत्पोदनं पुरम् ।
युद्धेऽपराजितं जित्वा गृहीत्वा जीवितं द्रुतम् ॥ ८ ॥
समानीय त्रिखण्डोरु-स्वामिनस्तं समर्पयत् ।
दुःसाध्यं साध्यते केन सद्भटेन विना क्षितौ ॥ ९ ॥
वरं प्राप्य कुमारोसौ कामचारं सुलम्पटः ।
हठाद्द्वारवतीस्त्रीणां समूहं सेवते स्म च ॥ १० ॥
धिग्धिक्कामं दुराचारं महापापस्य कारणम् ।
यतो लज्जाभयं नैव कामिनां मुग्धचेतसाम् ॥ ११ ॥
श्रेष्ठिनः पांसुलस्यापि सुरत्याख्यास्ति कामिनी ।
प्रोल्लसद्रूपसंयुक्ता तस्यां सोपि रतोभवत् ॥ १२ ॥
अन्तः पांसुलकश्चापि प्रज्वलन्कोपवह्निना ।
गृहे संतिष्ठते कष्ट-मक्षमस्तान्निवारणे ॥ १३ ॥
एकदा केवलज्ञान-प्रकाशितजगत्त्रयः ।
श्रीमन्नेमिजिनः स्वामी सुरेन्द्राद्यैः प्रसेवितः ॥ १४ ॥

भव्यपुण्योदयेनोच्चै-र्द्वारवत्यां समागतः ।
तत्र श्रीबलभद्रेण वासुदेवान्वितेन च ॥ १५ ॥
अन्यैर्भूपादिभिः सर्वैः परमानन्दनिर्भरैः ।
तस्य श्रीजिननाथस्य पादपद्मद्वयं मुदा ॥ १६ ॥
समभ्यर्च्य बलाद्यैश्च स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
स्तुत्वा नत्वा महाभक्त्या भावितं चेतसि स्थिरम् ॥ १७ ॥
पुनस्ते धर्ममाकर्ण्य शर्मकोटिविधायकम् ।
मुनिश्रावकभेदाभ्यां श्रीमन्नेमिजिनोदितम् ॥ १८ ॥
सन्तुष्टा मानसे गाढं स्तुतिं चक्रुर्जिनेशिनाम् ।
श्रुत्वा धर्मं जिनेन्द्राणां कस्यानन्दो न जायते ॥ १९ ॥
तथा धर्मं समाकर्ण्य भक्त्या गजकुमारवाक् ।
त्रिधा वैराग्यमासाद्य कृत्वा निन्दां स्वकर्मणः ॥ २० ॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं भवभ्रमणनाशिनीम् ।
विहृत्योर्वीमहीपीठं प्रान्तेसौ सत्तपोनिधिः ॥ २१ ॥
ऊर्जयन्तमहोद्याने प्रायोपमरणे दृढः ।
संन्यासेन स्थितः स्वामी निश्चलो मेरुवत्तराम् ॥ २२ ॥
तं तत्रस्थं कुधीर्ज्ञात्वा पांसुलो वैरतो द्रुतम् ।
गत्वा तत्र महाकोपा-त्तं संप्राप्य यतीश्वरम् ॥ २३ ॥
सर्वतो लोहकीलैश्च कीलित्वा च प्रसन्धिपुः ।
नष्टः पापी समादाय भूरि पापस्य संचयम् ॥ २४ ॥
तदा गजकुमारोसौ मुनीन्द्रो जिनतत्त्ववित् ।
तां वेदनां सुधीश्चित्ते गणयंश्च तृणोपमाम् ॥ २५ ॥

कृत्वा समाधिना कालं स्वर्गलोकं ययौ द्रुतम् ।
तत्र सौख्यं चिरंकालं भुंजानः सुखतः स्थितः ॥ २६ ॥
अहो सतां महाचित्रं चारित्रं भुवनोत्तमम् ।
क्व वेदनाभवद्भूरिः क्व समाधिः प्रशर्मदः ॥ २७ ॥
सकलभुवननाथश्रीजिनेन्द्रप्रणीतं
विमलसुखनिवासं जैनधर्मं निशाम्य ।
विशदतरमतीशः संयमी योत्र जातो
भवतु गजकुमारः शान्तयेसौ मुनीन्द्रः ॥ २८ ॥

इति कथाकोशे गजकुमारमुनेः कथा समाप्ता ।

६०–पणिकमुनेः कथा ।

श्रीजिनं शर्मदं नत्वा शान्तये सद्भिरर्चितम् ।
वक्ष्ये श्रीपणिकाख्यानं संक्षेपेण जगद्धितम् ॥ १ ॥
पुरे पणीश्वरे रम्ये प्रजापालो महीपतिः ।
श्रेष्ठी सागरदत्ताख्यः पणिका श्रेष्ठिनी प्रिया ॥ २ ॥
तयोः पुत्रः पवित्रात्मा संजातः पणिकाभिधः ।
सुधीः सन्मार्गसंसक्तो विरक्तः पापकर्मणि ॥ ३ ॥
एकदा पणिको धीमान्वर्द्धमानजिनेशिनः ।
समवादिसृतिं प्राप्य प्रोल्लसद्रत्नतोरणाम् ॥ ४ ॥
मानस्तंभादिसद्भूत्यो जगच्चेतोनुरंजनम् ।
तत्र गंधकुटीमध्ये त्रिपीठेषु निरंजनम् ॥ ५ ॥

कनत्काञ्चनसद्रत्न-सिंहासनमधिष्ठितम् ।
पूर्णेन्दुकांतिविद्वेषि-छत्रत्रयविराजितम् ॥ ६ ॥
तारहारोज्वलैर्दिव्यै-र्वीज्यमानं सुचामरम् ।
सूर्यकोटिप्रभाभार-हारिसत्कान्तिमण्डितम् ॥ ७ ॥
सर्वसन्देहविध्वंसि-दिव्यध्वनिसमन्वितम् ।
दुंदुभीनां महाध्वानै-र्भुवनत्रयशोभितम् ॥ ८ ॥
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्क-नरेन्द्राद्यैः समर्चितम् ।
निर्ग्रन्थादिगुणोपेतं भव्यसन्दोहसंस्तुतम् ॥ ९ ॥
चतुस्त्रिंशन्महाश्चर्यै-र्भूषितं भुवनोत्तमम् ।
सचतुष्टयसंयुक्तं व्यक्तलोकत्रयक्रमम् ॥ १० ॥
दृष्ट्वा श्रीवर्द्धमानाख्यं जिनेन्द्रं मुक्तिसत्प्रियम् ।
त्रिः परीत्य लसद्भक्त्या समभ्यर्च्य कृतश्रियम् ॥ ११ ॥
नत्वा स्तुत्वा सतां स्तुत्यं धर्ममाकर्ण्य शर्मदम् ।
श्रुत्वास्तोकतरं स्वायु-र्दीक्षामादाय निर्मदम् ॥ १२ ॥
एकाकी विहरन्नुच्चै-स्ततोऽसौ पणिको मुनि ।
गंगां नदीं समागत्य नौमध्ये चैकदा स्थितः ॥ १३ ॥
नौर्निमज्जति यावत्सा तावत्सोपि मुनीश्वर ।
केवलज्ञानमुत्पाद्य सद्ध्यानान्मोक्षमाप्तवान् ॥ १४ ॥
स श्रीवणिक्सुतो धीमान्मेरुवन्निश्चलाशयः ।
कर्मसन्दोहशत्रुघ्नो दद्यान्मे शाश्वतीं श्रियम् ॥ १५ ॥
श्रीमत्सागरदत्तनामपणिकासच्छ्रेष्ठिनीनन्दनः
पूतात्मा पणिको विलोक्य शिवदं श्रीवर्द्धमानं जिनम् ।

ज्ञात्वा स्वल्पतरं निजायुमखिलं त्यक्त्वा च मोहादिकं
भूत्वा यस्तु मुनिः स मुक्तिमगमन्नित्यं सुखं मे क्रियात् १६

इति कथाकोशे श्रीपणिकमुनेः कथा समाप्ता ।

६१–श्रीभद्रबाहुमुनेः कथा ।

नत्वा जिनं जगद्भद्रं सुरासुरनमस्कृतम् ।
भद्रबाहोर्मुनीन्द्रस्य चरित्रं कथ्यते हितम् ॥ १ ॥
पुण्ड्रवर्द्धनसद्देशे कोटीसन्नगरे वरे ।
राजा पद्मरथो धीमान्सोमशर्मा पुरोहितः ॥ २ ॥
श्रीदेवी भामिनी तस्य तयोः पुत्रो बभूव च
भद्रबाहुर्गुणैर्भद्रो भद्रमूर्त्तिर्भवोत्तमः ॥ ३ ॥
एकदा प्रौढबालोसौ मौंजीबन्धे कृते सति ।
क्रीडां कुर्वन्पुरीबाह्ये भूरिबालजनैः सह ॥ ४ ॥
तत्र क्रीडाविधौ धीमान्गोलकांश्च त्रयोदश ।
क्रमेणोपरि संचक्रे बुद्ध्या हस्तकलान्वितः ॥ ५ ॥
सर्वभव्यार्चिते श्रीम-द्वर्धमानजिनेशिनि ।
मुक्तिं प्राप्ते च पञ्चानां चतुर्दशसुपूर्विणाम् ॥ ६ ॥
मध्ये यस्तु चतुर्थस्तु चतुर्दशसुपूर्ववित् ।
गोवर्द्धनो मुनिः श्रीम-दूर्जयन्तगिरौ शुभे ॥ ७ ॥
वन्दनार्थं प्रगच्छन्सन्स कोटीपुरमागतः ।
दृष्ट्वा तद्गोलकक्रीडा-विज्ञानं भुवनोत्तमम् ॥ ८ ॥

चतुर्दशमहापूर्व-धरोयं पञ्चमो ध्रुवम् ।
भद्रबाहुर्विशुद्धात्मा भाविश्रीश्रुतकेवली ॥ ९ ॥
इति ज्ञात्वा ततः प्रोक्त्वा सोमशर्मद्विजस्य च ।
नीत्वा तं बालकं स्वान्तं सर्वशास्त्राणि सद्गुरुः ॥ १० ॥
पाठयित्वा जगत्सार-शर्मकारीणि देहिनाम् ।
प्रेषयामास तद्गेहं स्वामी सर्वगुणाकरः ॥ ११ ॥
भद्रबाहुस्ततो बाल-स्त्यक्त्वा गेहादिकं पुनः ।
गोवर्द्धनमुनेः पार्श्वे समागत्य द्रुतं सुधीः ॥ १२ ॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं स्वर्गमोक्षसुखप्रदाम् ।
मुनिर्भूत्वाभवत्सोपि चतुर्दशसुपूर्ववित् ॥ १३ ॥
ज्ञाततत्वव्रजः प्राणी गृहावासं कुतो भजेत् ।
आस्वादितामृतस्वादुः कथं पिण्याकमाचरेत् ॥ १४ ॥
गोवर्द्धनगुरौ तस्मिन्स्वर्गलोकं गते सति ।
संघाधारस्ततो भूत्वा भद्रबाहुः श्रुतेक्षणः ॥ १५ ॥
संघेन महता सार्द्धं भव्यशस्यापि तर्पयन् ।
स्ववाक्यामृतधाराभि-रुज्जयिन्यां समागतः॥ १६ ॥
चर्यायां स प्रविष्ठः सन्नुत्संगे संस्थितेन च ।
अव्यक्तबालकेनोक्तो गच्छ गच्छेति भो मुने ॥ १७ ॥
तत्समाकर्ण्य तत्वज्ञो भद्रबाहुर्मुनीश्वरः ।
सत्यं द्वादशवर्षेषु दुर्भिक्षं संभविष्यति ॥ १८ ॥
ज्ञात्वेति सोन्तरायं च कृत्वा स्वस्थानमागतः ।
सन्ध्याकाले तदा सर्व-मुनीनामग्रतोऽवदत् ॥ १९ ॥

अत्र द्वादशवर्षाणि भावि दुर्भिक्षकं ध्रुवम् ।
मया स्वल्पायुपत्रैव स्थीयते भो तपस्विनः ॥ २० ॥
यूयं दक्षिणदेशं तु संगच्छन्तु कृतोद्यमाः ।
इत्युक्त्वा दशपूर्वज्ञं विशाखाचार्यसन्मुनिम् ॥ २१ ॥
स्वशिष्यं संघसंयुक्तं सुधीः संज्ञानलोचनः ।
प्रेपयामास चारित्र-रक्षार्थं दक्षिणापथम् ॥ २२ ॥
तदा ते मुनयः सन्तो गत्वा तत्र सुखं स्थिताः ।
गुरोर्वाक्यानुगाः शिष्याः संभवन्ति सुखाश्रिताः ॥ २३ ॥
ततश्चोज्जयिनी नाथश्चन्द्रगुप्तो महीपतिः ।
वियोगाद्यतिनां भद्र-बाहुं नत्वाभवन्मुनिः ॥ २४ ॥
तदा श्रीभद्रबाहुश्च मुनीन्द्रः सुतपोनिधिः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-सारतत्वविदांवरः ॥ २५ ॥
उज्जयिन्यां सुधीर्भद्रः वटवृक्षसमीपके ।
क्षुत्पिपासादिकं जित्वा संन्यासेन समन्वितः ॥ २६ ॥
स्वामी समाधिना मृत्वा संप्राप्तः स्वर्गमुत्तमम् ।
सोस्माकं सन्मुनिर्दद्या-त्सन्मार्गे शर्मकोटिदम् ॥ २७ ॥

श्रीसोमशर्मद्विजवंशसन्मणिः
श्रीभद्रबाहुर्मुनिसत्तमाग्रणीः ।
जिनेन्द्रधर्माब्धिसमग्रचद्रमाः
कुर्यात्सतां सारसुखाश्रिताः शुभाः ॥ २८ ॥

इति कथाकोशे पञ्चमश्रुतकेवलिश्रीभद्रबाहुमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

६२-द्वात्रिंशच्छ्रेष्ठिपुत्राणां कथा ।

श्रीसर्वज्ञं प्रणम्योच्चै-र्लोकालोकप्रकाशकम् ।
द्वात्रिंशच्छ्रेष्ठिपुत्राणां चरित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
कौशाम्बीनगरे रम्ये द्वात्रिंशच्छ्रेष्ठिनोभवन् ।
इन्द्रदत्तादयः ख्याता भूरिद्रव्यसमन्विताः ॥ २ ॥
तेषां समुद्रदत्ताद्याः पुत्रा द्वात्रिंशदुत्तमाः ।
ये जाताः सद्गुणोपेताः सारसम्यक्त्वमण्डिताः ॥ ३ ॥
सर्वे ते जिनपादाब्ज-सेवनैकमधुव्रताः ।
परस्परं सुमित्रत्वं प्राप्ताः सद्धर्मशालिनः ॥ ४ ॥
अहो पुण्यस्य सामग्रीं सर्वे ते श्रेष्ठिनां सुताः ।
लक्ष्मीमित्रत्वसद्धर्म-सादृश्यं यत्समागताः ॥ ५ ॥
एकदा त्रिजगत्पूज्यं केवलज्ञानलोचनम् ।
श्रीजिनेन्द्रं गुणैः सान्द्रं समभ्यर्च्य प्रभक्तितः ॥ ६ ॥
नत्वा स्तुत्वा सुरैः स्तुत्यं धर्ममाकर्ण्य निर्मलम् ।
सर्वे समुद्रदत्ताद्या महाभव्यमतल्लिका ॥ ७ ॥
ज्ञात्वा स्वल्पतरं स्वायुः स्वयम्भुवदनाम्बुजात् ।
ततो दीक्षां समादाय भवभ्रमणनाशिनीम् ॥ ८ ॥
ते सर्वे मुनयो धीरा जैनतत्वविदांवराः
सत्तपश्चरणोपेता विस्तीर्णे यमुनातटे ॥ ९ ॥
प्रायोपयानसंज्ञेन मरणेन स्थिरं स्थिताः ।
महावृष्ट्यां प्रजातायां प्रवाहेन नदीह्रदे ॥ १० ॥

पातितास्ते तदा सर्वे कालं कृत्वा समाधिना ।
स्वर्गं प्राप्ताः सतां वृत्तं मेरोः शृंगाच्च निश्चलम् ॥ ११ ॥
स्वर्गे तत्र लसत्सौख्यं भुंजानस्ते स्वपुण्यतः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्ज-संजाता भक्तिनिर्भराः ॥ १२ ॥
स जयतु जिनदेवो यस्य चारित्रमुच्चैः
स्थिरतरमतुलं वै दुष्टनानोपसर्गैः ।
सकलभुवनसारं दत्तसंसारपारं
परमसुखनिवासं ध्वस्तमोहादिपाशम् ॥ १३ ॥

इति कथाकोशे द्वात्रिंशच्छ्रेष्ठिपुत्राणामाख्यानं समाप्तम् ।

